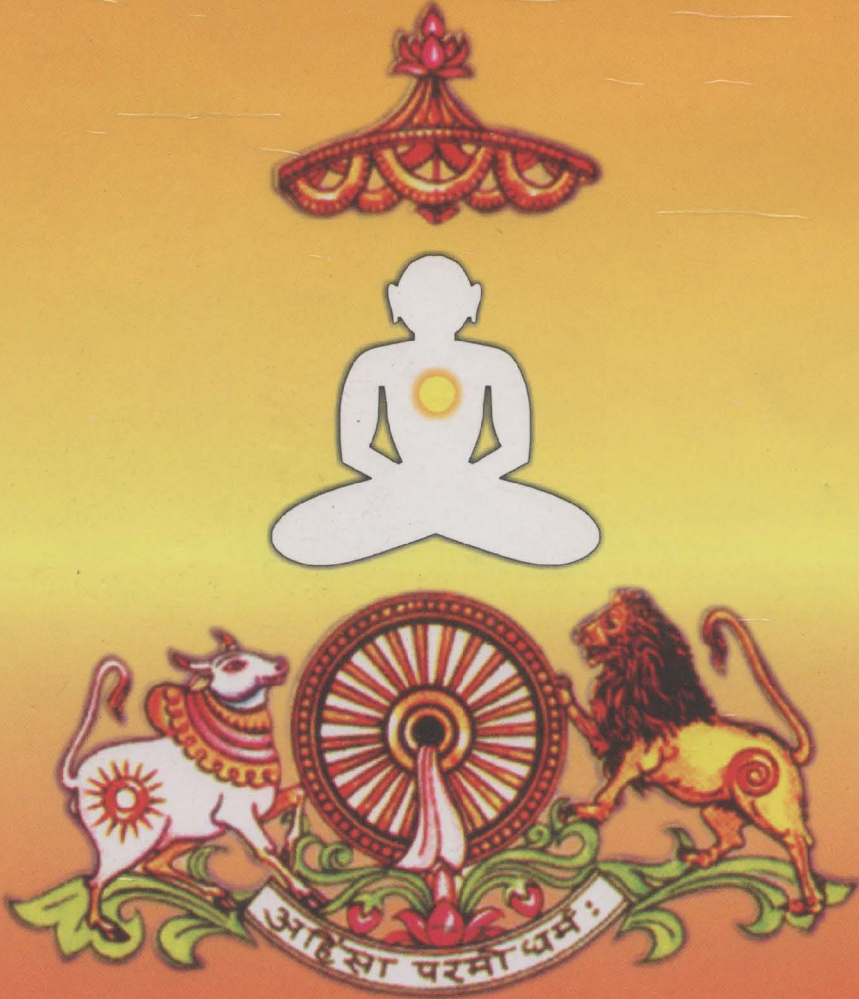


प्राचीनाचार्य विरचित
आराधनापताका में समाधिमरण की अवधारणा
(समालोचनात्मक अध्ययन)



लेखिका
साध्वी डॉ. प्रतिभाजी

शोध निर्देशक एवं सम्पादक
डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक : प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.) एवं गुरु पुष्कर साधना केन्द्र, उदयपुर (राज.)

ग्रन्थ प्रकाशन के विशिष्ट सहयोगी

1. श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन 35,000/-
श्रावक संघ बोर्डसर (महाराष्ट्र)
2. सागरमल, सुशीलकुमार, पुखराज, 11,000/-
गोतम, संजय लुँकड़
मु. गुवाहाटी, बंबई (पूज्य पिताजी
श्री दीपचंदजी, मातेश्वरी मोहिनी
देवी, भ्राता श्री माँगीलालजी लुँकड़
की पुण्य स्मृति में।)
3. जतन राज, नेमराज, पवन कुमार, 11,001/-
सिद्धराज, एवन्त कुमार मेहता
मेड़ता सिटी (राजस्थान)
4. रिद्धकरण, रावतमल, मूलचंद, 11,111/-
राजेश मुरट मु. गुवाहाटी, इरोड़
(पूज्य मातेश्वरी गनेशीदेवी एवं
पांची देवी की पुण्य स्मृति में)
5. शिखरचंद, श्रीचंद, कानचंद, 11,001/-
अशोक, राजेश, प्रकाश, दिनेश,
सुनील बेताला (मद्रास, जयपुर)
(पू. दादासा भँवरलाल जी,
माँ गीलाल जी, पिता श्री
सोहनलाल जी बेताला की पुण्य
स्मृति में)
6. हंसराज, मनोज कुमार महावीरचंद 11,001/-
मुरट मु. इरोड़ (कूचेरा)
(पूज्य पिता श्री स्व. घेवरचंद जी,
मातेश्वरी स्व. माही देवी की पुण्य
स्मृति में)
7. श्री मिथिलेश जी—ग्रन्थ की तैयारी
में आपका आर्थिक सहयोग रहा है।

“प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका में
समाधिमरण की अवधारणा का
समालोचनात्मक अध्ययन”

लेखिका

साध्वी डॉ. प्रतिभाजी

शोध-निर्देशक एवं सम्पादक

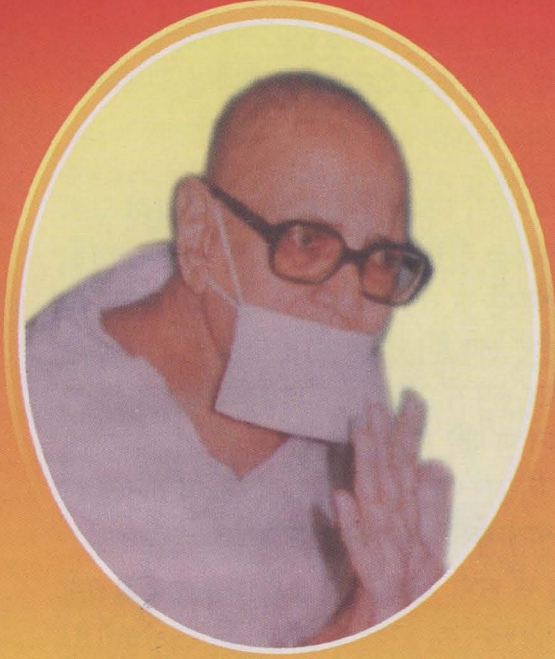
डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक

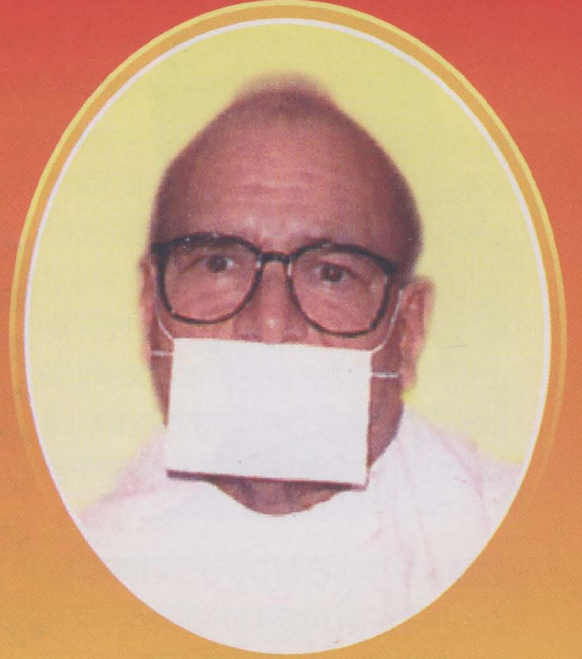
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

गुरु पुष्कर साधना केन्द्र, उदयपुर (राज.)

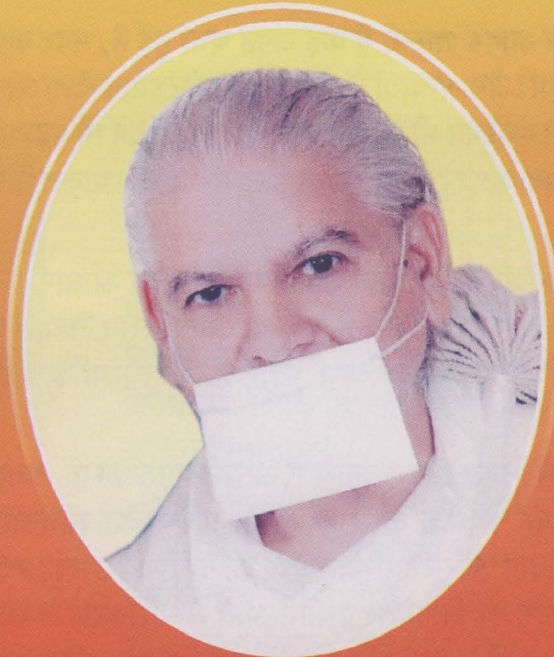
ग्रन्थ नाम	-	“प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका प्रकीर्णक में समाधिमरण की अवधारणा का समालोचनात्मक अध्ययन”
लेखक	-	साध्वी डॉ. प्रतिभाजी
शोध निर्देशक एवं सम्पादक	-	डॉ. सागरमल जैन
प्रकाशक	-	प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड़, शाजापुर (म.प्र.) गुरु पुष्कर साधना केन्द्र, उदयपुर (राज.)
ISBN No.	-	13/978-81-910801-0-1
प्राप्तिस्थल	-	(1) प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड़, शाजापुर (म.प्र.), 465001 (2) गुरु पुष्कर साधना केन्द्र, सेक्टर-3, हिरणी मगरी, उदयपुर (राज.)
प्रकाशन वर्ष	-	दिसम्बर 2010, प्रथम संस्करण
मुद्रक	-	आकृति आफसेट, 5, नईपैठ, उज्जैन (म.प्र.) फोन : 0734-2561720, 2561314 मोबा. 96300-77780, 98930-77783 email : akratioffset@gmail.com
मूल्य	-	300/- (तीन सौ रूपये)



उपाध्याय पूज्य गुरुदेव
श्री पुष्करमुनिजी म.सा.



आचार्य सम्राट पूज्य
श्री देवेन्द्रमुनिजी म.सा.



ध्यानयोगी युगपुरुष पूज्य आचार्यसम्राट
डॉ. श्री शिवमुनिजी म.सा.



शुभाशीर्वादि

जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान दर्शन एवं चरित्र के साथ तप का महत्व भी विशेष रूप से स्वीकारा किया गया है। कई दृष्टियों से तप की साधना मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट रूप है। उसमें भी समाधिमरण को परम उज्ज्वल रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। तप द्वारा समाधिमरण की प्राप्ति से दिव्यात्मा का परमात्म स्वरूप निखार पाता है। सफल एवं सार्थक जीवन की यही धन्यता उसे परम पद पर प्रतिष्ठित करती है।

राष्ट्रसंत श्री गणेश मुनि जी शास्त्री

मृत्यु से सभी भयभीत होते हैं। मरना कोई नहीं चाहता, पर स्वर्ग की आकांक्षा हर एक की बनी रहती है।

ऐसे बिरले ही होते हैं जो तप की साधना करते हुए समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण करते हैं। ऐसी मृत्युधारी मनुष्य सद्गति को प्राप्त करता है और समाज में आज भी उसकी अच्छी प्रतिष्ठा एवं महत्ता बनी हुई है।

समाधिमरण पर आगम शास्त्रों में कई जगह चर्चा हुई है, मगर कहीं भी उस पर ठीक से सांगोपांग नहीं लिखा गया। जैन आचार्यों ने अवश्य इस ओर ध्यान दिया और न केवल उसकी चर्चा की बल्कि स्वतंत्र रूप से ग्रंथों का भी प्रणयन किया और चर्चा को भी बढ़ावा दिया, मगर सर्वाधिक महत्त्व का लेखन आराधनापताका में दृष्टिगोचर होता है। यह ग्रंथ प्राकृत भाषा की 932 गाथाओं में निबद्ध है।

साध्वी प्रतिभाश्रीजी ने इस ग्रन्थ को अपने शोध का आधार बनाकर जिस गहराई से समाधिमरण की अवधारणा का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है वह न केवल प्रसंशनीय है अपितु उनकी शोधदृष्टि के गहन विश्लेषण, प्रज्ञा, मनिषा तथा पांडित्य को भी परिलक्षित करता है।

सात अध्यायों में निबद्ध इस शोधग्रंथ में आराधनापताका के अनाम रचनाकाल, अनाम रचनाकार पर सार्थक ढंग से चर्चा करते हुए उसमें प्रतिपादित साधनाक्रम, विषयवस्तु तथा साधना-विधि की सांगोपांग एवं सुव्यवस्थित चर्चा की गई है एवं उसका रचनाकाल छठी शताब्दी निर्धारित किया है। आगम एवं आगमेतर ग्रंथों में आये समाधिकरण के उल्लेखों के साथ-साथ आराधनापताका की गाथाओं के भाव-रूप की उन ग्रंथों में छाया-परिदर्शन का तुलनात्मक प्रभाव का भी साध्वी श्री प्रतिभा जी ने वैदुष्यपूर्ण मंथन किया है।

प्रबंध के चतुर्थ अध्याय में सामाधिमरण की संपूर्ण प्रक्रिया की विशेष चर्चा के साथ ही यह स्पष्ट किया है कि कोई साधक स्वर्गण अथवा स्वर्गच्छ में समाधिमरण करता है तो उसमें शिष्य

अथवा सहवर्गी साधुओं के प्रति रागी भाव होने से कर्मों की विशुद्धि नहीं हो पाती है, न उसकी साधना ही निर्विघ्न पूरी होती है, अतः यह आवश्यक है कि वह साधक स्वगच्छ के परित्याग हेतु परगच्छ में योग्य आचार्य की खोज करे। इस दृष्टि से यह अध्याय अति महत्व का है।

साध्वी श्री ने वैदिक तथा बौद्ध परम्परा में समाधिमरण की साधना का उल्लेख करते हुए जैन परम्परा की मान्यता पर विस्तार से लेखन किया है और जैन परम्परा की स्थापना को उचित माना है जिसमें स्वेच्छा से मृत्यु को आमंत्रित करना उचित नहीं मानते हुए, सहज एवं समभाव से मृत्यु का आलिंगन करना श्रेष्ठ कहा गया है। किसी भी दृष्टि से जैन परम्परा व्यक्ति को देहपात की अनुमति नहीं देती। ग्रंथ का सारतत्त्व यही है कि समाधिमरण की साधना मानव को भोग की आकांक्षा तथा देह की आसक्ति से मुक्ति दिलाती है। समाधिमरण आत्महत्या नहीं है। आत्महत्या करने वाला कई विषम परिस्थितियों में भटकता रहता है। उसे कोई सुगति नहीं मिलती अतः ऐसा करने वाला पापकर्म का भागी बनता है, जबकि समाधिमरण करने वाला मृत्यु से निर्भय रहकर अविचलित बना रह कर सुगति धारण करता है।

कहना नहीं होगा कि प्रस्तुत शोधग्रंथ में साध्वी प्रतिभाश्रीजी ने जिस गरिमापूर्ण श्रमकौशल तथा प्रतिभा से समाधिमरण की अवधारणा का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है वह सर्व प्रकारेण अभिनन्दनीय एवं प्रशंसनीय हैं। इसके लिए मेरा सतसहस्र साधुवाद एवं आशीर्वाद तथा उनके भावी जीवन के मंगलमय उत्कर्ष - यश की शुभकामनाएँ।

—प्रवर्तक गणेश मुनि शास्त्री



भाई म. सा. मुनि शालिभद्र जी

शुभाशीर्वाद

बहन महाराज साध्वी श्री प्रतिभाजी ने अत्यंत परिश्रम करके प्राचीन आचार्य विरचित आराधनापताका में समाधिमरण की अवधारणा विषय पर शोध-ग्रंथ तैयार किया है यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई।

जीवन की सम्पूर्ण साधना का रहस्य तो मृत्यु के समय की साधना से ही जाना जा सकता है क्योंकि यह साधना साधक को अपने साध्य से जोड़ती है। मैं बहन महाराज जी के इस प्रयत्न की सराहना करता हूँ और यह मानता हूँ कि वे जीवन पर्यन्त इस

प्रकार के सद्ग्रन्थों का सृजन करती रहेगी।

इसी शुभभावना के साथ...।

—मुनि शालिभद्र



आत्मीय आशीष

जैन-साहित्य यथार्थ में जहाँ अगाध अपार महासागर के सदृश्य गहन व गम्भीर है, वहीं अनन्त आकाश के समान असीम है। यह साहित्य मूलतः संस्कृत और प्राकृत भाषा में निबद्ध है। जैन वाङ्मय का प्रचुर प्राचीन साहित्य है।

जैन-दर्शन में समाधिमरण का उल्लेख मिलता है। समाधिमरण जीवन की अन्तिम साधना है, जो साधक समाधिमरण या संलेखना में दृढ़ रहता है उसका सन्तत्व

महान कहलाता है।

श्रमण संघ की महासाध्वी एवं गुरु पुष्कर तथा देवेन्द्र की बगिया को महकानें वाली और गुरुवर्या श्री कुसुमवतीजी म. सा. की प्रधान सुशिष्या उपप्रवर्तिनी साध्वी श्री चारित्रप्रभा जी म. सा. की सुशिष्या शासन ज्योति प्रखर वक्त्री डॉ. प्रतिभा जी म. सा. ने "समाधिमरण" पर शोध-प्रबन्ध लिखा है। उन्होंने ऐसे गहन विषय को अपनी गहन प्रज्ञा से महान ग्रन्थ का रूप देकर श्रमण संघ का गौरव बढ़ाया है।

मुझे अतिशय प्रसन्नता है कि मेरी प्रज्ञामूर्ति योग्य शिष्या साध्वी डॉ. प्रतिभा ने "प्राचीन आचार्य विरचित आराधनापताका में समाधिमरण की अवधारणा में" शोध शैली में आलेखन प्रस्तुत किया। साध्वी श्री का यह शोध प्रधान महानिबंध पी.एच.डी. जैसी उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ और वे डॉ. की विशिष्ट एवं वरिष्ठ उपाधि से विभूषित हुईं। यह उपाधि वस्तुतः उपाधि रूप नहीं, अपितु समाधि स्वरूप है क्योंकि रत्नत्रय में ज्ञान साधना को समाधि के रूप में स्वीकार किया गया है साध्वी श्री ने यह शोध प्रधान लेखन कर प्रकारान्तर से ज्ञान समाधि का अनुभव किया है और उसका अध्ययन एवं अध्यवसाय सर्वथा सफल हुआ।

आज के दिग्भ्रमित जनजीवन को इस शोध-ग्रन्थ से नई दिशा मिलेगी और साधना-पथ पर बढ़ने की निश्चित ही सीख मिल सकेगी। ऐसा मेरा विश्वास है।

सार्थक लेखनी की दिशा में बढ़ रही विदुषी साध्वी प्रतिभा जी को मेरा आन्तरिक आशिर्वाद साथ ही महासाध्वी श्री प्रतिभा के सुदीर्घ स्वस्थ जीवन एवं समुज्ज्वल भविष्य की शुभ मंगलकामनाएँ....

प्रवास-भीम
30 अगस्त 2010

साध्वी चारित्र प्रभा
गुरु पुष्कर साधना केन्द्र
सैक्टर 3, हिरण नगरी
उदयपुर (राज.)

स्वकथ्य

जैन-दर्शन में मुक्ति-मार्ग के रूप में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र के रूप में 'रत्नत्रय' का विधान है। सम्यक्चारित्र में ही सम्यक्तप का भी समावेश हो जाता है। तप के सर्वोत्कृष्ट रूप में शीर्ष पर समाधिमरण का स्थान है, जिसमें साधक मृत्यु-भय से मुक्त होकर समाधि-भावपूर्वक उपस्थित मृत्यु का वरण करता है।

जैन साधना-पद्धति में तप व उसमें भी समाधिमरण के महत्त्व को देखते हुए स्वाभाविक रूप से जहाँ आगम-शास्त्रों में इस विषय पर अनेक स्थलों पर चर्चा हुई है, वहीं इस विषय पर जैनाचार्यों द्वारा अनेक स्वतंत्र ग्रंथों की रचना भी की गई है। इनमें प्रकीर्णक ग्रंथों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका प्रकीर्णक एक ऐसा ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है जिसमें समाधिमरण का सांगोपांग विवरण उपलब्ध है।

मेरे इस शोध-कार्य का मुख्य उद्देश्य इस अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रकीर्णक ग्रंथ में दी गई समाधिमरण की अवधारणा का समालोचनात्मक अध्ययन करना तथा इस विषय पर अन्य ग्रंथों में उपलब्ध सामग्री के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन करना रहा है।

प्रस्तुत कृति में इस विषय को बत्तीस अध्ययनों या द्वारों के द्वारा सांगोपांग रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। 932 गाथाओं में प्राकृत भाषा में रचित यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रकीर्णक ग्रंथ है। प्राचीनाचार्य विरचित 'आराधनापताका' नामक इस प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन तो दूर की बात है, अभी तक तो उसका भाषानुवाद भी नहीं हुआ है। यद्यपि इस ग्रंथ की उपलब्ध विभिन्न पांडुलिपियों के आधार पर इसका संपादन कार्य मुनि पुण्यविजयजी द्वारा किया गया है, किन्तु अनुवाद एवं समीक्षात्मक अध्ययन द्वारा इसकी विषय-वस्तु का लाभ जन-सामान्य ही नहीं प्राकृतभाषा से अपरिचित विद्वत्-वर्ग आज तक नहीं पहुँच पाया है।

प्रस्तुत शोध-कार्य के द्वारा इस ग्रंथ की विषय-वस्तु का समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन किया गया है, यही इस शोध-कार्य का महत्त्व है।

उपलब्ध बाईस प्रकीर्णक ग्रंथों में से बारह प्रकीर्णक ग्रन्थ ऐसे हैं जो समाधिमरण विषय को संक्षिप्त या विस्तृत रूप से प्रस्तुत करते हैं। इनमें से कुछ ग्रंथों का यथा-संस्तरकप्रकीर्णक, महाप्रत्याख्यानप्रकीर्णक, आतुरप्रत्याख्यानप्रकीर्णक आदि का गुजराती, हिन्दी व अंग्रेजी अनुवाद हो चुका है। इसके अतिरिक्त विभिन्न आगमों तथा व्याख्या-ग्रंथों में उपलब्ध समाधिमरण विषयक जानकारी भी उनकी गुजराती, हिन्दी व अंग्रेजी भाषाओं में निबद्ध भाषा-टीकाओं के माध्यम से जिज्ञासु पाठकों को प्राप्त हैं। दिगंबर-परम्परा के साहित्य में भी भगवती-आराधना, मूलाचार, गोम्मटसार, समाधिमरणोत्साहदीपक, सागार-धर्माभूत, वसुनंदा-श्रावकाचार एवं रत्नकण्डक श्रावकाचार आदि में समाधिमरण विषयक जानकारी विस्तार से उपलब्ध है।

इनके अतिरिक्त भी समाधिमरण विषय पर कई विद्वानों द्वारा समालोचनात्मक ग्रंथ, शोध-प्रबन्ध व लेख भी लिखे जा चुके हैं जिनमें से प्रो. सागरमल जैन का 'जैन आगमों में समाधिमरण की अवधारणा', प्रो. प्रेम सुमन जैन का 'प्राचीन जैन-ग्रंथों में समाधिमरण के दृष्टांत', डॉ. रमेशचन्द्र जैन का 'सल्लेखना : एक अध्ययन', डॉ. रज्जन कुमार का 'समाधिमरण', डॉ. पुरंदर चौगुले का 'सल्लेखना का दार्शनिक अध्ययन' तथा डॉ. (कर्नल) दलपतसिंह बया का 'प्राकृत व पाली आगम-साहित्य में समाधिमरण की अवधारणा का समालोचनात्मक अध्ययन' प्रमुख हैं। फिर भी ये सभी आलेख रूप में ही हैं। समाधिमरण सम्बन्धी डॉ. रज्जनकुमार का जैनधर्म में समाधिमरण तथा जस्टिस तुकोल का समाधिमरण इज़ नॉट सोसाइड ? ग्रन्थ हैं, किन्तु ये ग्रन्थ उसकी सामान्य विवेचना ही करते हैं, समाधिमरण से सम्बन्धित किसी ग्रन्थ का समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत नहीं करते हैं, हमारा उद्देश्य समाधिमरण सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत करने के साथ इस ग्रन्थ की विषयवस्तु की तुलना एवं समीक्षा करना भी रहा है। यही कारण है कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में हमने आतुर प्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, मरणसमाधि, वीरभद्रकृत आराधना-पताका तथा दिगम्बर-परम्परा के मूलाचार, भगवती-आराधना आदि से इसकी गाथागत तुलना करके यह बताया है कि यह ग्रन्थ अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों से किस प्रकार प्रभावित रहा है और इसने अपने परवर्ती ग्रन्थों को किस प्रकार प्रभावित किया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ के कर्ता तथा उसकी विषयवस्तु की विस्तृत चर्चा की गई है। द्वितीय अध्याय में जैन-परम्परा में उपलब्ध समाधिमरण सम्बन्धी साहित्य की चर्चा करते हुए प्रस्तुत प्राचीन आचार्यकृत आराधनापताका का समाधिमरण सम्बन्धी इन ग्रन्थों से गाथागत कितना साम्य है -यह बताने का प्रयास किया गया है। इसी अध्याय में दिगम्बर परम्परा के मूलाचार, भगवती-आराधना आदि से भी इसका गाथागत साम्य और वैषम्य बताया गया है। तृतीय अध्याय में प्रस्तुत ग्रन्थ के आधार पर समाधिमरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया की चर्चा की गई है और उसकी चर्चा अन्य ग्रन्थों में, विशेष रूप से संवेगरंगशाला आदि में कहाँ और किस रूप से मिलती है -इसका भी तुलनात्मक दृष्टि निर्देश किया गया है। यह अध्याय

पर्याप्त विस्तार के साथ लिखा गया है। इसके पश्चात् अध्याय चार में आराधनापताका में समाधिमरण की प्रक्रिया की अतिविस्तार से चर्चा की गई है। अध्याय पांच में जैन दर्शन की समाधिमरण सम्बन्धी अवधारणा की अन्य धर्मों में उससे मिलती-जुलती अवधारणाओं की तुलना की गई।

अध्याय छह में प्राचीनाचार्य विरचित इस आराधनापताका में सूचित कथानिर्देशों के आधार पर वह कथा किस रूप में है तथा अन्यत्र किन-किन ग्रन्थों में मिलती है—इसकी विस्तृत चर्चा है। इसके पश्चात् अग्रिम सातवें अध्याय में समाधिमरण की अवधारणा की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में क्या उपयोगिता है ? इस प्रश्न पर वर्तमान में प्रचलित इच्छामृत्यु या करुणापूर्वक मृत्युदान आदि की विस्तृत चर्चा की गई है। अन्त में अष्टम अध्याय उपसंहार में समाधिमरण के मूल्य और महत्त्व का अंकन किया गया है।

आभार-प्रदर्शन

इस समस्त शोध-कार्य में अथ से लेकर इति तक डॉ. कर्नल दलपतसिंह जी बया और प्रो. (डॉ.) सागरमलजी जैन का मार्गदर्शन मुझे प्राप्त होता रहा है। इस शोध प्रबन्ध के लेखन हेतु प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर में 8 माह और शाजापुर के जैन-स्थानक में लगभग 4 माह का आवास रहा। विद्यापीठ ट्रस्ट एवं स्थानीय स्थानकवासी जैन संघ ने सेवा का जो लाभ लिया, उसके लिए उनका आभार व्यक्त करती हूँ।

इस शोध-प्रबन्ध की इस पूर्णता के अवसर सर्वप्रथम मैं गुरुणी मैया श्री चरित्रप्रभाजी म.सा. को वंदन करती हूँ। उन्होंने मेरे अध्ययन हेतु जो प्रेरणा और सहयोग दिया उससे उद्भूत होना तो असम्भव है। साथ ही इस प्रसंग पर मेरी सहवर्ती साध्वी आस्थाजी एवं ऋषिताजी की सेवा भावना भी सदैव स्मरणीय रहेगी। उनकी सेवा और सहयोग न मिला होता तो यह शोध-प्रबन्ध अपनी पूर्णता पर नहीं पहुँच पाता।

इस शोध-प्रबन्ध के कम्प्यूटर पर मुद्रण का कार्य श्री अनिल वर्मा, श्री युगेश सोनी एवं श्री शिरीष सोनी (राजा 'जी' ग्राफिक्स, शाजापुर) ने सम्पन्न किया तथा प्रूफ संशोधन कार्य श्री चेतन जी सोनी ने पूर्ण किया। अतः उन सभी को भी धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ। अन्त में ज्ञात-अज्ञात रूप से इस कार्य में जो भी सहयोगी रहे हैं, उन सभी को और विशेष रूप से श्री चन्द्रप्रकाशजी झगडावत (गोटन), श्री बसन्तीलालजी बरडिया (इंदौर), समदडी श्री संघ, श्री राजेन्द्रजी मेहता (पाली) एवं श्री विजय जी शाजापुर को भी साधुवाद देती हूँ।

साध्वी प्रतिभा

प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका में समाधिमरण की अवधारणा का समालोचनात्मक अध्ययन

अनुक्रमणिका

<u>अध्याय 1</u>	1-39
● विषय प्रवेश	
<u>अध्याय 2</u>	40-58
● समाधिमरण सम्बन्धी आगम और आगमेत्तर ग्रन्थ	
<u>अध्याय 3</u>	59-101
● आराधनापताका का गाथावत श्वेताम्बर ग्रन्थों से तुलनात्मक विवेचन	
<u>अध्याय 4</u>	102-153
● आराधनापताका में समाधिमरण की अवधारणा एवं प्रक्रिया	
<u>अध्याय 5</u>	154-172
● समाधिमरण की अन्य धार्मिक परम्पराओं से तुलनात्मक अध्ययन	
<u>अध्याय 6</u>	173-203
● आराधनापताका में उल्लेखित आराधकों की कथाओं का तुलनात्मक विवरण	
<u>अध्याय 7</u>	204-213
● समाधिमरण की अवधारणा की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उपादेयता	
<u>अध्याय 8</u>	214-220
● उपसंहार	

अध्याय – 1 विषय-प्रवेश

जैन-आचार्यों ने विपुल साहित्य का सृजन किया है। जैन-साहित्य जैसे तो अनेक भाषाओं में विरचित है, किन्तु प्राचीन स्तर का अधिकांश साहित्य प्राकृत भाषा में ही रचित मिलता है।

प्राकृत भाषा में रचित जैन-साहित्य श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय- तीनों परम्पराओं में मिलता है। प्राचीन श्वेताम्बर आचार्यों ने जहां अर्द्धमागधी-प्राकृत को अपने ग्रन्थों की मुख्य भाषा के रूप में महत्व दिया, वहीं परवर्ती श्वेताम्बर-आचार्यों ने अर्द्धमागधी के स्थान पर महाराष्ट्री-प्राकृत को अपनाया। इसी प्रकार, दिगम्बर-आचार्यों ने अपना साहित्य मुख्य रूप से शौरसेनी प्राकृत में लिखा। कालक्रम की दृष्टि से विचार करें, तो सर्वप्रथम अर्द्धमागधी भाषा में जैन-साहित्य की रचना हुई। उसके पश्चात् माथुरी-वाचना के काल से उसकी रचना शौरसेनी में प्रारम्भ हुई और अन्त में वल्लभी-वाचनाओं के परिणामस्वरूप आगमों की भाषा पर न केवल महाराष्ट्री-प्राकृत का प्रभाव आया, किन्तु इसके साथ ही आगम-साहित्य के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से भी अर्द्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री-प्राकृत में भी जैनाचार्यों ने ग्रन्थ लिखे।

जहां तक हमारे विवेच्य ग्रन्थ प्राचीन अज्ञात आचार्यकृत आराधना-पताका का प्रश्न है, यह मुख्यतः अर्द्धमागधी-प्राकृत में रचित प्रतीत होता है, किन्तु उस पर कहीं-कहीं महाराष्ट्री-प्राकृत का भी प्रभाव देखा जाता है। अर्द्धमागधी-प्राकृत में रचित श्वेताम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में आगम-साहित्य का स्थान सर्वोपरि है। आगम को मुख्य रूप से अंग, उपांग, छेद-मूल-प्रकीर्णक तथा चूलिकासूत्र के रूप में विभाजित किया जाता है।¹ यद्यपि नन्दीसूत्र में जो प्राचीन विभाजन की शैली है, उसमें आगम-साहित्य को मुख्यतः अंग और अंगबाह्य- इन दो रूपों में विभाजित किया गया है। पुनः, अंगबाह्य ग्रन्थों को आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त- इन दो भागों में विभाजित किया गया। पुनः, आवश्यक-व्यतिरिक्त आगम-ग्रन्थों को भी कालिक और उत्कालिक- इन दो भागों में विभाजित किया गया। पुनः, इन आगम-ग्रन्थों की व्याख्या के रूप में मुख्यतः अर्द्धमागधी प्रभावित महाराष्ट्री-प्राकृत में निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि लिखी गई, किन्तु जहाँ तक हमारे आलोच्य ग्रन्थ प्राचीन आचार्य विरचित आराधना-पताका का प्रश्न है, इस ग्रन्थ का वर्गीकरण न तो आगमों में और न आगमिक-व्याख्याओं में किया गया है। यद्यपि आगम-साहित्य के प्रकीर्णक-विभाग में संस्तारक, मरणविभक्ति, आतुरप्रव्याख्यान, महाप्रत्याख्यान आदि ग्रन्थ मुख्यतः समाधिमरण से सम्बन्धित हैं, किन्तु आराधना-पताका का उल्लेख नन्दीसूत्र में नहीं है।

जहाँ तक समालोच्य ग्रन्थ प्राचीनाचार्य विरचित आराधना-पताका का प्रश्न है, डॉ. सागरमल जैन आदि कुछ विद्वानों की मान्यता है कि यह ग्रन्थ नन्दीसूत्र और उसमें उल्लेखित प्रकीर्णकों के बाद लिखा गया है। आगमिक व्याख्या-साहित्य की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ की रचना निर्युक्ति और भाष्य के पश्चात् चूर्णि-साहित्य के पूर्व हुई होगी। इस प्रकार, प्राचीनाचार्य विरचित आराधना-पताका

¹ जैन-साहित्य का वृहद इतिहास, भाग 1 भूमिका - दलसुखभाई मालवाणिया - पृ. 57

का स्थान आगम और आगमिक—व्याख्याओं में निर्युक्ति और भाष्य के बाद भी माना जा सकता है। इसके नामकरण के साथ जो प्राचीन आचार्य विरचित शब्द जोड़ा गया है, वह इतना तो अवश्य बताता है कि यह वीरभद्रकृत आराधना—पताका के पूर्व का ग्रन्थ है। वीरभद्र का काल विद्वानों ने दसवीं शताब्दी के लगभग माना है, अतः प्राचीनाचार्य विरचित इस आराधना—पताका की रचना छठवीं शताब्दी के पश्चात् और दसवीं शताब्दी से पूर्व हुई होगी। इसके संभावित रचनाकाल की चर्चा हमने आगे की है।

जहाँ तक समाधिमरण से सम्बन्धित जैन—साहित्य का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि प्राचीनकाल से ही आगमों में इसके निर्देश पाए जाते हैं। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध में तथा उत्तराध्ययन के पाँचवें अध्ययन में इसका स्पष्ट उल्लेख होने से यह तो स्पष्ट है कि जैन धर्म में समाधिमरण की परम्परा भगवान् महावीर के समय से या उसके भी पूर्व प्रचलित रही है। जहाँ तक समाधिमरण से सम्बन्धित स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना का प्रश्न है, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, संस्तारक आदि ग्रन्थ प्राचीन अवश्य है, किन्तु इनमें इस विषय का कहीं विस्तृत विवेचन नहीं मिलता। संभवतः, समाधिमरण—सम्बन्धी सात—आठ छोटे—छोटे ग्रन्थों को मिलाकर सर्वप्रथम मरणसमाधि नामक ग्रन्थ की रचना हुई, किन्तु यह भी एक संग्रह ग्रन्थ ही था। हमें ऐसा लगता है कि समाधिमरणसम्बन्धी उसकी सम्पूर्ण विधि को आलेखित करने वाला श्वेताम्बर—परम्परा में यदि कोई प्राचीन ग्रन्थ लिखा गया होगा, तो वह प्राचीनाचार्यकृत यह आराधना पताका ही है।

दिगम्बर—परम्परा में भगवती—आराधना का नाम सर्वविश्रुत है, किन्तु इस ग्रन्थ के नाम आदि को लेकर जो प्राचीनाचार्यकृत आराधना—पताका से समरूपता है, वह इतना तो अवश्य सिद्ध करती है कि प्राचीनाचार्यकृत आराधना—पताका लगभग उसके समाकालीन या किंचित् पूर्ववर्ती रही होगी।

दोनों में नाम—साम्य, विषय—साम्य आदि को देखकर हमारा यह अनुमान सम्यक् ही प्रतीत होता है। इसकी भी विशेष चर्चा हमने इसी अध्याय में आगे की है। यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्राचीनाचार्यकृत आराधना—पताका जैनों की समाधिमरण—सम्बन्धी अवधारणा का एक प्राचीन ग्रन्थ है और यदि हमें कहना हो, तो इतना अवश्य कह सकते हैं कि दिगम्बर—परम्परा में भगवती—आराधना का जो स्थान है, वही स्थान श्वेताम्बर—परम्परा में इस प्राचीनाचार्य विरचित आराधना—पताका का है।

आराधना—पताका के रचनाकार एवं उनका परम्परा—काल

प्राचीनाचार्यकृत आराधना—पताका मूलतः जैनधर्म में उल्लेखित समाधिमरण की साधना से सम्बन्धित है। जैन—परम्परा के आगम—साहित्य में आचारांग, उत्तराध्ययन आदि में समाधिमरण—सम्बन्धी उल्लेख और उसकी संक्षिप्त विधि भी दी गई है। उत्तराध्ययनसूत्र के पांचवें अध्याय की विषयवस्तु पूर्णतः समाधिमरण से सम्बन्धित है। इसी प्रकार, उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीसवें अध्याय के अंत में भी समाधिमरण—सम्बन्धी विधि का उल्लेख है। इसमें मुख्यतया समाधि के तीन प्रकार—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य बताते हुए उनके काल तथा विधि की चर्चा की गई है। इसी प्रकार, आचारांगसूत्र में भक्तप्रत्याख्यान, इंगितमरण और पादपोगमन—मरण के रूप में समाधिमरण की संक्षिप्त चर्चा भी मिलती है, किन्तु आगमिक—ग्रन्थों में ये चर्चाएं संक्षिप्त रूप में ही मिलती हैं और समाधिमरण—सम्बन्धी विधि—विधान का उनमें कोई विस्तृत विवेचन नहीं है, जबकि आराधना—पताका मूलतः समाधिमरण के स्वरूप एवं तत्सम्बन्धी विधि को विस्तार से बताने वाला एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आराधना—पताका का मूलभूत प्रयोजन समाधिमरण के स्वरूप और विधि की चर्चा करना ही है।

सामान्यतया, विद्वत्जगत् आराधना-पताका को एक प्रकीर्णक-ग्रन्थ के रूप में ही देखता है। यद्यपि वर्तमान में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक-परम्परा में जो आगम-ग्रन्थों की सूची उपलब्ध है, उसमें जिन दस प्रकीर्णकों का उल्लेख है, आराधना-पताका का उसमें उल्लेख नहीं है। 'पड़ण्णाई सुत्ताइं' में हमें दो आराधना-पताकाओं का उल्लेख मिलता है— एक को प्राचीनाचार्य विरचित आराधना-पताका कहा है, तो दूसरी को वीरभद्राचार्य विरचित आराधना-पताका कहा गया है। यद्यपि यह परम्परा वीरभद्र को भगवान् महावीर के साक्षात् शिष्य के रूप में उल्लेखित करती है, किन्तु विद्वान् इसी बात से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार आचार्य वीरभद्र का काल ईसा की दसवीं शताब्दी है। इससे इतना तो निश्चित हो जाता है कि प्रस्तुत आराधना-पताका में आराधना शब्द का अर्थ सामान्यतया अंतिम आराधना ही है। अन्तिम आराधना का तात्पर्य जीवन के अन्तिम समय में की जाने वाली आराधना से होता है और जीवन के अन्तिम समय में की जाने वाली आराधना ही समाधिमरण की साधना के नाम से जानी जाती है।

अतः, यह स्पष्ट है कि आराधना-पताका का मूलभूत प्रयोजन समाधिमरण की साधना से है। समाधिमरण की साधना-विधि से सम्बन्धित यदि कोई प्राचीनतम ग्रन्थ उपलब्ध होता है, तो वह समाधिमरणकृत आराधना-पताका ही है।

आराधना-पताका के रचनाकार एवं उनकी परम्परा

जैसा कि हमने पूर्व में उल्लेख किया है, आराधना-पताका नाम के दो ग्रन्थ मिलते हैं 'पड़ण्णाई सुत्ताइं' में इनमें से एक को प्राचीनाचार्यकृत आराधना-पताका का नाम दिया गया है और दूसरे को वीरभद्रकृत आराधना-पताका कहा गया है, किन्तु ये प्राचीन आचार्य कौन हैं ? और उनकी परम्परा क्या थी ? इसका हमें कहीं भी स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता है, फिर भी प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा को देखते हुए इतना अवश्य कहा जाता है कि यह ग्रन्थ मूलतः अर्द्धमागधी-प्राकृत का है, जबकि वीरभद्रकृत आराधना-पताका में मुख्यतया महाराष्ट्री-प्राकृत का प्रभाव देखा जाता है। यद्यपि प्राचीनाचार्यकृत आराधना-पताका में भी कहीं-कहीं महाराष्ट्री-प्राकृत का प्रभाव है, फिर भी इसमें 'य' श्रुति उतनी अधिक नहीं है, जो कि वीरभद्रकृत आराधना-पताका में मिलती है। इससे यह तो निश्चित हो जाता है कि यह ग्रन्थ दसवीं शताब्दी में लिखे गए वीरभद्र की आराधना-पताका से प्राचीन हैं, किन्तु इसके रचनाकार वे प्राचीन आचार्य कौन हैं ? इनकी परम्परा क्या है ? यह स्पष्ट नहीं होता है, लेकिन इसमें वर्णित द्वारों और उनकी गाथाओं की बहुत-कुछ समानता हमें दिगम्बर-परम्परा में प्रचलित मूल आराधना अपर नाम भगवती-आराधना से मिलती है। भगवती-आराधना का काल लगभग पांचवीं-छठवीं शताब्दी माना गया है। दूसरे, "डॉ. सागरमल जैन के अनुसार भगवती-आराधना यापनीय-परम्परा का ग्रन्थ है। यह यापनीय परम्परा दक्षिण भारत में ईसा की पांचवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक अस्तित्व में रही।"¹ आराधना-पताका की अनेक गाथाओं की भगवती-आराधना से आंशिक समानता एवं आंशिक भिन्नता के आधार पर इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ यापनीय-परम्परा का नहीं है। अचेलकत्व आदि का स्पष्ट विधान नहीं होने से इसे दिगम्बर-परम्परा का ग्रन्थ भी नहीं कहा जा सकता। इससे इतना तो स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ प्राचीनकाल में किसी श्वेताम्बर-आचार्य के द्वारा ही लिखा गया है। यह भी स्पष्ट होता है कि नन्दीसूत्र में जिन ग्रन्थों के नाम मिलते हैं, उनमें इन ग्रन्थों का कहीं उल्लेख नहीं है।

¹ देखें - जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय - डॉ. सागरमल जैन, पृ. 120

डॉ. सागरमल जैन की यह मान्यता है कि "यह ग्रन्थ भगवती-आराधना के समकालीन या उससे कुछ परवर्ती हो सकता है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि वह वीरभद्रकृत आराधना-पताका से प्राचीन है। डॉ. सागरमल जैन इस ग्रन्थ को पांचवीं से सातवीं शताब्दी के मध्य ही स्थापित करते हैं। प्राचीनाचार्यकृत आराधना-पताका की अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति की गाथा 927 एवं 928 में इसे आराधना- भगवती कहा गया है और उसके पश्चात् गाथा 429 में इसे मरणसमाधि कहा गया है। इससे ऐसा लगता है कि यह ग्रन्थ यापनीय-परम्परा के भगवती-आराधना एवं श्वेताम्बर-परम्परा की मरणसमाधि का समकालीन होना चाहिए। यद्यपि ग्रन्थकार ने कहीं भी अपना स्पष्ट नामोल्लेख नहीं किया है, किन्तु ग्रन्थ-प्रशस्ति की अन्तिम गाथाओं को देखने से ऐसा लगता है कि इस ग्रन्थ के रचनाकार त्रिलोकचन्द्र अथवा लक्ष्मीनिवास नामक मुनि हो सकते हैं, क्योंकि इस ग्रन्थ की 931वीं गाथा में तिलोयचन्दुज्जलं एवं 932वीं गाथा में लच्छीनिवास- ऐसा स्पष्ट नाम मिलता है। प्राचीनकाल में यह परम्परा रही है कि व्यक्ति या लेखक अपना नाम केवल संकेत के रूप में ही उल्लेखित करता था, अतः यह स्पष्ट है कि यह कृति ईसा की छठवीं शताब्दी में किसी श्वेताम्बर-आचार्य द्वारा ही संकलित की गई है। रचनाकार के नाम के सम्बन्ध में हम बहुत स्पष्ट नहीं हैं, फिर भी जो अनुमान लगाया जा सकता है, उसके आधार पर रचनाकार का नाम तिलोयचन्द्र या लच्छी-निवास में से एक हो सकता है। वीरभद्रकृत आराधना-पताका में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पूर्व पुरुषों द्वारा क्रम से आगत इस ग्रन्थ को संक्षेप में कहूंगा, अतः यह निश्चित है कि यह कृति वीरभद्रकृत आराधना पताका से पूर्व की ही है, फिर भी इतना निश्चित है कि ग्रन्थकार को भगवती-आराधना और मरणसमाधि- ये दोनों ग्रन्थ ज्ञात थे और हो सकता है कि इन्हीं के आधार पर उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की हो।¹

प्राचीनाचार्य विरचित आराधना-पताका की विषयवस्तु²

प्राचीनाचार्यकृत आराधना पडागा (आराधना-पताका) में सर्वप्रथम भगवान् महावीर को नमस्कार करके भवसागर से पार होने के लिए जहाज के समान पर्यन्त-आराधना की रचना करने का निर्देश किया गया है। यहाँ पर्यन्ताराधना का अर्थ जीवन के अन्तिम समय में की जाने वाली आराधना से है, जिसे हम सामान्यतया समाधिमरण के नाम से जानते हैं। इसके पश्चात् इस ग्रन्थ में उत्तमार्थ, अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करने के लिए आराधना-विधि का निम्न बत्तीस द्वारों में विवेचन किया गया है-

द्वारों के नाम - 1. संलेखना 2. परीक्षा 3. निर्यामक 4. योग्यता 5. अगीतार्थ 6. असंविज्ञ 7. निर्जरा 8. स्थान 9. प्रशस्त-वसति 10. संस्तारक 11. चरमद्रव्य-दापना 12. समाधिपान 13. गणपतिक्षपक का गणनिसर्ग 14. चैत्यवंदन 15. आलोचना 16. व्रतोच्चारण 17. चतुःशरण 18. दुष्कृतगर्हा 19. सुकृतानुमोदना 20. जीवक्षमापना 21. स्वजनक्षमापना 22. संघक्षमापना 23. जिनवरादिक्षमापना 24. आशतना प्रतिक्रमण 25. कायोत्सर्ग 26. शक्रस्तव 27. पापस्थानों का त्याग 28. अनशन 29. अनुशिष्टि (शिक्षा) 30. सार कवच 31. नमस्कार तथा 32. आराधनाफल।³

¹ डॉ. सागरमल जैन - प्राचीन आचार्यकृत आराधना पताकी की अप्रकाशित भूमिका के आधार पर

² आराधनापताका की विषयवस्तु की समग्र चर्चा मूलगाथाओं के अनुवाद पर आधारित है। यह अनुवाद अभी अप्रकाशित है, अनुवादक डॉ. कर्नल एस. बया हैं।

³ आराधनापताका, 2-7

प्रस्तुत प्रसंग में द्वारों का सम्बन्ध समाधिमरण के विविध आयामों या पक्षों से है। इनमें यह बताया गया है कि किस-किस रूप में किस-किस प्रकार से समाधिमरण की साधना की जाती है। उसके पश्चात्, आराधना-पताका में आराधना के दो रूपों— आभ्यन्तर और बाह्यरूपों की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि कषाय की संलेखना करना, अर्थात् अन्तर में निहित कषायों को देखकर उनके निरसन का प्रयास करना आभ्यन्तर संलेखना है, जबकि मृत्युपर्यन्त आहारादि का त्याग करते हुए शारीरिक आवेगों को कृश करना बाह्य-संलेखना है।¹ इसके पश्चात्, प्रस्तुत कृति में उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से शरीर-संलेखना के तीनों प्रकारों की चर्चा हुई है।²

उत्कृष्ट शरीर-संलेखना, अर्थात् शरीर और इन्द्रियों को कृश करने की प्रक्रिया बारह वर्ष की बताई गई है। मध्यम संलेखना बारह मास या एक वर्ष की तथा जघन्य शरीर-संलेखना बारह पक्ष, अर्थात् छः माह की बताई गई है। इसके पश्चात्, उत्कृष्ट संलेखना में तप आदि की विधि किस प्रकार होना चाहिए— इसका निर्देश करते हुए कहा गया है कि प्रथम चार वर्षों में विगयरहित, अर्थात् घी, तेल, दूध, दही, मिठाई आदि से रहित रूक्ष भोजन करना चाहिए। उसके पश्चात्, दो वर्ष तक एकान्तर-तप करना चाहिए, अर्थात् एक दिन उपवास, एक दिन भोजन करना चाहिए। प्रथम चार वर्षों में उपवास आदि विभिन्न प्रकार के तप करना चाहिए। उसके पश्चात्, चार वर्षों में विगयरहित भोजन और अगले दो वर्षों में एकान्तर-तप करना चाहिए।³

इस प्रकार, दस वर्ष की अवधि पूर्ण होने पर ग्यारहवें वर्ष में छः मास-पर्यन्त कठोर तप-साधना करनी चाहिए, फिर ग्यारहवें वर्ष के अन्तिम छः मास और बारहवें वर्ष के प्रथम छः मास में निरन्तर आयम्बिल करके अन्त के छः मास में भक्तपरिज्ञा के माध्यम से आहारादि में धीरे-धीरे कमी करना चाहिए। इसी प्रसंग में यह बताया गया है कि शरीर को कृश किए बिना सहसा ही चतुर्विध-आहार का त्याग कर लेने से शरीर में असमाधि उत्पन्न होती है और उसके परिणामस्वरूप आर्त्तध्यान उत्पन्न होता है, जबकि संलेखना का मुख्य लक्ष्य समाधि या शान्तिपूर्वक शरीर का त्याग होता है, अतः शरीर-संलेखना इस प्रकार से करना चाहिए, जिससे शरीर में असमाधि न हो और समभावपूर्वक देहत्याग सम्भव हो।

इसी क्रम में आगे आभ्यन्तर-संलेखना के लिए कषायों के कलुष के त्याग और अध्यवसायों की शुद्धि को आवश्यक कहा गया है। जब तक कषायरूपी अग्नि शान्त नहीं होती, तब तक संक्लेश के भाव समाप्त नहीं होते और संक्लेशयुक्त भाव-मरण जन्म-मरण की परम्परा को आगे बढ़ाता है, अतः समाधिमरण की साधना में मिथ्या-दुष्कृतरूपी जल से कषाय-अग्नि को शान्त करना आवश्यक है, इसलिए आराधना-पताका के प्रथम द्वार के अन्त में यह कहा गया है कि सोलह प्रकार की कषाय, नौ नोकषाय, ऐन्द्रिक-विषयों की आकांक्षा, अशुभ ध्यान, अशुभ लेश्या, रागद्वेष तथा आठ प्रकार के मदस्थान, सात प्रकार के भयस्थान का त्याग आवश्यक है। चूंकि ये सभी समाधि-भाव में शल्यरूप हैं, अतः साधक को समाधिमरण की साधना में कषायों का कृशीकरण करना आवश्यक है।

इसके पश्चात्, द्वितीय द्वार परीक्षा-द्वार (गाथा 25-28) में कहा गया है कि गुरु को समाधिमरण के इच्छुक साधक से उसकी संसार-सागर से पार जाने की क्षमता का परीक्षण करके ही उसे समाधिमरण करवाना चाहिए। जिस साधक में संसार-सागर से पार होने की इच्छा न हो,

¹ वही, 8

² वही, 9

³ वही, 9-13

जो मृत्यु से भयभीत हो और जिसके मन में शरीर और इन्द्रिय-भोगों की आसक्ति रही हुई हो, उसे समाधिमरण के योग्य नहीं मानना चाहिए, अतः समाधिमरण के इच्छुक साधक का परीक्षण आवश्यक है। इसी क्रम में तीसरे निर्यापक द्वार (गाथा 29-43) में समाधिमरण में सहयोग देने वाले निर्यापकों की योग्यता का वर्णन किया गया है। जैन-परम्परा में निर्यापक उसे कहा जाता है, जो समाधिमरण करने वाले साधक की सेवा परिचर्या में निःमग्न होता है। चूंकि अयोग्य निर्यापकों के कारण समाधिकरण के साधक में भी असमाधि का भाव उत्पन्न हो जाता है, अतः निर्यापकों की क्षमता का परीक्षण भी आवश्यक है।

प्रस्तुत कृति के चौथे योग्यताद्वार (गाथा 44-47) के प्रारम्भ में यह बताया गया है कि समाधिमरण के इच्छुक साधक में क्या-क्या योग्यताएं होना चाहिए। उन योग्यताओं का निर्देश निम्न रूप में है—

जो निर्वाण-सुख चाहता हो, विषय-विकारों का त्यागी हो, पारिवारिक-परिजनों से निर्मोही हो, अनेक प्रकार के तप द्वारा शरीर को तपाने वाला हो, इहलोक-परलौकिक-आकांक्षा से रहित हो, शरीर की शुश्रूषा से रहित हो, मरणभय से उपरत और महान् विवेक से युक्त हो, मुक्ति की तीव्र अभिलाषा वाला हो, ऐसा क्षपकमुनि या श्रावक आराधना के योग्य होता है।

प्रस्तुत कृति के पांचवें अगीतार्थ-द्वार (गाथा 48-63) के प्रारम्भ में यह बताया गया है कि अगीतार्थ गुरु के सान्निध्य में समाधिमरण धारण नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो गीतार्थ नहीं है, जो देश, काल व परिस्थितियों का ज्ञाता नहीं है, वह सम्यक् प्रकार से समाधिमरण करवाने में समर्थ नहीं होता है। गीतार्थ के लिए आवश्यक है कि वह मानवता, शास्त्रज्ञान, धर्मश्रद्धा तथा तपसंयम में पुरुषार्थ से युक्त हो, जबकि अगीतार्थ में ये योग्यताएं नहीं होती हैं। अगीतार्थ-निर्यापक, क्षपक को क्षुधा-पिपासा से पीड़ित होने पर जब वह रात्रि में जल आदि की याचना करता है, तो उसे छोड़कर चला जाता है। फलतः, क्षपक भी पीड़ावश आर्त होकर दीक्षा त्यागकर पुनः गृहस्थ होने की सोचता है, अतः आर्तध्यान से युक्त होने पर मरकर तिर्यच, नरक आदि गतियों में जन्म लेता है। सत्य यह है कि किस परिस्थिति-विशेष में किस प्रकार से आचरण करना चाहिए— इस बात से अज्ञात होने के कारण अगीतार्थ-निर्यापक क्षपक का अहित ही करता है। इसके विपरीत, जो गीतार्थ-निर्यापक होता है, वह विशिष्ट परिस्थिति में धर्म और शास्त्र का आधार लेकर योग्य मार्ग निकाल लेता है जिससे न तो क्षपक का अहित होता है और न ही धर्मसंघ की निन्दा होती है, इसलिए प्रस्तुत कृति में यह बताया गया है कि गीतार्थ गुरु की खोज में एक-दो नहीं, चाहे बारह वर्ष तक की प्रतीक्षा करना पड़े, तो भी करना चाहिए और अगीतार्थ के चरणों में तो कदापि समाधिमरण ग्रहण नहीं करना चाहिए। गीतार्थ वह व्यक्ति होता है, जो क्षपक की इच्छा का सम्पादन करके और उसका देह-परिकर्म करके, अथवा अन्य उपायों द्वारा उसकी असमाधि को दूर कर उससे समाधिमरण में सहायक होता है। गीतार्थ-निर्यापक प्रासुक-द्रव्य, क्षपक का हित, उसके उदय में आए हुए कर्म तथा वात-पित्त और कफ के उपचार को जानकर, विशिष्ट परिस्थिति में उचित शिक्षा अथवा उचित पान या भोजन देकर क्षपक को क्षुधा एवं पिपासा से क्लान्त नहीं होने देता है, इसलिए प्रस्तुत कृति में यह बताया है कि चाहे दीर्घकाल तक योग्य निर्यापक की प्रतीक्षा करना पड़े, किन्तु कभी भी अयोग्य निर्यापक के सान्निध्य में समाधिमरण ग्रहण नहीं करना चाहिए।

प्रस्तुत कृति के छठवें असंविग्नद्वार (गाथा 64-70) के प्रारम्भ में यह बताया गया है कि समाधिमरण के इच्छुक साधक को गीतार्थ-गुरु मिल जाए, परन्तु वह गीतार्थ-मुनि असंविग्न, यानी शुद्ध आचरण वाला न हो, तो उसके सान्निध्य में समाधिमरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसके

सान्निध्य में रहने से अंगचतुष्टय अर्थात् मनुष्यत्व, शुद्ध श्रद्धा, संयम और सम्यक् पुरुषार्थ के नष्ट होने का भय रहता है। वह संयम में आधाकर्मी आदि दोष भी लगा देता है, अतः संविग्न गीतार्थ—गुरु की खोज बारह वर्षों तक तथा सात सौ योजन तक भी करना पड़े, तो भी करना चाहिए, परन्तु ऐसे असंविग्न—निर्यापक के सान्निध्य में समाधिमरण धारण नहीं करना चाहिए।

प्रस्तुत कृति में सातवें निर्जरणा—द्वार (गाथा 71—74) के प्रारम्भ में यह बताया गया है कि जिस साधक ने समाधिमरण धारण किया है और जिसके रोम—रोम में समता का वास हो गया है—ऐसा क्षपक अल्पसमय में ही अन्य योगों एवं साधनाओं से असंख्यात भव के कर्मों का भी क्षय कर देता है। वह स्वाध्याय से, ध्यान—साधना से एवं बड़ों की सेवा शुश्रूषा करके कर्मों की निर्जरा कर लेता है, साथ ही सद्गति प्राप्त करने के लिए तो वह विशेष रूप से साधना करता है।

प्रस्तुत कृति के आठवें स्थानद्वार (गाथा 75—78) के प्रारम्भ में समाधि धारण करने वाले क्षपक के लिए स्थान किस प्रकार का होना चाहिए, इसकी चर्चा है। स्थान ऐसा होना चाहिए, जहाँ एकान्त हो, वातावरण शान्त हो, शोरगुल नहीं हो, जहाँ गायन, वादन और नृत्य—शालाएं न हों, लुटेरों का निवासस्थान न हो, जहाँ विकथा आदि नहीं होती हो, क्योंकि ऐसा होने पर क्षपक के ध्यान में बाधा उत्पन्न हो जाती है और उसका मन अशान्त तथा बैचेन हो जाता है। यही कारण है कि सबसे पहले शान्त स्थान की खोज करना चाहिए, जिससे क्षपक के हृदय में समाधि का भाव बना रहे।

प्रस्तुत कृति के नौवें वसतिद्वार (गाथा 79—82) के प्रारम्भ में यह बताया गया है कि समाधिमरण के साधक को कैसे स्थान पर निवास करना चाहिए। यह बताया गया है कि जहाँ उस क्षपक के मन को शान्ति मिले, जहाँ ज्यादा लोगों का आवागमन न हो और जहाँ खाद्य एवं पेय—सामग्री न रखी हो, वहीं क्षपक को रहना चाहिए। जहाँ परिवार वालों का ज्यादा आना—जाना होगा या अन्य परिस्थितियां होंगी, वहां रहने से क्षपक के मन में मोहभाव उत्पन्न हो सकते हैं, जो कि क्षपक की समाधि में बाधा उत्पन्न कर सकते हैं, अतः ऐसे स्थान पर क्षपक को नहीं रखना चाहिए, अपितु जहाँ किसी प्रकार की विघ्न—बाधाएं न हों, ऐसे उचित स्थान को देखकर ही क्षपक को वहां स्थित करना चाहिए।

प्रस्तुत कृति के दसवें संस्तारकद्वार (गाथा 83—91) के प्रारम्भ में यह बताया गया है कि समाधि धारण करने वाले क्षपक का संस्तारक (बिछौना) कैसा होना चाहिए ? पोलाररहित कुशादि से बना हुआ छिद्ररहित तृण—संस्तारक बिछाया जाना चाहिए, जिससे क्षपक के शरीर में कोई पीड़ा उत्पन्न नहीं हो, मृदु संस्तारक न होने से क्षपक के मन में बैचेनी का भाव उत्पन्न हो जाएगा और वह रजाई—गद्दे आदि ओढ़ने व बिछाने के साधनों का प्रयोग करने की भावना वाला बनेगा, जिससे उसकी साधना में बाधा उत्पन्न होगी, अतः संस्तारक अति उत्तम होना चाहिए, जिससे साधक अपनी साधना में निःमग्न रहे और वह संसार—सागर पार करने में समर्थ हो सके।

प्रस्तुत कृति के ग्यारहवें द्रव्यदापनाद्वार (गाथा 92—99) के प्रारम्भ में यह बताया गया है कि क्षपक को शरीर—समाधि बनी रहे, इसके लिए किस प्रकार का आहार दिया जाना चाहिए। क्षपक के मनोभावों को जानकर, उसके शरीर में समाधि बनी रहे, इसी प्रकार के मनाज्ञ द्रव्य का पान उसे कराना चाहिए, जिससे उस चरमाहार को चखकर वह संवेग—परायण हो जाता है और उसकी तृष्णा का छेदन हो जाता है।

प्रस्तुत कृति के बारहवें समाधिपान या विरेचन—द्वार (गाथा 100—102) के प्रारम्भ में तो यह बताया गया है कि निर्यापक यह समझे कि क्षपक क्या चाहता है, उसके शरीर में समाधि किस तरह

बनी रह सकेगी, इसके लिए उसका पेट साफ है या नहीं— यह जानकर उदरमल—शोधन के लिए उसे समाधिपान, अर्थात् विरेचन—द्रव्य पिलाया जाना चाहिए। त्रिफला और नागकेशर को तमालपत्र के दूध और शक्कर के साथ मिलाकर, उसे थोड़ा—सा गर्म करके पिलाया जाना चाहिए, जिससे क्षपक के उदर की पीड़ा शान्त हो जाए। ज्ञातव्य है कि पुष्प—फलादि के मधुर विरेचन से वह क्षपक सुखपूर्वक समाधि को प्राप्त होता है।

प्रस्तुत कृति के तेरहवें गणानिसर्ग—द्वार (गाथा 103—144) के प्रारम्भ में यह बताया गया है कि समाधिमरण की साधना करने वाला यदि स्वयं आचार्य है और उस आचार्य को यह ज्ञात हो जाए कि उसकी आयुष्य स्वल्प है, उसने दीर्घ संयम—पर्याय का पालन किया है, उसने शिष्यों को वाचना भी दी है और योग्य शिष्य—समुदाय तैयार कर दिए हैं, अब उसे आत्म—साधना में लग जाना चाहिए, तब वह अपने गच्छ की अनुपालना के लिए, या परम्परा का निर्वाह करने के लिए अपने योग्य शिष्य को बुलाकर, अपने बाईं ओर बैठाकर उसके शीश पर वासक्षेप डालता है और उस शिष्य से कहता है कि “तुम संगठित होकर कार्य करना तथा इस संघ को आगे बढ़ाने में प्रमाद मत करना। संघ का संचालन सुव्यवस्थित ढंग से करना। स्वाध्याय में सावधान रहना व गच्छ के मुनियों के प्रति वात्सल्यमय स्नेही होना। जो आलसी घर में लगी आग का क्षमन नहीं करता, वह दूसरों के घर में लगी आग को कब क्षमन कर सकेगा ? तुम ऐसे आलसी व प्रमादी मत बनना। तुम पांच समिति, तीन गुप्ति का यथावत् पालन करते हुए संयम—साधना में आगे बढ़ते रहना।” फिर उस प्रधान शिष्य को अपने पद पर आसीन करके सकल संघ को आमन्त्रित कर वह क्षपक आबाल—वृद्ध—सभी से क्षमा याचना करता है और कहता है “स्नेह व राग के वशीभूत होकर मैंने किसी को कटु या कठोर वचन कहा हो, तो निःशल्य व निःकषाय होकर क्षमायाचना करता हूँ।”

प्रस्तुत कृति के चौदहवें चैत्यवन्दन—द्वार (गाथा 145—162) के प्रारम्भ में यह बताया गया है कि वैराग्य से आपूरित क्षपक गीतार्थ—गुरु के पास चैत्यवन्दन—द्वार से अनशन—विधि का उच्चारण करता है और कहता है “इस भयंकर भाव—अटवी को पार करने के लिए योग्य निर्यामक का सहारा लेकर भवसागर को पार करने की इच्छा करता हूँ।” तब वह गुरु उस क्षपक के उत्तम विचारों को सुनकर कहते हैं— “हे क्षपक ! शुभस्य शीघ्रम्, अर्थात् शुभ कार्य में देरी मत करो। तुम चैत्यवन्दन करके अतिचारों की आलोचना कर अनशन—व्रत को धारण करो।” तब क्षपक का दृढ़ निश्चय जानकर वह नियापक गुरु के समक्ष अनशन का अवसर जानकर क्षपक को संघ के समक्ष भक्तपरिज्ञा—प्रत्याख्यान करवाता है, तब वह क्षपक हर्षित होकर जिननाथ की स्तुति करके वन्दन करता है और अपने समाधिभाव में स्थिर हो जाता है।

प्रस्तुत कृति के पन्द्रहवें आलोचना—द्वार (गाथा 163—218) के प्रारम्भ में यह बताया गया है कि चैत्यवन्दन के पश्चात् क्षपक को गीतार्थ—गुरु के समक्ष आलोचना करने के लिये प्रवृत्त होना चाहिए। सद्गुरु के उपलब्ध न होने पर अपवादस्वरूप स्थिति में अपने निकटस्थ को गीतार्थ मानकर सभी प्रकार से अपने पूर्वकृत अपराधों को प्रकट करके पापों का प्रक्षालन करना चाहिए, क्योंकि जिनशासन में सशल्य—आराधना से मन की शुद्धि या सिद्धि नहीं होती है। जिस प्रकार एक बालक निष्कपट होकर, सरल हृदय से अपने कृत्य—अकृत्य कार्यों को सरलतापूर्वक कह देता है, उसी प्रकार क्षपक को भी आकस्मिक अज्ञानता से, भय से या राग—द्वेष से, अथवा अन्य किसी कारण से जो कुछ भी अकृत्य किया हो, उसका स्मरण करके उसकी पुनरावृत्ति न करने का प्रण कर उसका प्रतिक्रमण करना चाहिए तथा मन पर उसका भार नहीं रखना चाहिए। ज्ञानाचार,

दर्शनाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार में जो कोई सूक्ष्म या बादर अतिचार लगे हों, क्षपक को उन सबकी आलोचना कर शुद्ध होना चाहिए।

आलोचना—द्वार के अन्तर्गत ज्ञानाचारातिचारालोचना—द्वार के प्रारम्भ में यह बताया गया है कि इसमें क्षपक काल, विनय, बहुमान, उपधान तथा अनिह्नवता, व्यंजन, अर्थ अथवा दोनों की अपेक्ष से जो भी श्रुतज्ञान—विराधना हुई हो, उसकी आलोचना करे। वह कहे— “मेरे द्वारा सभी द्रव्यों को प्रकाशित करने वाले दीपक के समान पंचविध (श्रुत) ज्ञान, ज्ञानी तथा भवव्याधि—विदारक वैद्य के समान ज्ञानोपकारकों के प्रति तथा पुस्तक, पोथियों व पट्ट—पट्टिका, भित्ति, टिप्पणादि ज्ञानोपकरणों के प्रति निंदा, प्रदोष, हीलना, अविनय, उपहास, चरणाघातादि आशातना हुई हो, उन सबकी मैं आलोचना करता हूँ।”

आलोचना—द्वार के अन्तर्गत दर्शनाचारातिचारालोचना—द्वार के प्रारम्भ में यह बताया गया है कि आत्मशुद्धि का साधक क्षपक दर्शनाचार के निम्न अतिचारों की आलोचना करे, जैसे— “मैंने समकितधारी आचार्य, उपाध्याय, श्रमण—श्रमणियों, श्रावक—श्रविकाओं सहित देव—देवियों एवं जिनवर, जिनबिम्ब, मुनिवरादि के प्रति जो भी अवज्ञा व प्रतिकूल कार्य किया हो, जिन—मन्दिर की आशातना की हो, आसक्ति को नहीं तोड़ा हो, तो मैं उन सभी की गर्हा करता हूँ।”

आलोचना—द्वार के अन्तर्गत ही चारित्राचारालोचना—द्वार में यह बताया गया है कि समाधि को चाहने वाला क्षपक यह सोचे— “मैंने पांच समिति, तीन गुप्ति का पालन नहीं किया हो, मूलगुण—उत्तरगुण में कोई दोष लगा हो, राग—द्वेष के वशीभूत होकर मेरे द्वारा पृथ्वीकायादि पाँच एकेन्द्रिय जीवों की, कृमि आदि बेइन्द्रिय जीवों की हिंसा हुई हो, जूँ, लीख, खटमल, कीटादि मकड़ी आदि तेइन्द्रिय, बिच्छू, भ्रमरादि चतुरिन्द्रिय एवं जलचर, स्थलचर, खेचर आदि तिर्यच—पंचेन्द्रिय तथा सम्मूर्च्छिम एवं गर्भज मनुष्यों को आघात लगाया गया हो, प्रगाढ़ परितापना दी गई हो, उपद्रव किया गया हो, यातना दी गई हो, तो उन सभी की मैं आलोचना करता हूँ। मेरे द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, एकान्त में, कूटसाक्षी से असत्य भाषण किया गया हो, मेरे द्वारा पराया व अदत्त (बिना दिया) जो भी सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त अथवा मिश्रित पदार्थ ग्रहण किया गया हो, मेरे द्वारा मैथुनविरमण—व्रत में मन, वचन, काया से अंशतः या सर्वतः न्यूनाधिक दोष लगा हो, मैंने ग्राम, कुल आदि क्षेत्र, वास्तु आदि में ममत्व रखा हो, कदाचित् रात्रिभक्तविरमण—व्रत की विराधना हुई हो एवं समय पर, यानि कालोकाल प्रतिलेखन आदि नहीं किया हो, तो मैं उन सभी की मन, वचन, काया से त्रिविध रूप से आलोचना करता हूँ।”

आलोचना—द्वार के अन्तर्गत तपाचारातिचारालोचना—द्वार में यह कहा गया है कि क्षपक यह सोचे— “मैंने प्रमाद के कारण बारह प्रकार के तप न किए हों, अविधिपूर्वक किए हों, तो मैं मन, वचन और काया से उनकी आलोचना करता हूँ।” आलोचना—द्वार के अन्तर्गत वीर्याचारातिचारालोचना—द्वार में यह बताया गया है कि क्षपक को अपने मन में यह चिन्तन करना चाहिए— “यदि पूर्व में जिन भगवान् द्वारा प्रतिपादित मुक्ति के मार्ग की साधना के लिए मैंने पराक्रम नहीं किया हो, तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ। श्रावक के पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों एवं चार शिक्षाव्रतों में जो—जो अतिचार लगे, उनकी मैं सम्यक् आलोचना करता हूँ। इसी प्रकार, मुनि—जीवन के पांच महाव्रतों एवं मूलगुणों एवं उत्तरगुणों में तथा रात्रिभोजनविरमण—व्रत में जो कोई दोष लगा हो, तो उनकी मैं सम्यक् आलोचना करता हूँ। उनमें अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार—रूप जो कोई भी दोष लगा हो, तो उसकी भी मैं आलोचना करता हूँ। प्रमाद के कारण, राग—द्वेष के कारण मेरे द्वारा कोई अपराध हुए हों, उन सबकी त्रिविध आलोचना करता हूँ।

म मूढमति हूँ, मैं छद्मस्थ हूँ, मेरे जो पाप मेरी स्मृति में न हों, उनकी भी मैं सम्यक् आलोचना करता हूँ। अरिहन्त, सिद्ध, साधु व स्व-आत्मा की साक्षी से एवं वर्तमान में विहरमान सीमंधर स्वामी आदि की साक्षी से जो-जो मुझे स्मरण है तथा जो-जो मुझे स्मरण नहीं भी है, उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ। इस प्रकार, अपने पूर्वकृत पापों की आलोचना करता हुआ, विशुद्ध परिणामों से युक्त आराधक, मान व माया से विप्रमुक्त होकर भार उतारकर रख देने वाले भारवाहक के समान अत्यन्त हल्का हो जाता है। जो क्षपक लज्जा, अभिमान और ज्ञान के मद से मदोन्मत्त होकर अपने दुष्कृत्य को गुरु के सम्मुख नहीं कहता है, वह वस्तुतः आराधक नहीं कहा जा सकता है।

प्रस्तुत कृति के सोलहवें व्रतोच्चारणा-द्वार (गाथा 219-233) के प्रारम्भ में यह निर्देश दिया गया है कि क्षपक महाव्रतों के उच्चारणपूर्वक छेदोपस्थापनीय-चारित्र को ग्रहण करे। छेदोपस्थापनीय-चारित्र में पुनः स्थापित होने के लिये उस क्षपक को निर्यापकाचार्य के समक्ष वन्दन करके महाव्रतों के पुनरारोपण हेतु निवेदन करना चाहिये तथा प्रत्येक महाव्रत को तीन-तीन बार उच्चरित कर ग्रहण करना चाहिए। अन्त में, रात्रिभोजन-विरमण-व्रत को भी तीन बार उच्चारण करके ग्रहण करना चाहिए। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि पाँच महाव्रतों का पुनरारोपण नमस्कारमन्त्रपूर्वक होता है, किन्तु छठवें रात्रिभोजन-विरमण-व्रत का ग्रहण नमस्कारमन्त्रपूर्वक नहीं होता। इस द्वार के अन्तर्गत यह भी बताया गया है कि क्षपक यदि निज गच्छ का होता है, या खंडित चारित्र वाला होता है, तो आचार्य उसका उपस्थापन और दिशाबंध-दोनों ही करते हैं, किन्तु यदि क्षपक अन्य गच्छ से आया है और निरतिचार चारित्रवाला है, तो उसे उपस्थापना द्वारा महाव्रतों में पुनः स्थापित करने की आवश्यकता नहीं होती है, फिर भी दिशाबंधपूर्वक रात्रिभोजन-विरमण तक व्रतारोपण तो किया ही जाता है। ज्ञातव्य है कि पार्श्वस्थ, अर्थात् शिथिल चारित्र वाले के लिये तो चाहे वह स्वगच्छ का हो या अन्य गच्छ का, सम्पूर्ण उपस्थापन-विधि की जाना चाहिए तथा दिशाबंध भी किया जाना चाहिए।

इसी प्रकार, यदि कोई क्षपक व्रतधारी श्रावक हो, तो उसे संस्तारक-प्रव्रज्या में प्रव्रजित किया जाता है, अर्थात् उसकी भी संस्तारक में स्थापित होने के पूर्व प्रव्रज्या-विधि सम्पूर्ण की जाती है। यह विधि जिनालय में की जाती है। यहाँ संस्तारक-प्रव्रज्या का मतलब है कि वह संस्तारक में रहते हुए रात्रिभोजनविरमण सहित पाँचों महाव्रतों का पालन करे, किन्तु उसकी उपस्थापना नहीं होती, क्योंकि उपस्थापना केवल उन्हीं की होती है, जिन्होंने सामायिक-चारित्र ग्रहण किया हो। यदि सम्यक्त्वयुक्त श्रावक क्षपक संस्तारक-प्रव्रज्या ग्रहण न करके मात्र भक्तपरिता ग्रहण करता है, तो वह प्रथम अहिंसा-अणुव्रत का नमस्कारमन्त्रपूर्वक तीन बार उच्चारण करे, उसके पश्चात् शेष ग्यारह व्रतों का नमस्कारमन्त्र के उच्चारण के बिना तीन बार उच्चारण करे।

यदि श्रावक क्षपक सम्यक्त्वधारी भी न हो, तो उसे सर्वप्रथम नमस्कारमन्त्रपूर्वक सम्यक्त्व धारण करना चाहिए। सम्यक्त्व-प्रव्रज्या का उच्चारण भी तीन बार किया जाना चाहिए। उसके पश्चात्, उसे पाँच अणुव्रतों तथा सात शिक्षाव्रतों का उच्चारण भी नमस्कार-मन्त्र के उच्चारण के बिना तीन-तीन बार करवाया जाना चाहिए। जिस प्रकार व्रतोच्चारण-द्वार में स्वगच्छ के खंडित चारित्र वाले और अखण्डित चारित्र वाले अन्य गच्छ से आए, निरतिचार महाव्रतों का पालन करने वाले क्षपक के लिए तथा पार्श्वस्थ आदि क्षपकों के लिए उपस्थापन-विधि और दिशाबंध-विधि का विवेचन किया गया है, उसी प्रकार उसमें सम्यक्त्व-ग्रहण रहित श्रावक, सम्यक्त्व-ग्रहण युक्त श्रावक तथा सम्यक्त्व सहित अणुव्रतों को ग्रहण किए हुए श्रावक की प्रव्रज्या-विधियों का भी

विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। प्रस्तुत कृति के सत्रहवें चतुःशरण द्वार (गाथा 234-271) में यह बताया गया है कि क्षपक या श्रावक व्रतोच्चारण से चारित्र में प्रवृत्त होता हुआ चतुर्गतिरूप भव-भ्रमण से भयभीत होकर चारों शरणों को ग्रहण करता है। वह क्षपक चतुर्गति के दुःख का निवारण करने वाले अरिहन्त सिद्ध, साधु एवं जिनभाषित-धर्म- ऐसे शरण को प्राप्त करता है। वह संविग्न क्षपक दोनों हाथों से अंजलीबद्ध होकर भव-भ्रमण को मिटाने वाले अरिहन्त की शरण को ग्रहण करता है। जिन अरिहन्त भगवान् को गर्भ से ही तीन ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि) थे, जिनका च्यवन-कल्याणक देवाधिपति इन्द्र द्वारा मनाया गया, जिन अरिहन्त भगवान् का देवेन्द्रों द्वारा जन्माभिषेक किया गया- ऐसे जिनेश्वर देवों की शरण को मैं ग्रहण करता हूँ। जो अरिहन्त भगवान् लोकान्तिक देवों द्वारा प्रतिबोधित होकर वर्षीदान देकर चारित्र ग्रहण करके मन पर्यवज्ञान के धारक हो जाते हैं, जो चार घातीकर्मों को क्षय करने वाले, चौतीस अतिशय, पैंतीस वाणी से सहित, एक हजार आठ लक्षणों को धारण करने वाले, अठारह दोषरहित हैं, उन अरिहन्त परमात्मा की मैं शरण ग्रहण करता हूँ।

अरिहन्त की इस प्रकार शरण ग्रहण कर अपने पापों का प्रक्षालन करता हूँ, अब मैं सिद्धों की शरण में जाता हूँ। अब वह क्षपक सिद्ध भगवान् की स्तुति करते हुए कहता है- अष्टकर्मरूपी काष्ठ-संचय को शुक्लध्यानरूपी अग्नि से जलाकर शिव-पद को प्राप्त करने वाले सिद्ध भगवान् की शरण को मैं ग्रहण करता हूँ। उग्र तप एवं ध्यान के द्वारा चार गति-बंध से विप्रमुक्त संसार का भजन करने वाले पंचम गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त- ऐसे सिद्ध भगवान् की शरण में जाता हूँ। जो अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्यसुख, अनन्त-चतुष्टय को प्राप्त हैं, जो संसार के सुख-दुःख से निर्लिप्त, लोक के अग्रभाग में स्थित, जो अरिहन्तों द्वारा महिमा-मण्डित हैं, तीर्थ-अतीर्थ आदि पन्द्रह भेदों से सिद्ध हुए हैं- ऐसे सिद्ध भगवान् की शरण को मैं ग्रहण करता हूँ। जहाँ न जरा है, न मृत्यु है, न व्याधियाँ हैं, न तिरस्कार है, न भय है, न तृष्णा है, न क्षुधा है, न परतंत्रता है, न दुर्भाग्य है, न दीनता है, न शोक है, न प्रिय-वियोग है, न अनिष्ट-संयोग है, न शीत है, न उष्णता है, न संताप है, न दारिद्र्य है, उस शिवगति को प्राप्त सभी भूत-भविष्य-वर्तमानकाल के ज्ञाता, अन्याबाध सुख के भोक्ता, देह से भिन्न- ऐसे सिद्धों की शरण को मैं ग्रहण करता हूँ। सिद्धशरणरूपी जलधारा से पापकर्मरूपी दावानल को शान्त करके, अपने सिर को झुकाकर अब मैं साधु की शरण में जाता हूँ। साधु, जो दुर्जेय पंच महाव्रतों के पालन करने वाले पंच समिति, त्रिगुप्ति के धारक, जो नवविध ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले, सत्रह प्रकार के संयम को स्वीकारने वाले, जो विकृतियों एवं कषायों से विमुक्त हैं, जो दसविध यतिधर्म का पालन करने में सक्षम हैं, जो छःकाय जीवों की रक्षा करने वाले हैं, जो शान्तचित्त हैं, देहादि की ममता से रहित हैं- ऐसे सिद्ध मेरे शरण-भूत हों। जो नवकल्पविहार करने वाले, जो एक हजार आठ लक्षणों को धारण करने वाले, गृहस्थ-जीवन के त्यागी, निर्दोष आहार ग्रहण करने वाले, अठारह दोषों से रहित, पाँच इन्द्रियों पर विजय पाने वाले, जो सत्ताईस गुणों के धारक हैं- ऐसे सिद्ध भगवान् की शरण को मैं ग्रहण करता हूँ। इस साधुशरणरूपी चन्दन-रस से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ अब मैं धर्म की शरण को ग्रहण करता हूँ। धर्म वही है, जो पापकर्म के वशीभूत होकर पाप के दलदल में फंसे हुए प्राणियों का उद्धार करता है। अज्ञान-रूपी अन्धकार को दूर भगाकर सूर्य के समान प्रकाश देने वाले विषय-कषायों की अग्नि को शान्त करने वाले धर्म की शरण को मैं ग्रहण करता हूँ। तीर्थकर गणधर आदि अनेक लब्धियों से सुसज्जित अष्टकर्म व्याधि की चिकित्सा के लिये वैद्य के समान श्रेष्ठ लब्धियों से सुसज्जित, पापकर्मों का विनाश करने वाला, देव-गुरु तत्त्व को प्रकट करने वाला,

चिन्तामणि के समान, कामधेनु, व कल्पवृक्ष के समान, जयवन्त तीर्थकर प्रणीत धर्म मेरे लिए शरणभूत हो ।

प्रस्तुत कृति के अठारहवें दुष्कृत्यगर्हा-द्वार (गाथा 272-300) में यह बताया गया है कि क्षपक चार शरणों को ग्रहण कर दुष्कर दुर्गति के भंजन के लिए अपने दुष्कृत्यों की गर्हा करे और इस प्रकार कहे- अज्ञानता के कारण, कुमति के कारण, इस भव में, अन्य भव में जिन-सिद्धान्त के विरुद्ध जो प्ररूपणा की हो, कुदेव, कुगुरु, कुधर्म का आश्रय लिया हो, तीर्थों का उच्छेद किया हो तथा कुतीर्थों का निर्माण किया हो, ज्ञानादि मार्ग का लोप किया हो, कुतत्त्वों की प्ररूपणा की हो, उन सबकी मैं गर्हा करता हूँ। ज्योतिषशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, शकुनशास्त्र, कामशास्त्र आदि कुशास्त्रों का यदि निर्माण किया हो, तो मैं उसकी गर्हा करता हूँ। मेरे द्वारा अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं संघ का अवर्णवाद हुआ हो, मैंने शक्ति होते हुए भी धर्मकार्य नहीं किया हो, तो मैं उसकी गर्हा करता हूँ ।

आगे क्षपक अपने दुष्कृत्यों की निन्दा करते हुए कहता है- मैंने जिन-भवन को गिराया हो, जिन-प्रतिमाओं को खण्डित किया हो, गलाया हो, धर्म-ग्रन्थों का विक्रय किया हो, तो मैं उसकी निन्दा करता हूँ। मेरे द्वारा अतिचार, अनाचार, प्रमाद का सेवन किया गया हो, उत्सूत्र-प्ररूपणा की गई हो, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना में जो अतिचार लगे हों, अज्ञानतावश उसकी आलोचना न की हो, उनका प्रायश्चित्त नहीं किया हो, तो मैं उन सब पापों की निन्दा करता हूँ। मेरे द्वारा पूर्व में व्यक्त हाथी, घोड़े, ऊँट, वृषभ, जन-समूह, युवती, धन-सम्पत्ति, आभरण, वस्त्रादि का संग्रह किया गया हो, उसी प्रकार पूर्व में व्यक्त ग्राम, ग्राम-समूह, नगर, आश्रम, खेड़ा (कस्बा), कर्बट (बुरा शहर) का तथा लोह, ताम्र, रांगा, सीसा, आदि धातुओं का पुनः संचय किया हो, अथवा मेरे द्वारा इस जन्म में तथा अन्य जन्मों में निमित्त से नाना प्रकार के उपवनों आदि की जो हिंसा हुई हो, तो उसकी मैं गर्हा करता हूँ। खेत, गुल्मवाड़-वाड़ी तथा सन का खेत, गुलिक खेत, धर्मार्थ तरुरोपण आदि में हुए हिंसक कार्यों की भी मैं त्रिविध रूप से आलोचना करता हूँ । प्रपा, सभा, कूप, सरोवर, सारणि (नहर), पुष्करणि आदि मेरे द्वारा निर्माण करवाकर जनहित में समर्पित की गई, उनमें हुई हिंसा की आलोचना करता हूँ। हल, दांतली, घाणा-घाणी तथा यंत्र खरल, मिस-बट्टा, ऊखल, मुसल, चूल्हा-चूल्ही, प्रासाद, हाट, खाट, सिंहासन, शय्या, चंवर, भद्रासन आदि बनाए हों, सुखासन, वाहन रथ, रथयान, जहाज, नौका, गाड़ी आदि यंत्र तथा शकट, जलयात्रा के लिए जलयान, शिला, भाला, तलवार, तूणीर, धोकनी, श्रृंगी, धनुष, काष्ठ-वारणी, फलक, ओढन, बडिश (मछली पकड़ने का काँटा), जाल-बागुरा (मृगादि फंसाने का फंदा), भक्खल, पाश व अहिल्ला, इंजीर, नकुल, सांकल, बेड़ी आदि अनेक हिंसक उपकरण जो मेरे द्वारा इस जन्म में और अन्य जन्म में बनवाए गए या मेरे द्वारा उनकी अनुमोदना एवं प्रशंसा की गई हो, तो उन सबका मैं तीन करण तीन योग से त्याग करता हूँ। अन्य भी, जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध जो भी कार्य किए हों, उन सबका प्रायश्चित्त करता हूँ।

प्रस्तुत कृति के उन्नीसवें सुकृतानुमोदना-द्वार (गाथा 301-349) में यह बताया गया है कि क्षपक अब इस प्रकार निवेदन करता है- मैंने दुष्कृत्यों की आलोचना की, कर्मों को क्षय कर अब मैं सुकृत्यों की अनुमोदना करता हूँ। मैं जिनेश्वर भगवान् जो चौतीस अतिशय, आठ महाप्रतिहार्य से युक्त हैं, उनकी शरण ग्रहण करता हूँ। मैं अनन्त सिद्ध भगवान्, जो अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुखवीर्य से संयुक्त हैं, उनकी अनुमोदना करता हूँ। मैं आचार्य भगवान् के छत्तीस गुणों की अनुमोदना करता हूँ। वे पाँच आचार के पालक एवं छत्तीस गुणों से युक्त हैं। मैं उपाध्याय भगवान् के गुणों का वर्णन

करता हूँ। जो ग्यारह अंग, बारह उपांग, चार मूल-सूत्र, चार छेदसूत्र के ज्ञाता हैं, चरण सत्तरी, करण-सत्तरी के ज्ञाता हैं, पठन-पाठन में कुशल- ऐसे उपाध्याय भगवान् की मैं सम्यक् अनुमोदना करता हूँ। पांच समिति, तीन गुप्ति का पालन करने वाले, दस प्रकार के यतिधर्म का पालन करने वाले- ऐसे श्रमण-श्रमणियों की मैं सम्यक् अनुमोदना करता हूँ। सामायिक करने वाले, पौषध करने वाले, अणुव्रतों को ग्रहण करने वाले, विधिपूर्वक जिनेन्द्र पूजा करने वाले श्रावक-श्राविकाओं की मैं अनुमोदना करता हूँ। जिन-भगवान् के जन्म पर, महर्षियों के पारणे पर उत्सव करने वाले, जिन-शासन में भक्ति रखने वाले प्रमुख देवों की मैं अनुमोदना करता हूँ। मैं धन्य हूँ कि मुझे सम्यग्ज्ञान, सम्यक्दर्शन, सम्यक्चारित्र-रूप त्रिरत्नों की आराधना करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। मेरे द्वारा आचार्यों, वाचनाचार्यों, स्थविरों, नवदीक्षित साधुओं, क्षपकों, ग्लानों की जो भी वैयावृत्य की गई, तथा मेरे द्वारा पाँच समिति, तीन गुप्ति का जो सम्यक् प्रकार से परिपालन किया गया, मेरे द्वारा शास्त्रों का पठन-पाठन किया गया, कालोकाल-प्रतिलेखन तथा आवश्यकदि क्रिया से की गई दस प्रकार की सामाचारी का पालन किया गया, धर्मदेशना दी गई, नवदीक्षित साधुओं को पढ़ाने के लिये अपूर्व शास्त्रों का अवगाहन किया गया, विनयशील शिष्य तैयार किए गए, उग्र परिषहों को सहन किया गया, बयालीस दोषों को टालकर निर्दोष भिक्षादि ग्रहण की गई, शान्तिपूर्वक केशलुंचन करवाया गया, पाँचों इन्द्रियों को वश में किया गया, भव्य जीवों को प्रतिबोध देकर उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग में स्थापित किया गया- इनमें से जो भी कल्याणकारी कार्य मेरे द्वारा अनुष्ठित किए गए हों, उनकी मैं अनुमोदना करता हूँ। क्षपक आगे कहता है- मैं धन्य हूँ कि मैंने मिथ्यात्व का त्याग कर चिन्तामणि के समान सम्यक्त्वरूपी रत्न को प्राप्त किया, देव-दुर्लभ जिन-धर्म को मैंने प्राप्त किया, पापरूपी आश्रव का निवारण करने वाला सुगुरु का उपदेश मेरे द्वारा श्रवण किया गया, मेरे द्वारा जीव-अजीव नौ तत्त्वों का ज्ञान किया गया, तीर्थ-यात्रा, गुरुयात्रा, रथयात्रा, अनुष्ठित की गई, चैत्यालय बनाकर उसमें त्रिजगपूज्य मनोहर प्रतिमाएं प्रतिष्ठित करवाई गई, मेरे द्वारा संघपूजा की गई। महान् अभिग्रह-धारी को अनेक बार आहार-दान दिया गया, मेरे द्वारा वाचनालय का निर्माण करवाया गया, मेरे द्वारा भव्य जीवों को प्रतिबोध देकर प्रव्रज्या-उत्सव सम्पन्न करवाए गए, मेरे द्वारा मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया गया, औषधशालाओं का निर्माण किया गया एवं परिग्रह-परिमाण-व्रत ग्रहण किया गया, प्रतिमाओं को सुसज्जित करने के लिए श्रीवत्स-तिलक-मुकुट आदि आभरण बनवाए गए, आजीवन दोनों समय सामायिक का अनुष्ठान किया गया, जो ग्लान-वृद्ध साधु हैं, उनकी भक्तिभावपूर्वक सेवा की गई, मेरे हृदय में आजन्म गुरुभक्ति धारण की गई, विद्यार्थियों के लिए स्कूलों का निर्माण करवाया गया- इस प्रकार, अन्य भी जो सुकृत कार्य जिन भगवान् के वचनों के अनुसार किए गए, करवाए गए या उन्मोदित किए गए, उन सबकी मैं अनुमोदना करता हूँ।

प्रस्तुत कृति के बीसवें क्षमायाचना-द्वार (गाथा 350-469) में यह कहा गया है कि क्षपक अब अपने सुचरित्र की अनुमोदना करके, पापों का प्रक्षालन करके, अब चार गति के जीवों को समभावपूर्वक क्षमा करता है। नारकीय-जीवों के दुःखों का स्मरण करता हुआ क्षपक कहता है- वहां भी रत्नादि पृथिवियों के भेद से भिन्न परमाधर्मी को परस्पर क्षेत्रज-वेदना व अपने आप को दिए जाने वाले दुःखों से दुःखी नारकों के कुम्भीपाक, तीक्ष्ण सूलीकारोहण, वैतरणी नदी-तारण, तपे हुए लोहे की पुतली का संग, सीसा-पान, अत्यधिक भार से भरे हुए रथ को खींचना, भुजियों के समान तला जाना, रसयुक्त पदार्थ के समान गलाया जाना, लोहे के अंगारों को खिलाया जाना आदि अनन्तकाल से मेरे द्वारा जो दुःख दिए गए, उन सबके लिए मैं क्षमा-याचना करता हूँ। अब मैं तिर्यचों को भी

क्षमा करता हूँ। उसमें भी एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक पाँच प्रकार के जीव होते हैं, पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय पांच प्रकार के हैं तथा वे सूक्ष्म व बादर भी हैं, उनमें से सूक्ष्म एकेन्द्रियों से पर्याप्त-अपर्याप्त भेद के प्रति मेरे द्वारा जो भी दुष्ट कर्म किए गए हों, उनकी भी मैं तीन योगों से गर्हा करता हूँ। उसके उपरान्त मैं बादर-एकेन्द्रियों को क्षमा करता हूँ। भवभ्रमण करते हुए मेरे द्वारा मिट्टी, खड़ी, तुयारि, ऊस, अरणेटक, गेरू, लवण, प्रवाल, हेमान्तिका, धातु रत्न, मणि, स्फटिक, मनःशिल, काला नमक, सेंधव, हिंगुल, पाषाण-प्रमुख पृथ्वीकाय आदि जीवों की विराधना हुई हो, तो मैं उनसे क्षमा-याचना करता हूँ। मेरे द्वारा हिम, ओला, ओस, धनोदधि अपकाय के जीवों का वध हुआ है, तो मैं क्षमा-याचना करता हूँ। मेरे द्वारा उल्का, विद्युत्-अंगार, ज्वालादि तेजस्काय के जीवों की विराधना हुई हो, तो मैं क्षमा-याचना करता हूँ। मेरे द्वारा सघन वायु, मण्डलिक वायु, विस्तीर्ण वायु, शुद्ध वायु, चक्रवात आदि वायुकाय के जीवों को त्रास पहुंचाया गया हो, तो मैं क्षमा-याचना करता हूँ।

वनस्पति-जीव दो प्रकार के कहे गए हैं- साधारण व प्रत्येक, जिनके एक जीव के क्रमशः एक व अनन्त शरीर होते हैं। अनन्तकाय वाले वनस्पति-जीव साधारण वनस्पति-जीव होते हैं। मूली, शुकरी, वल्ल, अदरक व सभी प्रकार की कंद-जाति, हल्दी, सूरणकंद व वज्रकंद, गाजर, किसलय पत्रादि, गिरिकर्णी, लवणक, वृक्ष-छाल, अमरबेल तथा ऐसे ही अन्य भी साधारण वनस्पतिकाय के जीव जिनका मेरे द्वारा घात किया गया हो, उन सबसे मैं क्षमा-याचना करता हूँ। अब प्रत्येक वनस्पति-काय के जीवों से क्षमा-याचना करता हुआ क्षपक कहता है- धव, खैर, पलाश, नीम, जामुन, सहकार आदि अनेक प्रकार के तरुओं के प्रति मेरे द्वारा बुरा किया गया हो, तो मैं क्षमा-याचना करता हूँ। शंख, सीप, कपर्द, गण्डोल, अलसिया, जोंक आदि बेइन्द्रिय-जीव, जो मेरे द्वारा पीड़ित किए गए, उन सबसे मन, वचन, काया से क्षमा-याचना करता हूँ। मेरे द्वारा पिपीलिका, चींटी, कुन्थु, खटमल, जूँ, मकड़ी, कानखजूरा, गोगिड़ा, गुबरेला आदि तेइन्द्रिय-जीवों का वध हुआ हो, तो मैं उन सबसे क्षमा-याचना करता हूँ। मेरे द्वारा बिच्छू, मच्छर, मक्खी, डांस, भ्रमर, भ्रामरी, पतंगा, जुगनू, कंसारी आदि किन्हीं भी चतुरिन्द्रिय-जीवों का वध हुआ हो, तो मैं उन सबसे क्षमा-याचना करता हूँ।

मेरे द्वारा मत्स्य, कच्छप, ग्राह, सुंसुमार, जलमानुषादि जो भी जलचर जीव हनन किए गए हों, तो मैं उनसे भी क्षमा-याचना करता हूँ। मेरे द्वारा हरिण, हरि, बाघ, चीता, संबर, गोरखर, शूकर, सियार, शरभ, वृक (भेड़िया), रीछ, रोजड़ा या नीलगाय, ऊँट, घोड़ा, खच्चर, गधा, गाय, बैल, भैंस, बकरी, भेड़, श्वान आदि प्रमुख जिन भी थलचर जीवों की विराधना की गई हो, तो मैं क्षमा-याचना करता हूँ।

मेरे द्वारा भारंड, मोर, कोयल, बगुला, हंस, शुक, सारस, कौशिक, कौआ, चक्रवाक, चातक आदि खेचर-जीवों को कष्ट पहुंचाए गए हों, तो मैं उन सभी से क्षमा-याचना करता हूँ। कृष्ण व गौर सर्प, कर्कोटक, पद्म व नागिनी, अजगर आदि प्रमुख जो मेरे द्वारा संतप्त हुए हों, मैं उन सभी से क्षमा-याचना करता हूँ।

नेवला, कोल, सांडा, गिलहरी, छिपकली, गिरगिट आदि भुजपरिसर्प, जो मेरे द्वारा हताहत हुए हों, मैं उनसे भी क्षमा-याचना करता हूँ। मनुष्य समूर्च्छिम व गर्भज के भेद से दो प्रकार के होते हैं। मनुष्य-क्षेत्र में रहने वाले, संख्यासंख्य, उच्चार, श्लेष्म, प्रस्रवन, नमनपूति, रुधिर, विकृत कलेवरों आदि अशुचि स्थानों में पैदा होने वाले, अंगुल के असंख्यातवें भाग के समान सूक्ष्म अन्तमुहूर्त आयु

वाले, असंज्ञी-मिथ्यादृष्टि, अपर्याप्त समूर्च्छिम मनुष्य जो मेरे द्वारा हनन किए गए हों, उन सभी से भी मैं क्षमा-याचना करता हूँ।

कर्मभूमि के पांचों भरत-क्षेत्रों में, पांचों विदेह-क्षेत्रों में एवं भरत-पंचक तथा ऐरावत-पंचक में रहने वाले मनुष्यों की रंचमात्र भी विराधना की हो, तो मैं त्रिविध रूप से क्षमा-याचना करता हूँ।

इसी प्रकार, अकर्म-भूमि के पांचों हेमवतों में, पांचों हरिवर्षों में, पांचों देवकुरुओं में, पांच उत्तरकुरुओं में तथा रम्यक्वर्ष पंचक में, पांच हिरण्यव्रतों तथा छप्पन अन्तरदीपों में जिन भी मानव को मेरे द्वारा कष्ट पहुँचाए गए हों, तो मैं उन सभी से क्षमायाचना करता हूँ। असुरकुमार आदि की व भवनपतियों की दस जातियों के प्रति मेरे द्वारा जो कोई भी प्रतिकूल कर्म विधित या अनुष्ठित हुआ हो एवं अम्ब तथा पन्द्रह प्रकार के परमाधर्मिक-देव आदि के प्रति अवज्ञा हुई हो, तो मैं क्षमायाचना करता हूँ। सोलह प्रकार के अल्पाद्य व महाद्य वनचर-देवों के प्रति एवं जृम्भक आदि अन्य दस प्रकार के व्यन्तर-देवों को भी वैरानुबन्ध के कारण संताप दिया हो, तो मैं क्षमायाचना करता हूँ।

सौधर्मादि बारह प्रकार के वैमानिक-देवों को भी मेरे द्वारा बाधा उत्पन्न हुई हो, तो मैं उनसे भी क्षमायाचना करता हूँ। तीन किल्बिषिक, सारस्वतादि, लोकान्तिक-देवों को मिथ्यात्व के वशीभूत होकर रागद्वेष किया हो, तो मैं सर्वतोभावेन निन्दा करता हूँ। नवविध ग्रैवेयक, पांच प्रकार के अनुत्तर-वैमानिक-देवों की जो अज्ञानतावश आशातना की हो एवं नरक में उत्पन्न होने से नारकियों को भी मैंने प्रताड़ित किया हो, उनके लिए जो दुःख रचे हों, उनके लिए भी मैं क्षमायाचना करता हूँ। इसी प्रकार, मिट्टी, लवणादि के भेद से पृथ्वीकायिक-जीवों के रूप में उत्पन्न होने से मधुर आहारादि विविध भेद से अप्कायिक-जीवों के रूप में उत्पन्न होने से, विद्युत, अंगार, ज्वालामय रूपी तेजस्काय-जीवों के रूप में उत्पन्न होने से सघन व विरल पवनरूपी वायुकायिक-जीवों के रूप में उत्पन्न होने से, प्रत्येक वनस्पतिकाय एवं साधारण वनस्पतिकाय के रूप में जन्म लेने से- इस प्रकार इन पांच प्रकार के जीवों को दुःखित किया हो, तो मैं क्षमायाचना करता हूँ। शंख, कोड़ी आदि बेइन्द्रिय-जीवों के बीच उत्पन्न होने से मेरे द्वारा जो जीव दुःखित हुए हैं, उसकी मैं निन्दा करता हूँ। इसी प्रकार, तेइन्द्रिय-जीवों के रूप में उत्पन्न होने से आहार के लिए एवं अज्ञान-दोष से जिन प्राणियों की विराधना की हो, उनके लिए मैं क्षमा-याचना करता हूँ। इसी प्रकार, जब मेरा जीव बिच्छू, मकड़ा आदि चतुरिन्द्रिय-जीवों के रूप में गया, तब मेरे द्वारा जिनको परेशान किया गया, उन सभी की मैं त्रिविध गर्हा करता हूँ। मत्स्य, मगरादि जलचर-जन्म पाने से जो जीव मारे या क्षुधावश निहत किए गए हों, उनके लिए भयभीत होकर क्षमापना करता हूँ। चीता, सिंह आदि थलचर जीवों के मध्य उत्पन्न होने से मेरे द्वारा जो जीव वध किए गए, उन सबसे मैं त्रिविधि क्षमायाचना करता हूँ। गिद्ध, भिलुक, हुलाहित, श्येनादि क्रूर खेचरों के रूप में जन्म लेने से जिन जीवों को मारा, उन सबसे मैं क्षमायाचना करता हूँ।

सांप, अजगर आदि उरपरिसर्प-गति में उत्पन्न होने से जिन किन्हीं प्राणियों को डंसा-ग्रसा हो, तो उन सबसे मैं क्षमा-याचना करता हूँ। गोह, नेवला आदि भुजपरिसर्प-जाति के रूप में उत्पन्न होने से, जिन किन्हीं प्राणियों को दुःखित किया हो, वे मुझे क्षमा करें।

गर्भज-मनुष्यत्व में उत्पन्न होकर मेरे द्वारा जो पापकर्म किए गए, उन सबकी पश्चाताप सहित निन्दा करता हूँ।

राग-द्वेष के कारण अमनोज्ञ व मनोज्ञ शब्दों से जो कर्म अर्जित किए गए, उनकी निन्दा करता हूँ।

चक्षुरिन्द्रिय की मूढ़ता के कारण इष्ट व अनिष्ट रूपों में राग व द्वेष किया, उसका त्रिविध त्याग करता हूँ। प्रगाढ़, घ्राण-आसक्ति के कारण मेरे द्वारा पूर्व में गन्धोन्मत्त, कस्तूरी-मृग आदि प्राणियों का वध किया या कराया गया हो, तो इसके लिए मन, वचन और काया से क्षमा मांगता हूँ। रसनेन्द्रिय की मूर्च्छा के कारण यदि अगणित मत्स्य, मृगादि का वध किया हो, तो उन सबसे अब भव भय से मन, वचन और काया से क्षमा-याचना करता हूँ।

स्पर्शनेन्द्रिय के वश मैं होकर मेरे द्वारा परयुवती के अवलोकन तथा संग द्वारा जो त्रिविध पापकर्म अर्जित किए गए, उनकी मैं निन्दा करता हूँ।

मिथ्यात्वभाव से मेरे द्वारा यज्ञों में जिन जीवों का वध किया गया, उनसे मैं क्षमायाचना करता हूँ।

परवशता से मेरे द्वारा जो झूठे दोषारोपण किए गए, चुगली की गई तथा दूसरों को ठगने के लिए मेरे द्वारा हर्षित होकर जो कार्य किए गए, उनकी मैं निन्दा करता हूँ। मेरे द्वारा बालघात, स्त्रीघात, अनाथघात, गर्भपात, ऋषिघात, विश्वासघात के कार्य किए गए हों, तो उनकी मैं सर्वथा निन्दा करता हूँ।

आर्यक्षेत्र में भी खटीक (कसाई), मछुआरा, व्याघ्र डोब आदि मिथ्यात्वग्रस्त पाप-जातियों में जन्म लेकर जो जीव मारे, उनके लिए क्षमा मांगता हूँ।

मैंने अज्ञानतावश जंगल जलाए हों, गांव जलाए हों, तालाबों का शोषण किया हो, तो उसके लिए मैं क्षमा-याचना करता हूँ। वशीकरण आदि मन्त्र-तन्त्रादि योगों द्वारा शाकिनी, योगिनी, भूत-पिशाच निग्रह करने तथा कौतुकादि कर्मों द्वारा जो जीव दुःखित हुए, उन सबके प्रति समभाव धारण करता हूँ। महारम्भ करते हुए जलयात्रा में व स्थूल-कर्मादान में वर्तन करते हुए मेरे द्वारा जो जीव वध किए गए, उनसे क्षमायाचना करता हूँ। जाने-अनजाने में, रागद्वेष से, अथवा मोह से जिन जीवों को दुःखी किया, वे सब मुझे क्षमा करें।

इस भव में या परभव में क्रोध, मान, माया, लोभ से, मन, वचन, काया से, हास्य, भय, शोक से या दुष्टकर्म से, आलस्य से किन्हीं जीवों का उपहास किया गया हो, उनकी तर्जना अथवा अवज्ञा की हो, तो मैं वैराणुबन्ध से अलग होकर मैत्रीभाव से क्षमायाचना करता हूँ।

मैंने अनेकों को रणभूमि में मारा, अनेकों को सजा दी, अनेकों को मारा, आखेट में वध किए, अन्यो को भी स्वर्ग ग्रहण कराया, अनेकों को दुर्वचन कहे, अन्यो को कुम्भीपाक में गिराया, अनेकों को कारागार में ठूसा, अनेकों को समाज में अपमानित किया, अनेकों के पैरों में बेड़ियां डलवाई, अथवा सांकल से बंधवाया, किसी को धूर्तता से मरवाया, किसी पर नखों से आक्रमण करवाया, किसी को पेड़ से बांधा, किसी को गड़ढे में गाड़ दिया, किसी की दोनों आंखें निकलवा ली, कान कटवा दिए व दांत भी गिरवा दिए, किसी के होंठ कटवा दिए, किसी को उद्वेलित किया, परितप्त किया, तृषित किया, उन सभी से मैं मन, वचन और काया से क्षमायाचना करता हूँ। भवनपतियों के मध्य असुर आदि दस भेदों में उत्पन्न जो भी जीव दुःखित किए, उनसे क्षमा-याचना करता हूँ।

वनचरों के सोलह भेदों में उत्पन्न होकर जिन जीवों को खेल-खेल में निहत किया, वे दुष्कृत मिथ्या हों।

दस प्रकार के जृम्भक देवों में उत्पन्न होकर मूढ़तावश अशुभ चित्त से जिन कर्मों को अर्जित किया, उनकी मैं निन्दा करता हूँ।

ज्योतिष-देवों में उत्पन्न होकर जिन जीवों की विराधना की, उन सबसे क्षमा-याचना करता हूँ। वैमानिक-देवत्व पाकर राग-द्वेषवश मेरे द्वारा जो भी जीव कंगाल बनाए गए, उन सबसे क्षमा

मांगता हूँ। कित्विषिकों में उत्पन्न होकर खिलखिलाते हुए जो पाप किए गए, उनकी मैं निन्दा करता हूँ।

सारस्वतादि देवों के रूप में उत्पन्न होकर मेरे द्वारा जो दुःखद कार्य हुए, उनकी त्रिविध निन्दा करता हूँ।

गैवेयक व अनुत्तर-विमानों में उत्पन्न होकर जीवों के लिए मन से भी जो दुःखद विचार किए, मेरे वे पाप मिथ्या हों।

प्रस्तुत कृति के इक्कीसवें स्वजनक्षामणा-द्वार (गाथा 470-478) में क्षपक अपने परिजनों से क्षमा-याचना करता है। वह कहता है- नारक, तिर्यच, नर, अमर जीवों से क्षमा-याचना करके अब मैं अपने स्वजनों (पारिवारिक-लोगों) से क्षमा-याचना करता हूँ। माता, पिता, भ्राता, पुत्र, मित्र, भगिनियां, वधुएं, भाभियां, पति, पत्नी, सास-ससुर आदि स्वजनों, अन्य भी बंधु-बांधव आदि स्वजन मेरे द्वारा कठोर वचनों से तिरस्कृत किए गए, अथवा अज्ञानतावश तर्जना, ताड़ना द्वारा दुःखित किए गए, उन सबसे मैं सम्यक् रूप से क्षमायाचना करता हूँ। मेरे द्वारा चुगली या ईर्ष्या की गई, झूठे दोषारोपण व मर्मभेदी भाषण किए गए, अथवा दुःखित स्वजनों की अपनी शक्ति होते हुए भी सहायता नहीं की गई, उनसे सम्पत्ति के लिए झगड़ा किया हो, उनका सम्यक् विनय नहीं किया हो, तो मैं उन सबसे क्षमा-याचना करता हूँ।

प्रस्तुत कृति के बाईसवें संघक्षामणा-द्वार (गाथा 479-489) में सकल संघ से क्षमा-याचना करने का उल्लेख है। इसमें क्षपक अपने स्वजनों (कौटुम्बिक-जनों) से क्षमा-याचना करने के पश्चात् विनयपूर्वक सकल संघ से क्षमायाचना करता है।

पंच महाव्रतों से युक्त सच्चरित्री, सुसाधुओं तथा सुसाध्वियों से एवं सम्यक्त्वयुक्त सुश्रावकों व सुश्राविकाओं से गठित- ऐसा तीर्थकरों से पूजित चतुर्विध-संघ सुर, असुर नरेंद्रों के लिए भी नमनीय है। संघ की अवज्ञा करने वाले जीव संसार में परिभ्रमण करते हुए नरकादि के दुस्सह दुःख सहते हैं।

यह संघ सर्व इच्छाओं को पूर्ण करने वाले कुम्भ के समान है, कल्पवृक्ष के समान है, शिव, सुख, सम्पत्ति को देने वाला तथा कामधेनु व चिन्तामणि-रत्न के समान है। ऐसे संघ के विनय के फलस्वरूप जीव सुर, असुर, चक्रवर्ती बलदेव, वासुदेव आदि की ऋद्धि एवं तीर्थकर व गणधर-पद को भी प्राप्त करते हैं।

संघ संसार-समुद्र को पार करने के लिए जहाज के समान तथा मोक्षसुख को पाने के लिए सीढ़ी के समान है। संघ करुणा का सागर है, गुणमणियों की श्रेष्ठ निधि है, जिससे मोह, पाप व प्रमाद रुठ जाते हैं, अतः मैं अत्यधिक हर्षित होकर, अंजलिबद्ध होकर संघ के प्रति समस्त अपराधों के लिए क्षमापना करता हूँ। आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिकों, कुलगण के प्रति मैंने जो कषाय किया हो, मैं उन सब से क्षमायाचना करता हूँ।

प्रस्तुत कृति के तेईसवें जिनवरादिक्षामणा-द्वार (गाथा 490-502) में यह बताया गया है कि अब क्षपक संघ से क्षमायाचना करके पूर्ण रूप से विरक्त होकर सभी जिनवरों से क्षमा-याचना करते हुए कहता है- भरत, ऐरावत व विदेह-क्षेत्रों में भूत, भविष्यत् व वर्तमान में रहे हुए तीर्थकरों से, गणधरों से, केवलज्ञानी जिनेश्वरों से क्षमा-याचना करता हूँ। भरतक्षेत्र में होने वाले पद्मनाभ आदि भावी जिनेश्वरों से क्षमा-याचना करता हूँ।

भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पुण्डरीक आदि गणधरों से लेकर पंचम आरे के अंतिम आचार्य दुप्पसह मुनि पर्यंत सभी आचार्यों एवं उनके श्रमणसंघ के तथा बाहरी प्रमुख प्रथम साध्वी ब्राह्मी से

लेकर इस अवसर्षिणीकाल की अंतिम फाल्गुनी साध्वी पर्यंत पवित्र साध्वियों से, श्रेयांस आदि से लेकर नागिल पर्यंत श्रावकों एवं सुन्दरी प्रमुखा से लेकर सत्यश्री पर्यंत सभी श्राविकाओं से मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव, केवलज्ञान धारण करने वालों से, चौदह पूर्वधारियों से एवं बारह अंग के ज्ञाता ज्ञानी मुनियों से, नवपूर्वियों से, ग्यारह अंग को धारण करने वाले प्रमुख मुनियों से, जिनकल्पियों से, परिहारविशुद्ध-चारित्र के पालक मुनियों से, लब्धिधारी मुनियों से, बारह चक्रदेवों, नौ बलदेवों, नौ वासुदेवों, नौ प्रतिवासुदेवों से तथा जिनेश्वरों के श्रेष्ठ माता-पिताओं के प्रति मेरे द्वारा अनन्त संसार में भ्रमण करते हुए मोह से आविष्ट होकर, अथवा रति-अरति द्वारा, या चित्त के कषाययुक्त होने से जो कुछ भी अपराध हुए हों, उन सबके लिए अपने-आप से विनयपूर्वक शीश झुकाकर क्षमा-याचना करता हूँ।

प्रस्तुत कृति के चौबीसवें आशातनाप्रतिक्रमण-द्वार (गाथा 503-513) में क्षपक साधक कहता है- इस प्रकार, सिद्धादि से क्षमायाचना करके अब मैं आशातना-दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। वे इस प्रकार हैं-

(अ) गुरु-सम्बन्धी तैंतीस आशातनाएं

1-9. गुरु से अति निकट होकर उनके आगे-पीछे, दाएं-बाएं चलना, खड़े रहना, अथवा बैठना, 10. गुरु से पहले आचमन करना, 11. गुरु को बताए बिना आलोचना कर लेना, 12. अश्रवण- पलटकर जवाब देना, 13. गुरु से पहले ही उत्तर दे देना, 14. गुरु को छोड़कर किसी अन्य के पास गोचरी की आलोचना करना, 15. गुरु को छोड़कर दूसरों को गोचरी दिखाना, 16. गुरु से पहले दूसरों को आहार हेतु आमंत्रण देना, 17. भिक्षा लाकर गुरु की अनुमति के बिना दूसरों को आहार देना, 18. गुरु से पूर्व स्वयं अधिक मात्रा में आहार कर लेना, 19-20. गुरु के बुलाने पर भी जवाब न देना, 21. आसन पर बैठे-बैठे ही जवाब देना, 22. क्या कहते हो ? इस प्रकार जवाब देना, 23. गुरु के प्रति तुच्छ शब्दों, जैसे- 'तू' आदि का प्रयोग करते हुए बात करना, 24. गुरु के सामने बोलना, 25. गुरु के उपदेश से क्रुद्ध होना, 26. आपको यह बात याद नहीं है- गुरु को ऐसा कहना, 27. श्रोताओं को कहना कि यह बात मैं तुम्हें अच्छी तरह से समझाऊंगा, 28. प्रवचन-सभा भंग करना, 29. गुरु द्वारा प्रवचन समाप्त कर देने पर अपनी विद्वत्ता बताने हेतु पुनः प्रवचन प्रारम्भ करना, 30. गुरु के आसन आदि को पांव लगाना, 31. गुरु के शय्या-आसन पर बैठना, 32. गुरु से ऊपर बैठना, 33. गुरु के बराबर बैठना।

गुरु-सम्बन्धी तैंतीस आशातनाओं का प्रतिक्रमण करके अब मैं उन्नीस आशातनाओं का प्रतिक्रमण करता हूँ-

1. अरिहन्तों की आशातना, 2. सिद्धों की आशातना, 3. आचार्यों की आशातना, 4. उपाध्यायों की आशातना, 5. साधुओं की आशातना, 6. साध्वियों की आशातना, 7. श्रावकों की आशातना, 8. श्राविकाओं की आशातना, 9. देवों की आशातना, 10. देवियों की आशातना, 11. इस लोक की आशातना, 12. परलोक की आशातना, 13. केवली-प्ररूपित धर्म की आशातना, 14. देव, मनुष्य, असुर सहित समग्र लोक की आशातना, 15. सर्व प्राणभूत जीवों की आशातना, 16. काल की आशातना, 17. श्रुतशास्त्र की आशातना, 18. श्रुतदेवता की आशातना और 19. वाचनाचार्य की आशातना।

इन उन्नीस में से प्रत्येक आशातना का प्रतिक्रमण करके शेष सूत्रविषयक निम्न चौदह आशातनाओं का भी प्रतिक्रमण करता हूँ-

1. व्याविद्ध— सूत्रों को या पाठ के अर्थों को आगे-पीछे किया हो, 2. वच्चोमेलियं— शून्यचित्त से पढ़ा हो, 3. हीणक्खरं— अक्षर छोड़कर पढ़ा हो— एक सूत्र का पाठ दूसरे सूत्र से मिलाया हो, 4. अच्चक्खरं— अधिकाक्षर जोड़ा हो, 5. पयहीणं— पदों को छोड़कर पढ़ा हो, 6. विणयहीणं— शास्त्र एवं शास्त्राध्यापक का समुचित विनय नहीं किया हो, 7. योग—जोगहीणं— सजगतापूर्वक नहीं पढ़ा हो, 8. घोषहीणं— सम्यक् उच्चारण सहित न पढ़ा हो, 9. सट्टुहीणं— अधिक ग्रहण की योग्यता रखने वाले शिष्य को भी अधिक पाठ दिया हो, 10. दुट्टुपडिच्छिन्नं— दुष्प्रतिच्छित्त वाचनाचार्य द्वारा दिए गए पाठ को दुष्ट भाव से ग्रहण किया हो, 11. अकाले कओ सज्झाओ— कालिक—उत्कालिक सूत्रों को निषिद्ध समय में पढ़ा हो, 12. काले न कओ सज्झाओ— स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय नहीं किया हो, 13. असज्झाए सज्झाइयं— अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय किया हो, 14. सज्झाए न सज्झाइयं— स्वाध्याय के समय स्वाध्याय न किया हो।

प्रस्तुत कृति के पच्चीसवें कायोत्सर्ग—द्वार (गाथा 514—519) में यह कहा गया है कि क्षपक आशातना व प्रत्येकाशातना का प्रतिक्रमण करके अब क्षपक अनशन—आराधना के लिए विधिपूर्वक कायोत्सर्ग करता है। गुरु के चरण—कमल में नमन करके क्षपक इस प्रकार विनती करता है— भगवन् ! आपकी आज्ञा से मैं भक्तपरिज्ञा करता हूँ। इस प्रकार, क्षपक का दृढ़ निश्चय जानकर वह (गुरु) संघ को विनम्र विनन्ती करके कहता है— “जैसी तुम्हारी इच्छा।” ऐसा कहकर सुगुरु संघ—क्षपक युगल को उठाता है, तब संघ, क्षपक व गुरु भी कायोत्सर्ग करते हैं। क्षपक के समाधिमरण सम्बन्धी निश्चय को जानकर गुरु क्षपक को कायोत्सर्ग करने की अनुमति देते हैं, साथ ही वे उपस्थित संघ सहित क्षपक की आराधना बिना किसी उपसर्ग के शान्तिपूर्वक सम्पन्न हो, इस हेतु कायोत्सर्ग करते हैं। यह कायोत्सर्ग पच्चीस श्वासोच्छ्वास का होता है। इसमें चार नमस्कार—महामंत्र अथवा चतुर्विंशतिस्तव का पाठ किया जाता है।

प्रस्तुत कृति के छब्बीसवें शक्रस्तव—द्वार (गाथा 520—521) के प्रारम्भ में यह बताया गया है कि अब क्षपक कायोत्सर्ग—विधि को पूर्ण करके, पूर्व—दिशा की तरफ मुख करके, पद्मासन में स्थिर होकर वैराग्यपूरित, हर्षयुक्त वाणी से संघ के सम्मुख शक्रस्तव का नमोऽस्थुणं से संपत्ताणं तक पाठ करता है।

प्रस्तुत कृति के सत्ताईसवें पापस्थान त्याग—द्वार (गाथा 522—539) में क्षपक कहता है— अब मैं सम्यक् रूप से अठारह पापों का परित्याग करता हूँ। यह कहकर गुरु के चरणों में नमन करके क्षपक पुनः कहता है— मैं जीवन—पर्यन्त के लिए सभी प्रकार से जीवहिंसा आदि पापस्थानों का त्याग करता हूँ। फिर, यह क्षपक क्रमशः अठारह पाप—स्थानों के त्याग का कथन करता है। वे अठारह पाप—स्थान इस प्रकार हैं—

1. प्राणातिपात 2. मृषावाद 3. अदत्तादान 4. मैथुन 5. परिग्रह 6. क्रोध 7. मान 8. माया 9. लोभ 10. राग 11. द्वेष 12. कलह 13. अभ्याख्यान 14. रति—अरति 15. पैशून्य 16. परपरिवाद 17. मायामृषावाद और 18. मिथ्यादर्शनशत्य।

इन अठारह पाप—स्थानों का सेवन करने से किन व्यक्तियों को किस प्रकार की हानि हुई, या इनके त्याग करने से किन्हें लाभ हुआ, तत्सम्बन्धी नाम—निर्देश हुआ है, जो निम्नानुसार है—

1. हिंसा के सम्बन्ध में दमक एवं श्रावक—सुत का आख्यान है।
2. असत्य भाषण में वसु एवं श्यामार्य के कथानक प्रसिद्ध हैं।

3. अदत्तादान का सेवन करने से ललितगोष्ठी किस प्रकार विनाश को प्राप्त हुआ और अदत्तादान-व्रत का ग्रहण करने से नागदत्त का किस प्रकार से कल्याण हुआ, तत्सम्बन्धी कथानक हैं।
4. मैथुनविरमण-व्रत, अर्थात् शीलव्रत का पालन करने वाले सुदर्शन का कल्याण किस प्रकार हुआ, काम-वासना से ग्रस्त मणिरथ का पतन किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्धी आख्यान हैं।
5. परिग्रह के सन्दर्भ में परिग्रह का त्याग करने वाले जम्बूस्वामी का कल्याण किस प्रकार हुआ एवं ममत्व मूर्च्छा रखने वाले मुम्न सेठ का पतन किस प्रकार हुआ, इनके आख्यान हैं।
6. क्रोध के सम्बन्ध में भगवान् महावीर और सिद्ध का आख्यान सुप्रसिद्ध है।
7. मान के सम्बन्ध में चन्दना व सुभूम चक्रवर्ती का कथानक प्रसिद्ध है।
8. माया के सम्बन्ध में आषाढभूति व अंगद का कथानक है।
9. लोभ के सम्बन्ध में लोभनन्दी एवं वज्र का आख्यान है।
10. राग के सम्बन्ध में सार्थवाही व आर्यरक्षित की कथा है।
11. द्वेष के सम्बन्ध में दमदन्त व स्कन्द का कथानक है।
12. कलह के सम्बन्ध में कूणिक व निधिवनी का आख्यान है।
13. अभ्याख्यान के सम्बन्ध में धनश्री व मेतार्य का कथानक है।
14. संयम के सम्बन्ध में रति-अरति के लिए शिवकुमार एवं ब्रह्मदत्त का दृष्टांत सुप्रसिद्ध है।
15. पैशुन्य के लिए सुबन्धु व मुनिपति का आख्यान है।
16. परपरिवाद के लिए सुभद्र के श्वसुर एवं शमित मुनि की कथा है।
17. माया-मृषावाद के सम्बन्ध में क्षपक, त्रिकूट, ग्रामेश्वर व विदेहवनी का आख्यान है।
18. मिथ्यादर्शन-शल्य में त्रिविक्रम एवं सुलसा का दृष्टांत है।

प्रस्तुत कृति के अट्ठाईसवें अनशन-द्वार (गाथा 540-567) में आगे यह बताया गया है कि अठारह पापस्थानों का त्याग करके क्षपक अनशन स्वीकार करने हेतु गुरुदेव से निवेदन करता है और कहता है- सभी द्वारों का सारभूत अनशन-द्वार है, अतः अब मैं अनशन ग्रहण करना चाहता हूँ। फिर, वह अनशन करने वाला क्षपक सिंह के समान शूरवीर होकर निर्यापकाचार्य के पास अनशन ग्रहण करने हेतु क्रिया करता है। क्रिया के उपरान्त निर्यापकाचार्य उस क्षपक को संघ के समक्ष और संघ की अनुमति से जीवन-पर्यन्त तीनों या चारों प्रकार के आहार के त्याग की प्रतिज्ञा करवाता है। क्षपक स्वयं भी कहता है- मैं इस जीवन के अन्तिम समय तक चारों प्रकार के आहार चार अपवादों के अतिरिक्त त्याग करता हूँ। वह प्रत्याख्यान-प्रतिज्ञासूत्र इस प्रकार हैं-

मैं जीवन के अन्तिम समय तक चतुर्विध-आहार अशन, पान, खादिम, स्वादिम का त्याग निम्न आपवादिक स्थितियों, यथा- अज्ञानदशा में, अथवा आकस्मिक रूप से मुख में रख लेने पर, अथवा वरिष्ठजनों के आदेश से, अथवा बहुत अधिक असमाधि या पीड़ा की स्थिति को छोड़कर, त्याग करता हूँ। त्रिविध आहार के त्याग का नियम भी इसी प्रकार किया जाता है, अन्तर यह है कि उसमें पेयजलादि का त्याग नहीं होता है। इसमें आगे कहा गया है कि ऐसी विशेष परिस्थिति में वरिष्ठजनों की आज्ञा से क्षपक साधक को शुद्ध जल या पेय पदार्थ देना कल्पता है। ऐसी परिस्थिति में क्षपक की समाधि के लिए तेल-मालिश आदि भी करना पड़े, तो उसमें कोई दोष नहीं है। क्षपक श्रावक के लिए इतना अन्तर है कि जब तक वह पापस्थानों के त्याग के लिए तत्पर न हो, तब तक उसे त्रिविध या चतुर्विध-आहार का त्याग नहीं कराना चाहिए। उसकी भी शेष समग्र विधि साधु के समान ही होती है। सागार या निरागार आमरण अनशन साधक जीवन के लिए उत्तम कोश के

समान है, पद्म-सरोवर के समान है। क्षपक भी मन में यह विचार करता है कि जीवन में ऐसे अपूर्व अवसर को प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसा चिन्तन करके सभी सांसारिक परिजनों के प्रति एवं अपने शरीर के प्रति भी ममत्व का त्याग करके समाधि में स्थिर रहने का प्रयत्न करता है। इस अवसर पर क्षपक इस प्रकार विचार करता है— मेरा यह शरीर मुझे सदैव प्रियकान्त मनोज्ञ रहा है। मैंने इसे चिन्तामणि रत्न या स्वर्णाभूषण के समान यत्नपूर्वक संभालकर रखा है। कीमती वस्त्रों के समान इसकी सार-संभा की है, सुरक्षा की है, यह मेरा शरीर कामधेनु, चिन्तामणि, भद्रघट के समान है। मैंने इसे सदी-गर्मी, भूख-प्यास, मच्छर, दुष्ट चोरों आदि से, वात-पित्त-कफ आदि जनित रोगों से मुक्त रखने का प्रयत्न किया है, यत्नपूर्वक इस शरीर की रक्षा की है। अब मैं इस शरीर के प्रति अनासक्त होकर चरम उच्छ्वास के साथ ही इसका त्याग करता हूँ। इस प्रकार चतुर्विध-आहार तथा निज देह के प्रति ममत्व का भी त्याग करके क्षपक-मुनि संधारे (मृत्यु-शय्या) पर आरूढ़ होकर पूर्वबद्ध कर्मों को क्षय करता है। सागार-अनशन में भी कायोत्सर्ग को छोड़कर आलोचना आदि से लेकर शक्रस्तव तक सर्व विधि इसी प्रकार की जाती है। इस प्रकार, क्षपक अठारह पापस्थानों का त्याग करके सभी प्रकार से चतुर्विध-आहार का भी त्याग करता है। चाहे क्षपक यावत्-जीवन चारों आहार का प्रत्याख्यान करता है, तो भी यदि कोई विशेष परिस्थिति उत्पन्न हो जाए, वह मूर्च्छित हो जाए, या कोई उपसर्ग आ जाए, तो चतुर्विध-आहार ले सकता है।

इसी प्रकार, यदि शरीर में समाधि नहीं रहे, चतुर्विध-आहार का त्याग करते ही शरीर में असमाधि हो जाए, विकट रोग उत्पन्न हो जाए, तो आपवादिक-स्थिति में उसे आहार-औषध आदि दिए जा सकते हैं, अतः समझदार व्यक्तियों का सागार-प्रत्याख्यान लेना उचित है।

अठारह पापस्थानों और चारों आहारों का त्याग करने के पश्चात् क्षपक यह निवेदन करता है— मैं भगवान् महावीर स्वामी को एवं शेष सभी जिनों को गणधरों सहित प्रणाम करता हूँ तथा सभी प्रकार से जीवहिंसा का, असत्य वचन का व अदत्तादान, मैथुन तथा परिग्रह का त्याग करता हूँ। तत्पश्चात्, क्षपक इस प्रकार क्षमा-याचना करता है— मेरे लिए सभी जीव समान हैं, मेरा किसी के प्रति वैर-विरोध नहीं है। मैं अब आशा-तृष्णा का भी परित्याग करता हूँ तथा समाधि-भाव को धारण करता हूँ।

प्रस्तुत कृति के उनतीसवें अनुशिष्टि-द्वार (गाथा 568-758) में यह बताया गया है कि निर्यापकाचार्य संस्तारगत (क्षपक) को कान में यह शिक्षा दे कि अनुशिष्टि अर्थात् अनुशासन के ये सत्रह प्रतिद्वार हैं, तुम्हें इनका विधिवत् पालन करना चाहिए।

(1) मिथ्यात्व-परित्याग (2) सम्यक्त्व-परिपालन (3) स्वाध्याय (4) पंच महाव्रतों की रक्षा (5) मदनिग्रह करना (6) इन्द्रिय-जय (7) कषाय-विजय (8) परीषह-सहन (9) उपसर्ग-सहन (10) अप्रमत्त रहना (11) आभ्यन्तर व बाह्य-तर्पों से रति (12) रागादि प्रतिषेध (13) नौप्रकार की आकांक्षाओं का वर्जन (14) कंदर्पादि पच्चीस कुभावनाओं का त्याग (15) संलेखना के अतिचारों का वर्जन (16) बारह शुभ भावनाओं का चिन्तन (17) पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का परिपालन। ये अनुशिष्टि (अनुशासन) के प्रतिद्वार हैं। प्रस्तुत कृति में आगे इन्हीं अनुशिष्टियों को विस्तार से समझाया गया है।

1. मिथ्यात्वत्याग-अनुशिष्टि-प्रतिद्वार —(गाथा 573-577) इसमें निर्यापकाचार्य उस समाधिस्थ साधक या क्षपक को समझाते हुए कहते हैं— हे सत्पुरुष ! सम्यक्त्व-आराधना के लिए तुम

भव-भ्रमण के मूल हेतु इस मिथ्यात्व का जीवनपर्यन्त के लिए तीन करण एवं तीन योग से त्याग करो ।

अग्नि, विष, कृष्ण सर्प आदि भी जीवन का उतना अहित नहीं करते हैं, जितना अहित तीव्र मिथ्यात्व के परिणाम करते हैं। अग्नि, विष आदि तो हमें एक ही जन्म में दुःख देते हैं, किन्तु मिथ्यात्व-मोह से मूढ़ तुम कहां-कहां नहीं भटके, छेदन-भेदन आदि किन-किन दुःखों को तुमने सहन नहीं किया, अतः यदि तुम संसार-सागर से तिर कर सिद्धपुर जाने की इच्छा करते हो, तो सभी प्रकार के मिथ्यात्व का मन-वचन-काया से त्याग करो ।

2. सम्यक्त्वाचरण-अनुशिष्टि-प्रतिद्वार -(गाथा 578-582)

इसमें निर्यापकाचार्य क्षपक को सम्यक्त्व के स्वरूप का बोध करवाते हुए कहते हैं- जैसे पृथ्वी धान्य की उत्पत्ति का आधार है, आकाश तारागणों का आधार है, वैसे ही सम्यक्त्व सभी गुणों का आधार है। जो क्षपक सम्यक्त्व से च्युत नहीं होता है, वह पूर्वबद्ध नरकादि आयु वाला न हो, तो नियम से देह-त्याग के पश्चात् ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव विमानवासी देवगति में ही उत्पन्न होता है। जिसने अन्तर्मुहर्त के लिए भी सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है, वह जीव संसार में अर्द्धपुद्गल-परावर्तनकाल से अधिक परिभ्रमण नहीं करता है।

3. स्वाध्याय-अनुशिष्टि-प्रतिद्वार- (गाथा 583-593)

परम-पद की प्राप्ति के लिए क्षपक को प्रयत्नपूर्वक वाचनादि पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना चाहिए। ज्ञान बंधु के समान है। ज्ञान ही मोह के अन्धकार को दूर करने में सूर्य के समान है। ज्ञान संसार-समुद्र को पार करने के लिए सुन्दर नौका के समान है। ज्ञान से ही संसार के सूक्ष्म एवं स्थूल सभी पदार्थों का ज्ञान होता है, इसलिए ज्ञान को सीखने का प्रयत्न करना चाहिए। संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ या परमार्थ नहीं है, जिसे स्वाध्यायशील व्यक्ति नहीं जान पाता हो। ज्ञान से ही व्यक्ति परम संवेग को भी प्राप्त करता है। स्वाध्याय में प्रवृत्त व्यक्ति पल भर में ही असंख्य भवों के कर्मों का क्षय कर लेता है। वीतराग द्वारा भाषित बारह प्रकार के बाह्य व आभ्यन्तर-तपों में से स्वाध्याय के समान तप-कर्म न तो है और न होगा, अतः सदैव स्वाध्याय में निरत रहना चाहिए। उत्कर्षतः स्वाध्याय चौदह पूर्वों एवं बारह अंगों का होता है और सबसे अल्प स्वाध्याय मात्र नमस्कार-मन्त्र का होता है।

स्वाध्याय करने से भिक्षु जितेन्द्रिय एवं तीन गुप्तियों से युक्त होता है तथा विनय से संयुक्त होता है। जैसे-जैसे वह शास्त्रों का अवगाहन करता है, वैसे-वैसे आनन्द-रस से परिपूरित होता जाता है और उसका मन आह्लाद से भर उठता है। स्वाध्याय से साधक का चित्त एकाग्र होता है तथा चित्त के चंचलतारहित होने से वह समाधिमरण का आराधक होता है।

4. पंच-महाव्रत-अनुशिष्टि-प्रतिद्वार -(गाथा 594-633)

इसमें निर्यापकाचार्य क्षपक को समझाते हुए कहते हैं- यदि तुमने एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों को मन, वचन, काया से कष्ट दिया हो, तो उसका परित्याग करो। मिथ्यादृष्टि भी जीवों की हिंसा करते हैं, किन्तु उनके द्वारा भी जीवों की रक्षा की जाती है। साधुओं को तो जीवों की रक्षा करना ही चाहिए। एकमात्र जीवदया ही करोड़ों लोगों का कल्याण करने वाली माता-तुल्य है। यह शत्रुत्व की भावना को नष्ट करने वाली तथा संसार-समुद्र को पार कराने वाली नौका के समान है। यह मैत्रीरूपी विपुल राज्य को देने वाली, विद्वेष से मुक्त करने वाली और मोक्षरूपी शाश्वत सुख को देने वाली है। पुनः, जो असंयमी निरंकुश साधक छःकाय के जीवों का वध करते हैं, वे दुःखद भव-भ्रमण करते रहते हैं।

हे क्षपक ! चाहे तुम कठोर तप करो, चाहे व्रतों को अंगीकार करो, चाहे गुरु की आज्ञा का अनुसरण करो, चाहे कठोर साधना भी करो, परन्तु यदि तुम जीव-रक्षा नहीं करते हो, तो तुम्हारी ये सब क्रियाएँ आकाश में फूल खिलाने के समान निष्फल होंगी, अतः यदि तुम संसार से विरक्त होकर वैराग्य-दशा को पाना चाहते हो, तो जिन भगवान् के वचनों को सुनकर एवं हिंसा के क्या-क्या दुष्परिणाम होते हैं, उन सबको समझकर अहिंसक जीवन जीने का प्रयत्न करो। दूसरे, मृषावादविरति-महाव्रत धारण करने वाले क्षपक को निर्यापकाचार्य समझाते हुए कहते हैं- हे क्षपक ! क्रोध के वश, लोभ के वश, हास्य के वश अथवा भय के वश होकर सूक्ष्म या स्थूल रूप से असत्य भाषण का विविध रूप से त्याग करो। सदैव प्रिय, हित, मित, मधुर, सावद्यरहित, छलरहित तथा सबको सुखकर लगे- ऐसे प्रशस्त वचन बोलो। सत्यवादी पुरुष सदैव माता के समान विश्वसनीय, गुरु के समान पूजनीय एवं स्वजन के समान सर्वप्रिय होता है। सत्य में तप, संयम आदि सर्वगुणों का समावेश हो जाता है। सत्यवादी पुरुष की अग्नि, जल, देव, नदी, पर्वत आदि भी रक्षक बनकर रक्षा करते हैं। सत्य से क्रूर ग्रहदशा भी टल जाती है, व्यक्ति का पागलपन दूर हो जाता है। सत्यवादी को देवता भी सदैव नमस्कार करते हैं एवं उसके आधीन हो जाते हैं। सत्यवादी की सर्वत्र प्रशंसा होती है, उसकी यश-कीर्ति का प्रसार होता है, जगत् में प्रसिद्धि होती है। जो व्यक्ति मृत्यु आने पर भी असत्य भाषण नहीं करता है, वह भाग्यवान् पुरुष कालकसूरि के समान राजा के यज्ञ-फल को भी निष्फल कर महासत्ता को प्राप्त करता है। जिनेन्द्र भगवान् के वचनानुसार असत्य वचन पापबन्ध के हेतु एवं आश्रव के द्वार हैं, काया से पाप नहीं करते हुए भी मिथ्या भाषण के कारण वसु राजा नरक में गया, अतः इस लोक व परलोक में दुःखों को न चाहने वाले क्षपक को मृषावाद का त्याग करना चाहिए।

तीसरे, अदत्तादानविरति-महाव्रत के धारक क्षपक को निर्यापकाचार्य अचौर्य-महाव्रत हेतु प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि क्षपक साधक को संसार की कोई भी वस्तु, चाहे वह सचित्त (सजीव) हो या अचित्त निर्जीव, अल्प मूल्य की हो या बहुमूल्य, बिना उसके मालिक की आज्ञा के ग्रहण नहीं करना चाहिए। अदत्तादान-त्याग-व्रत में मुनि को दन्तशोधन की शलाका भी बिना दिए लेने की इच्छा करने का भी निषेध किया गया है। जैसे पिंजरे में बन्द बन्दर फलों को खाने के लिए दौड़ता है, वैसे ही जीव परधन को देखकर उसे लेने की इच्छा करता है। प्रथम तो, मानव संसार का सम्पूर्ण धन प्राप्त ही नहीं कर सकता है और यदि उसे सम्पूर्ण धन मिल भी जाए, तो भी वह उसका भोग नहीं कर सकता है। कदाचित् यदि एक बार वह उसे भोग भी ले, तो उसके मन को तृप्ति नहीं होती है। कहा भी है- लोभ से लोभ बढ़ता है। लोभ के वशीभूत होकर मानव पर्वत, गुफा, सागर आदि में भी प्रविष्ट हो जाता है, अर्थात् असाध्य कार्य करते हुए मृत्यु को भी प्राप्त हो जाता है। धन के लिए व्यक्ति अपने प्रिय पारिवारिक-जनों का भी त्याग कर देता है। चोरी करने से जीव-हिंसा का भी दोष लगता है, क्योंकि धन व्यक्ति का ग्यारहवां प्राण है। जो जिसके धन की चोरी करता है, वह उसके प्राणों का ही हरण करता है। व्यक्ति के पास धन होने पर ही वह सुखद जीवन जीता है, अतः कभी-कभी व्यक्ति धन के लिए अपने प्राण भी दे देता है। दूसरे के धन का हरण करना आश्रव का द्वार है। चोर की दशा का विवेचन करते हुए कहा गया है कि चोर चोरी करके, कोई उसे पकड़ ना ले, इस आशंका से वह सदैव भयभीत रहता है, सुख से निद्रा भी नहीं ले सकता है, हरिण के समान सर्वत्र देखता हुआ भय से काँपते हुए भागता-फिरता है, यहां तक कि चूहे की खड़-खड़ से भी कांपने लगता है, वध, बन्धन, आदि पीड़ाएँ सहन करता है, परभव में शोक को प्राप्त करता है, इस जीवन में भी अपना आत्म-सम्मान खोकर मृत्यु को प्राप्त करता है तथा

परलोक में भी नरक में अपना स्थान बनाता है, इस प्रकार संसार में अनन्तकाल तक परिभ्रमण करता है, अतः क्षपक को परधन-ग्रहण से या चोरी से उत्पन्न होने वाले दोषों को जानकर उनका त्याग करने के लिये तत्पर रहना चाहिए।

चौथे, मैथुनविरमण-व्रत के धारक क्षपक को निर्यापकाचार्य कहते हैं कि ब्रह्मचर्य-महाव्रत सब व्रतों में दुर्जेय, दुस्सह एवं श्रेष्ठ है, उसका सम्यक् प्रकार से पालन करना चाहिए। हे क्षपक ! स्त्री के प्रति आसक्ति से रहित होकर एवं नौ प्रकार की ब्रह्मचर्य की गुप्ति से सुविशद्ध रहते हुए तू ब्रह्मचर्य की रक्षा करना। यह जीव ही ब्रह्म है, अतः परदेह-भोग की चिन्ता से रहित होकर जो साधु स्व में ही प्रवृत्ति करता है, उसे ब्रह्मचारी कहा जाता है। आगे, ब्रह्मचर्य की नौ वाङ् का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वसति-शुद्धि, सराग-कथा का त्याग, आसन का त्याग, स्त्री के अंगोपांगादि को रागपूर्वक देखने का त्याग, दीवार या परदे के पास खड़े होकर स्त्री के विकारी शब्दादि सुनने का त्याग, पूर्वक्रीड़ा की स्मृति का त्याग, प्रणीत भोजन का त्याग, अति मात्रा में आहार का त्याग और विभूषा का त्याग- इस तरह ये नौ गुप्तियाँ हैं, मुनि को ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए इनका पालन करना चाहिए। इस लोक, परलोक व उभय लोकों में जो भी असहनीय दुःख हैं, विषयासक्त व्यक्ति उन सभी दुःखों को सहन करता है। विषय-भोगों में आसक्त व्यक्ति इस लोक में दुःख, अपयश एवं अनर्थ को प्राप्त करता है तथा परलोक में भी दुर्गति को प्राप्त करता है। विषय-भोगों के सेवन से व्यक्ति अनन्त संसार को बढ़ा लेता है। मदन-रेखा के रूप में अनासक्त मणिरथ राजा को मरकर नरक के दुःखों को सहन करना पड़ा। शीलवन्त व्यक्ति के लिए संसार-सागर को पार करना अत्यन्त सरल होता है।

शील के प्रभाव से अग्नि भी जल के समान शीतल हो जाती है, विष अमृत बन जाता है तथा देवता भी सेवक बनकर चरणों में झुक जाते हैं। जिसने अति उत्तम शील-धर्म की साधना कर ली है, उसे चिन्तामणि-रत्न की भी कोई आवश्यकता नहीं होती है। उसके घर में लगा हुआ वृक्ष भी कल्पवृक्ष के समान हो जाता है, अर्थात् शील-साधना में रत व्यक्ति को ऋद्धि-सिद्धि तो स्वतः ही प्राप्त हो जाती है।

पांचवें, परिग्रहविरति-महाव्रत में निर्यापकाचार्य क्षपक को अपरिग्रह का महत्व बताते हुए परिग्रहों के प्रति अनासक्ति रखने का निर्देश देते हैं। बाह्य-परिग्रह के दस भेद और आभ्यन्तर-परिग्रह के चौदह भेद हैं। परिग्रह के प्रति आसक्ति के कारण व्यक्ति कलह आदि दुष्कर्म करता है। जब परिग्रह-संज्ञा का उदय होता है, तब उस लालची जीव को संग्रह करने की बुद्धि होती है। उस संचय-वृत्ति के कारण वह जीवों की हत्या करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, मैथुन का सेवन करता है और अपरिमित धन एकत्रित करता है। धन-संचय के मोह में पड़कर जीव अहंकार, चुगली, कलह, कठोरता आदि अनेक दोषों का सेवन करता है। जैसे ईंधन से अग्नि और नदियों से समुद्र तृप्त नहीं होता, वैसे ही जीव को यदि तीनों लोकों की सम्पत्ति भी मिल जाए, फिर भी उसकी तृप्ति नहीं होती है। यदि क्षपक निर्ग्रन्थ है, तो वह किसी भी तरह का परिग्रह न रखे, क्योंकि परिग्रह रखने वाला निर्ग्रन्थ नहीं हो सकता है। परिग्रह-बुद्धि से चित्त मलिन होता है तथा परिग्रह जन्म-मरण के चक्र को बढ़ाने वाला होता है, अतः संयमी व्यक्ति परिग्रह को वैर एवं कलह का कारण जानकर त्याग देता है, वह तो शरीर की ममता का भी त्याग कर देता है, इसलिए हे क्षपक ! तुम परिग्रह-परित्याग करो। अहिंसा आदि महाव्रतों की रक्षा के लिए रात्रि-भोजन का त्याग अनिवार्य है, अतः क्षपक को रात्रि-भोजन का भी त्याग कर देना चाहिए।

5. मदनिग्रह-अनुशिष्टि-प्रतिद्वार —(गाथा 634-639)

इस द्वार में निर्यापकाचार्य क्षपक को समझाते हुए कहते हैं— मद (अहंकार) के दुष्परिणामों को जानकर हे क्षपक ! तुम आठ मदों का भी परित्याग कर दो। हे मुनिश्रेष्ठ ! मद-दोषों को जानकर जाति-मद, कुल-मद, बल-मद, रूप-मद, तप-मद, ऐश्वर्य-मद, श्रुत-मद व लाभ-मद का भी परित्याग करो। किसी एक मद से मदोन्मत्त प्रतिष्ठित व्यक्ति भी विद्वानों के लिए शोचनीय व अज्ञों के लिए हास्यप्रद लघुता को प्राप्त होता है। यदि महान् अर्थ से युक्त ज्ञान आदि का मद भी वर्जनीय है, तो अन्य मद-स्थानों का तो विवेक से परित्याग कर देना चाहिए। एक मद के सेवन से भी व्यक्ति को निम्नता प्राप्त होती है, तो जो सभी मद का सेवन करता है, वह तो सर्वगुण से हीन होता है। जाति-मद हरिकेशी ने किया, कुल का मद मरीचि ने किया, बल का मद विश्वभूति ने किया, रूप का मद सनत्कुमार चक्रवर्ती ने किया, तप का गर्व क्रूरवट क्षपक ने किया, ऋद्धि का मद दशार्णभद्र राजा ने किया, श्रुत का अभिमान स्थूलिभद्र मुनि ने किया लाभ का मद भृगुकच्छऽऽर्या ने किया— इन दृष्टान्तों से शिक्षा लेकर अष्टमद-स्थानों का त्याग करना चाहिए।

6. इन्द्रियविजय-अनुशिष्टि-प्रतिद्वार —(गाथा 640-649)

इस द्वार में निर्यापकाचार्य क्षपक को समझाते हुए इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए कहते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय— इन पाँचों इन्द्रियों को जीतना दुष्कर है। जो क्षपक इन पर विजय पा लेता है, उसकी आराधना सम्यक् हो जाती है। जो इन्द्रिय-विजेता नहीं है, अर्थात् जो इन्द्रियों का दास है, उसके द्वारा की गई साधना उसी प्रकार निस्सार हो जाती है, जैसे यदि काष्ठ में घुन लग जाए, तो वह सम्पूर्ण काष्ठ को ही समाप्त कर देता है, अतः क्षपक को इन्द्रियों पर विजय पाना चाहिए। जो सुभट अकेला ही अनेक सुभटों पर विजय प्राप्त करने की शक्ति रखता है, वह एक इन्द्रिय के विषय में ही आसक्त होने पर भी अपनी शक्ति खो देता है, अतः इन्द्रियों के विषयों की तरफ दौड़ने वाले इन्द्रियरूपी घोड़े को ज्ञानरूपी रस्सी से लगाम लगाना चाहिए। अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं करने के कारण लंका का राजा रावण, जो शूरवीर था, जगत्-प्रसिद्ध व चतुर था, वह भी अकाल-मृत्यु को प्राप्त हुआ। इन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्ती और हिरण्यगर्भ (सूर्य) को भी इन्द्रियों के विषयों के प्रति आसक्ति के कारण दासत्व भोगना पड़ा था। इन्द्रिय-विजेता ही शूरवीर कहा जाता है, वही पण्डित तथा प्रशंसनीय भी होता है। श्रोत्रेन्द्रिय को वश में न करने के कारण सुभद्र, चक्षुरिन्द्रिय को वश में न करने के कारण वणिक-सुत, घ्राणेन्द्रिय को वश में नहीं करने के कारण कुमारदि, रसनेन्द्रिय को काबू में नहीं रखने के कारण सुदास आदि स्पर्शनेन्द्रिय को वश में न करने के कारण सुकुमाल नरेश आदि मृत्यु को प्राप्त हुए। इस प्रकार, एक-एक इन्द्रियों में आसक्त व्यक्ति की दशा भी जब दयनीय हो जाती है, तो जो व्यक्ति पाँचों इन्द्रियों में आसक्त है, उसका तो अधःपतन निश्चित है। व्यक्ति की कीर्ति या प्रतिष्ठा तब तक ही होती है, जब तक इन्द्रियाँ उसके वश में होती हैं, इन्द्रियों के वशीभूत बने व्यक्ति नरक, तिर्यच आदि गतियों में दुःख को प्राप्त होते हैं।

7. कषायविजय-अनुशिष्टि-प्रतिद्वार —(गाथा 650-670)

कषायों का त्याग अत्यन्त दुष्कर होने से निर्यापक-आचार्य क्षपक से कहते हैं— हे सत्पुरुष ! क्रोधादि कषायों के विपाक को जानकर कषायरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि इन्द्रिय-विजेता होने पर भी यदि मन में कषाय है, तो इष्ट-फल की सिद्धि नहीं होती है। कषाय चार प्रकार के हैं— (1) क्रोध (2) मान (3) माया एवं (4) लोभ। इनमें से प्रत्येक के अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन— ऐसे चार-चार भेद होते हैं।

क्रोध में उन्मत्त व्यक्ति कार्य-अकार्य को नहीं देखता है, गलत रास्ते पर जाता है, सही मार्ग को छोड़ देता है, मित्र को भी शत्रु बना लेता है, अतः हे क्षपक ! यदि तुम जिनमत को मानते हो, तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को हरने वाले, सब दुःखों की मूल जड़ इस क्रोध का परित्याग कर दो। क्रोध से कलह एवं वैर बढ़ता है तथा मरने के बाद परलोक में भी भयंकर दुःख भोगना पड़ता है। सुख का मूल धर्म है, धर्म का मूल क्षमा है। क्षमा महान् विद्या के समान सभी दुःखों का हरण करती है। क्रोधी व्यक्ति दुःखी होता है, जबकि क्षमावान् व्यक्ति के चरणों में देवता भी नमस्कार करते हैं। अभिमानी व्यक्ति भी सभी से द्वेष करता है। वह इस लोक व परलोक में कलह, भय, दुःख व अपमान को प्राप्त करता है। अहंकार से रहित व्यक्ति सज्जनों का प्रिय होता है। अहंकार से रहित व्यक्ति ज्ञान, यश एवं अर्थ-लाभ प्राप्त करता है तथा अपने कार्य को सिद्ध करता है, सरल व्यक्ति का कोई भी कार्य असिद्ध नहीं होता है तथा विनय के द्वारा वह इस लोक व परलोक में, अर्थात् दोनों लोकों में सुखी रहता है। जो बहुत अधिक झूठ बोलता है, कूट-कपट द्वारा भोले-भाले लोगों को ठगता है, वह स्वयं भी मानव-जीवन को व्यर्थ कर देता है। वणिक-पुत्रों ने एक बार मायाचार किया, तो अनेक दुःख प्राप्त किए, तो जो व्यक्ति नित्य ही माया का सेवन करता है, उसे क्या फल मिलेगा ? लोभ के कारण क्रोध, मान, मायादि दोष भी प्रकट हो जाते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ में सबसे पहले लोभ पर विजय प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि देवता व चक्रवर्ती का वैभव भी मिल जाए, तो भी तृष्णा का अन्त नहीं होता। अगर सन्तोष जीवन में आ जाए, तो लोभ का नाश हो जाता है। कपिल ब्राह्मण, जो दो माशा सोने के लिए गया था, उसका लोभ बढ़ता ही गया, तृष्णा का अन्त नहीं आया, किन्तु एकदम त्याग का भाव मन में आते ही कपिल केवली बन गए। श्रमण-जीवन का पालन करते हुए भी यदि क्रोध पर नियंत्रण नहीं है, तो व्यक्ति का श्रमण-जीवन गन्ने के पुष्प के समान निष्फल चला जाता है। कोई व्यक्ति करोड़ वर्ष तक चरित्र का पालन करे, किन्तु यदि उसके मन में जरा-सी भी क्रोध की चिंगारी उठ जाए, तो वह उसके समग्र चरित्र को नष्ट कर देती है। शत्रु, अग्नि, मित्र और काला साँप भी जितना अपकार नहीं करते, उससे ज्यादा अपकार तो क्रोध आदि चार कषायरूपी शत्रु करते हैं। इस चतुर्गति संसार में जितना भी दुःख है, वह सब कषाय के फलस्वरूप ही है, अतः साधक को कषायों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

8. परीषह-अनुशिष्टि-प्रतिद्वार —(गाथा 671-673)

इस द्वार में परीषहों का वर्णन है। आए हुए कष्टों को समभावपूर्वक सहन करना ही परीषह है। मुनि-जीवन में यदि सबसे महत्वपूर्ण कोई नियम है, तो वह है-परीषहों को समभावपूर्वक सहन करना। गृहस्थ-जीवन में भी अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है, किन्तु उसमें व्यक्ति का समभाव नहीं रहता है, जबकि श्रमण-जीवन में कष्टों का समभावपूर्वक सहन करना होता है। जैन-धर्म में एक या दो नहीं, बल्कि कुल बाईस परीषह कहे गए हैं। इन परीषहों को सहन करने से मुनि के कर्मों की निर्जरा होती है, इसलिए कष्ट-सहिष्णुता मुनि-जीवन के लिए अनिवार्य ही नहीं, उनकी जीवनचर्या का एक आवश्यक अंग भी है। जो कष्ट-सहिष्णु नहीं रहता, वह अपने नैतिक-पथ से विचलित हो जाता है, अतः निर्यापकाचार्य क्षपक साधक को इन बाईस परीषहों का स्वरूप समझाते हुए कहते हैं-तुम इन बाईस परीषहों को समभावपूर्वक सहन करके अपने कर्मों की निर्जरा करो। आराधना-पताका में प्रत्येक परीषह का स्वतन्त्र रूप से तो कोई उल्लेख नहीं है, मात्र क्षपक को परीषहों को सहन करने के निर्देश हैं, किन्तु उत्तराध्ययन-सूत्र के दूसरे अध्ययन में परीषहों का उल्लेख उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है -

- (1) क्षुधा-परीषह- भूख की वेदना से पीड़ित होता हुआ भी क्षपक-साधक अशुद्ध आहार ग्रहण न करे, बल्कि क्षुधा-वेदना को समभावपूर्वक सहन करे।
- (2) तृषा-परीषह- भयंकर प्यास में व्याकुल बना मुनि स्वप्न में भी सचित्त जल पीने की इच्छा न करे, वरन् नरक के जीवों की वेदना एवं महापुरुषों के कष्टमय जीवन का चिन्तन करते हुए पिपासा-परीषह को सहन करे।
- (3) शीत-परीषह- शीतऋतु में शीत-परीषह के निवारण हेतु अधिक वस्त्रों को ग्रहण न करे एवं अल्प वस्त्र के कारण अग्नि का ताप भी न ले।
- (4) उष्ण-परीषह- ग्रीष्मकाल में भीषण गर्मी से शरीर में व्याकुलता होने पर भी मुनि स्नान, अथवा पंखे की हवा आदि से गर्मी को शान्त करने का प्रयत्न न करे, बल्कि उसे समभाव से सहन करे।
- (5) दंश-मशक परीषह-डॉस, मच्छर आदि के द्वारा डंक मारने पर दुःख उत्पन्न हो, तो भी क्रोध या आवेग में आकर उन्हें त्रास न दे, वरन् उपेक्षा-भाव रखे।
- (6) अचेल-परीषह- वस्त्र के अभाव की चिन्ता न करे, न वीभत्स वस्त्र धारण करे।
- (7) अरति-परीषह- मुनि-जीवन में सुख-सुविधाओं का त्याग होता है, फिर भी यदि उनके भोग का विचार उत्पन्न हो एवं संयम में रुचि न रहे, तो भी मन लगाकर संयम-धर्म का पालन करे।
- (8) स्त्री-परीषह- स्त्री-संसर्ग को आसक्ति, पतन और पतन का कारण जानकर स्त्री- संसर्ग की इच्छा न करे और उनसे दूर रहे। साधियों के सन्दर्भ में यहाँ पुरुष-परीषह समझना चाहिए।
- (9) चर्या-परीषह- चातुर्मास के अतिरिक्त शेषकाल में मुनि को गांव में एक रात्रि एवं नगर में पाँच रात्रि से अधिक स्थिरवास करने का निषेध है, अतः अनेक प्रकार के कष्टों को समता से सहन करते हुए सदैव भ्रमण करे।
- (10) निषद्या-परीषह- विषम अथवा कंकरीली भूमि में स्वाध्याय, ध्यान आदि के लिए एकासन में बैठना पड़े, तो भी मन में बुरे विचार न लाए एवं दुःखी न होते हुए उसे समभावपूर्वक सहन करे।
- (11) शय्या-परीषह- मुनि को ठहरने अथवा सोने के लिए विषम भूमि हो, तो कोमल शय्या का विचार नहीं करे, बल्कि उस कष्ट को सहन करे।
- (12) आक्रोश-परीषह- यदि कोई भी मुनि को ताड़ना-तर्जना आदि द्वारा कष्ट दे, अथवा कर्कश शब्द या कठोर वचन कहे, तो भी मुनि उसे सहन करे।
- (13) वध-परीषह- यदि कोई मुनि को लकड़ी या हाथ आदि से मारे, अथवा अन्य किसी शस्त्र से वध करे, तो भी वह उस परीषह को सहन करे।
- (14) याचना-परीषह- मान और अपमान की भावना से रहित होकर मुनि भिक्षावृत्ति करे। आवश्यक वस्तुएँ सुलभता से प्राप्त नहीं होती हैं- ऐसा विचार कर वह मन में दुःखी न हो, बल्कि बयालीस दोषों से रहित शुद्ध आहार की गवेषणा करे।
- (15) अलाभ-परीषह- मुनि को लाभान्तराय-कर्म के उदय से आवश्यक (वस्त्र-पात्र) आदि नहीं मिलने पर तथा आहार की प्राप्ति नहीं होने पर लाभान्तराय-कर्म का उदय जानकर परीषह को सहन करे।
- (16) रोग-परीषह- चिकित्सा के अभाव में रोग की पीड़ा से दुःखी न होकर मुनि समता से बीमारी को सहन करे।
- (17) तृण-परीषह- तृण आदि की शय्या में निद्रा लेने से तथा मार्ग में नंगे पैर चलने से तृण या काँटे आदि के चुभने से होने वाली वेदना को कर्मा की निर्जरा का हेतु जानकर सहन करे।

(18) मल-परीषह- शरीर या वस्त्र में पसीने से, अथवा रज आदि के कारण मैल आदि जम जाने से दुर्गन्ध उत्पन्न हो, तो भी उद्विग्न न होकर समभाव से सहन करे।

(19) सत्कार-परीषह- जनता द्वारा मान-सम्मान के प्राप्त होने या न होने पर भी प्रसन्न या खिन्न न होकर समभाव रखे।

(20) प्रज्ञा-परीषह- शिष्यों को बार-बार सूत्रों का अर्थ बताना पड़े, तो अधीर होकर विद्वान् मुनि यह विचार नहीं करे कि इससे तो इनका अज्ञानी होना अच्छा होता।

(21) अज्ञान-परीषह- मन्दबुद्धि के कारण शास्त्रों का अध्ययन न कर पाने से खिन्न हुए बिना मुनि परिश्रमपूर्वक अपनी साधना में लगा रहे।

(22) दर्शन-परीषह- अन्य मतावलम्बियों के चमत्कार व आडम्बर को देखकर उनका अनुमोदन नहीं करे एवं स्वयं के दर्शन को हीन नहीं माने।

इस प्रकार, क्षपक साधक बाईस परीषहों को सहन करने की कोशिश करे एवं कर्मों की निर्जरा करे। इन बाईस परीषहों को सहन करने वाला साधक आराधक कहलाता है।

9. उपसर्ग-सहन-अनुशिष्टि-प्रतिद्वार -(गाथा 674-684)

इसमें निर्यापकाचार्य क्षपक साधक को, उपसर्ग आने पर भी मन में खिन्नता का भाव न आने पाए- इस तथ्य को समझाते हुए कहते हैं- हे वीर साधक ! चार प्रकार के उपसर्ग सहन करो। देवताओं द्वारा, या मनुष्यों द्वारा, या तिर्यच द्वारा दिए गए उपसर्ग सहन करने योग्य हैं।

अट्टहास, प्रद्वेष, विमर्ष, विमाया- ये चार दैवी-उपसर्ग हैं। देवकृत उपसर्ग में अट्टहास नामक उपसर्ग के सम्बन्ध में उंडेरासुर का दृष्टान्त दिया गया है। प्रद्वेषोपसर्ग में संगमदेव का कथानक वर्णित है। विमर्ष, नाराजी, अप्रसन्नता आदि उपसर्ग एवं विमाया (देवीयमाया) उपसर्ग में भी संगमदेव का दृष्टान्त द्रष्टव्य है। इसी प्रकार, मनुष्योपसर्ग में हास्य में क्षुद्र का प्रद्वेष (अतिद्वेष) में सोमिल द्विज का, विमर्ष (अप्रसन्नता) में चन्द्रगुप्त एवं कुशील प्रतिसेवना में ईर्ष्यालु भार्या का या परदेशी राजा की पत्नी सूर्यकान्ता का दृष्टान्त विचारणीय है। तिर्यचोपसर्ग में भय का, श्वानादि (कुत्ते आदि) के काटने का भय, प्रद्वेष में चंडकौशिक सर्प द्वारा प्रभु को डंक मारने का कथानक, आहार में व्याघ्री का, सन्तान-भक्षण एवं सन्तान-रक्षण में तुरन्त बच्चे को जन्म देने वाली गाय का कथानक जानना चाहिए। आत्म-संवेदनरूप उपसर्गों में घर्षण में पड़े हुए रज के कण का घर्षण, या आँख में मांस बढ़ने से जो घर्षण होता है वह, प्रपतन में चलते हुए व्यक्ति का गिर जाना व हड्डी आदि का टूट जाना, अंगों का क्षत-विक्षत हो जाना, स्तंभन में पांव का सुन्न हो जाना, लकवा मार जाना, श्लेषन में वात, पित्त, कफ आदि जन्य विविध रोगों को जानना चाहिए।

कर्मफल का उदय आने पर ये सोलह प्रकार के उपसर्ग जीवन में आते हैं। उपसर्ग आने पर क्षपक को समता-भाव धारण करना चाहिए तथा चित्त में उद्वेग न लाकर समाधि में स्थिर रहना चाहिए।

10. अप्रमाद-अनुशिष्टि-प्रतिद्वार -(गाथा 685-692)

इस द्वार में निर्यापकाचार्य क्षपक साधक को समझाते हुए कहते हैं- हे साधक! जन्म-जरा-मृत्यु से पार लगाने वाले, सैकड़ों-हजारों वर्षों में प्राप्त जिनवचन की क्षणमात्र भी अवहेलना मत कर। मुनिजनों ने प्रमाद आठ प्रकार के कहे हैं- (1)अज्ञान (2) संशय (3) मिथ्याज्ञान (4) राग (5) द्वेष (6) मतिभ्रंश (7) धर्म में अनाचार एवं (8) मन-वचन -काया की प्रवृत्तियों का दुरुपयोग करना।

अन्य अपेक्षा से प्रमाद के पाँच प्रकार हैं— (1) मद्यपान (2) इन्द्रियों के विषयों का आसक्तिपूर्वक सेवन करना (3) कषाय (4) निद्रा व (5) विकथा। ये पाँच प्रमाद जीव को संसार में परिभ्रमण कराते रहते हैं। धर्म—साधना करने के समय को व्यक्ति प्रमाद में गंवा देता है।

प्रमाद के कारण चौदह पूर्वधारी एवं श्रुतकेवली महान् आचार्य को भी अनन्त—काल तक निगोद (जैविक—विकास की निम्न अवस्था) में रहना पड़ता है। आहारक—लब्धिधारी, मनःपर्यवज्ञानी तथा उपशान्तमोह वाले साधक भी प्रमाद के वशीभूत होकर चारों गतियों में भटकते हैं, अतः विचक्षण पुरुषों को प्रमाद का सम्पूर्ण रूप से त्याग कर दर्शन—ज्ञान—चारित्र, अर्थात् रत्नत्रय की आराधना करनी चाहिए।

11. तपाचरण—अनुशिष्टि—प्रतिद्वार —(गाथा 693—698)

इसमें निर्यापकाचार्य क्षपक साधक को तप के बारे में समझाते हुए कहते हैं— हे साधक! तपस्या द्वारा तुम अपने कर्मों की निर्जरा करो। जैन—आगम—साहित्य में तप को मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त किया गया है, प्रथम—बाह्यतप एवं दूसरा आभ्यन्तर—तप। हे साधक! तुम अपनी देह से भी ममत्व का त्याग कर तथा प्रमादरहित होकर अनासक्त—भाव से तप का आचरण करो। तपस्वी इस लोक व परलोक में अपने अच्छे कार्यों द्वारा जगत् में पूजा जाता है। इन्द्र, नरेन्द्र, देवेन्द्र का सिंहासन भी तपस्वी की तपस्या से प्रकम्पित होने लगता है। ऐसे तपस्वी के चरणों में तो देवता भी नतमस्तक हो जाते हैं।

मनुष्य के लिए तप उत्तम कामधेनु व चिन्तामणि—रत्न के समान है। तप ही समस्त अशुभ पापरूप मैल को हरण करने वाले सुन्दर तीर्थ के समान है। अनेक प्रकार के दुःखों से संत्रस्त, दुर्गति में पड़े हुए जीवों के लिए तप ही त्राणदाता होता है। तप से व्यक्ति निर्भय होता है। तप व्यक्ति के अभ्युदय का आधार तथा अक्षय सुख देने वाला है। यह मोक्ष की सीढ़ी है। इस प्रकार, संयम में स्थित साधकों को चाहिए कि वे तप को अति हितकर जानकर अपनी आत्मा को नित्य ही तप से भावित करते रहें।

12. रागादि—प्रतिषेध—अनुशिष्टि—प्रतिद्वार —(गाथा 699—702)

इसमें निर्यापकाचार्य क्षपक—साधक को रागादि की व्यर्थता समझाते हुए कहते हैं— तुम राग—द्वेष के विजेता बनो। क्रोध, मान, माया, एवं लोभ के कारण आत्मा चतुर्गति संसार में परिभ्रमण करती रहती है। यदि परमपद (मोक्ष) पाने की इच्छा है, तो इनका त्याग करो। संसार में देवताओं एवं असुरों को भी जिन राग—द्वेषरूपी शत्रुओं ने हराकर अपने वश में कर लिया है, उन राग—द्वेषरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करो। जितनी हानि विष, शत्रु, वेताल, पिशाच भी तुम्हारे शरीर को नहीं पहुँचाते हैं, उतनी हानि राग—द्वेषरूपी शत्रु पहुँचाते हैं। जो राग—द्वेष और कषायों की आग में फँस जाता है, उसके जीवन में सभी प्रकार की विपत्तियाँ आ जाती हैं। जो व्यक्ति राग—द्वेष आदि में नहीं फँसता है, उसके सारे दुःख भी सुख में परिणत हो जाते हैं।

13. निदानवर्जन—अनुशिष्टि—प्रतिद्वार —(गाथा 703—712)

प्राचीनाचार्यकृत आराधना—पताका का तेरहवाँ प्रतिद्वार निदानवर्जन— अनुशिष्टिरूप है। इसमें साधक को निम्न नौ प्रकार के निदानों (कामनाओं) से बचने का निर्देश दिया गया है—

1. राजा का पद प्राप्त करने की कामना।
2. अग्र आदि उच्च कुलों में जन्म लेने की कामना।
3. स्त्रीरूप में जन्म लेने की कामना।
4. पुरुषरूप में जन्म लेने की कामना।

5. अनेक व्यक्तियों से कामभोग-सेवन की कामना।
6. स्वयं के साथ भोग-सेवन की कामना।
7. अन्य के साथ भोग नहीं करने की कामना।
8. श्रावक बनने की कामना या दरिद्र होने की कामना।

इस प्रकार, इस द्वार में यह बताया गया है कि समाधिमरण के साधक को इस प्रकार की कोई भी कामना नहीं करना चाहिए। इसमें अगली गाथाओं में बहुरति और स्वरति को स्पष्ट करते हुए यह बताया गया है कि बहुरति का अर्थ है - अनेक व्यक्तियों के साथ कामभोग-सेवन करने की इच्छा। इसी प्रकार, स्वरति का अर्थ है- अपने ही शरीर से अन्य देवी या देव की रचना कर उसके साथ कामभोग का सेवन करना। यहाँ श्रावकत्व के निदान का वर्जन इसलिए किया गया है कि जैनदर्शन निवृत्ति-मार्गीय होने से मुनि-जीवन को ही श्रेष्ठ मानता है, अतः वह कहता है कि जिस प्रकार दरिद्रता की कामना करना उचित नहीं है, उसी प्रकार श्रावकत्व की कामना करना भी उचित नहीं है, क्योंकि वह संसार से निवृत्ति का हेतु नहीं है। अगली गाथाओं में निदान या कामना को इसलिए अनुचित बताया गया है कि वह संसार-परिभ्रमण का हेतु है, जबकि साधना का मुख्य लक्ष्य तो संसार से मुक्ति प्राप्त करना है। कामना करना तो चिन्तामणि का त्याग करके कांचमणि को ग्रहण करने जैसा है, इसलिए साधक को समाधिमरण की अवस्था में न तो जीवन की कामना करना चाहिए, न मरण की, अपितु जीवन-मरण के चक्र से ऊपर उठकर निर्वाण-मार्ग की कामना करनी चाहिए।

14. कुभावना-त्याग-अनुशिष्टि-प्रतिद्वार -(गाथा 713-722)

इस द्वार में निर्यापकाचार्य क्षपक-साधक को दुर्भावना और सद्भावना का विवेचन करते हुए कहते हैं कि सद्भाव के अभाव में उच्च से उच्चतर श्रेणी में चढ़ भी जाए, परन्तु यदि भावों में स्थिरता न रहे, तो पुनः जीव का पतन हो जाता है, अतः भावों में दृढ़ता लाने के लिए भावनाओं का पुनः चिन्तन आवश्यक है। हे क्षपक ! संक्लिष्ट भावनाएं होती हैं, जो आराधक द्वारा नित्य त्याज्य हैं। वे संक्लिष्ट भावनाएं इस प्रकार हैं-

(1) कांदर्पी, (2) किल्बिषी, (3) आभियोगी (4) आसुरी एवं (5) सम्मोही । इन पांच संक्लिष्ट भावनाओं के प्रत्येक के पांच-पांच विकल्प होते हैं-

(1) कांदर्पी भावना - इस भावना के पांच भेद हैं- (क) अप्रशस्त-भावना- कामुक हास्यादि करना। (ख) कौत्कुच्य-भावना- नैत्र, भृकुटी एवं शरीर के अन्य अंगोपांगों की गतिविधि द्वारा स्वयं हंसे बिना दूसरों को हंसाना। (ग) द्रुतशीलत्व-भावना- अहंकार वश सर्वकार्य शीघ्र करना। (घ) हास्यकरण-भावना- विचित्र वेषभूषा एवं विकारी-वचनों द्वारा स्व-पर को हंसना। (ङ.) परविस्मयकर-भावना- मन्त्र-तन्त्र आदि से जगत् को आश्चर्यचकित करना।

(2) किल्बिषी-भावना- देव-आयुष्य का बंध कराने वाली किल्बिषिक-भावना को भी पांच भागों में बांटा गया है। (क) श्रुतज्ञान की अवज्ञा करना (ख) केवली-भगवन्त की अवज्ञा करना (ग) धर्माचार्य की अवज्ञा करना (घ) साधुओं की अवज्ञा करना (ङ.) गाढ़ माया करना- ये सब किल्बिषिक-भावना के ही रूप हैं।

(3) आभियोगिक-भावना- विषयासक्ति के कारण वशीकरण-मन्त्र आदि से स्वयं को भावित करना आभियोगिक-भावना है। यह भावना भी पांच प्रकार की है- (क) कौतुक-भावना (ख) भूतिकर्म-भावना (ग) प्रश्न-भावना (घ) प्रश्नाप्रश्न-भावना और (ङ.) निमित्त-भावना।

आभियोगिक-भावना— अग्नि के अन्दर होम करके, औषधादि द्वारा अन्य को वश में करके, रक्षा-सूत्र से दूसरों की रक्षा करके, अंगूठे आदि में देव उतारकर, दूसरों के प्रश्नों का उत्तर देकर, स्वप्नविद्या अथवा पिशाचादि से पर के अर्थ का निर्णय करके, निमित्त-शास्त्र द्वारा दूसरों को लाभ-हानि बताकर आजीविका चलाना आभियोगिक-भावना है।

आसुरी-भावना—आराधना-पताका में आसुर-निकाय के देवों की सम्पत्ति देने वाली आसुरी-भावना का वर्णन निम्न पांच प्रकार से किया गया है—

(क) विग्रहशीलत्व— बार-बार झगड़ा करना।

(ख) आसक्तिरहित तप करना।

(ग) निमित्त कथन करना।

(घ) निष्कृपता— करुणा का अभाव।

(ङ.) निरनुकंपत्व— अनुकम्पा का अभाव।

इन पांचों का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि पहली भावना वाला हमेशा लड़ाई-झगड़े में रुचि रखता है। दूसरी भावना वाला आहारादि प्राप्त करने के लिए तप करता है। तीसरी भावना वाला अभिमान अथवा दूसरों के प्रति द्वेषवश गृहस्थ को भूत-भविष्य बतलाता है। चौथी भावना वाला त्रसादि जीवों पर करुणा नहीं करता है और पांचवीं भावना वाला दूसरों को दुःख से पीड़ित एवं भयभीत होते देखकर भी निष्ठुर हृदय वाला होता है।

(5) सम्मोही-भावना— आराधना-पताका के कुभावना-त्याग-प्रतिद्वार में स्व-पर को मोहित करने वाली सम्मोह नामक अप्रशस्त-भावना का उल्लेख किया गया है। इसके भी पांच भेद किए गए हैं, जो निम्न हैं —

(क) उन्मार्ग-देशना— सम्यग्ज्ञानादि को दोषपूर्ण बताकर उससे विपरीत मोक्षमार्ग का उपदेश करना, उन्मार्ग-देशना है।

(ख) मार्ग-दूषण— मोक्ष-मार्ग, अर्थात् सम्यग्ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र में स्थित मनुष्यों के दोषों को बताना मार्ग-दूषण-भावना कहलाता है।

(ग) मार्ग-विप्रतिपत्ति— अपने स्वच्छन्द वितकों से मोक्षमार्ग को दूषित मानकर उन्मार्ग का अनुसरण करने वाले व्यक्ति का अनुमोदन मार्ग-विप्रतिपत्ति-भावना है।

(घ) मोह (मूढ़ता)— अन्य धर्म एवं दर्शनों की पूजा-प्रतिष्ठा को देखकर मोहित होना मूढ़ता कहा गया है।

(ङ.) मोहजनन-भावना— गैरिक, तापस, शाक्यभिक्षु आदि के धर्म में श्रद्धा रखना, अथवा लोक में जिनकी पूजा और सत्कार होता है, उन धर्म-दर्शनों के प्रति आदरभाव रखना मोहजनन-भावना है।

आराधना-पताका में कहा गया है कि संयत-चारित्रवान् मुनि या समाधिमरण का साधक भी यदि इन अप्रशस्त-भावनाओं में से किसी भी प्रकार की भावना में प्रवृत्ति करता है, तो वह भवान्तर में देवयोनि में उत्पन्न होता है और वही से आयुष्य पूर्ण कर संसार में परिभ्रमण करता है, अतः चारित्र की मलिनता में हेतुभूत और दुर्गति देने वाली इन पाँचों अप्रशस्त-भावनाओं से समाधिमरण के साधक को दूर रहना चाहिए।

15. संलेखनातिचार-परिहरण-अनुशिष्टि-प्रतिद्वार —(गाथा 723-728)

इसमें निर्यापकाचार्य क्षपक-साधक को समझाते हुए कहते हैं— तुम संलेखना के पांच अतिचारों का वर्जन करो।

संलेखना के पांच अतिचार इस प्रकार हैं -

- (1) इहलोक-आशंसा-प्रयोग- ऐहिक-सुखों की कामना करना। धर्म के प्रभाव से इहलोक सम्बन्धी राजऋद्धि आदि की प्राप्ति हो- ऐसी इच्छा करना, जैसे- मैं मरकर राजा या समृद्धिशाली बनूँ।
- (2) परलोक-आशंसा-प्रयोग- पारलौकिक-सुखों की कामना करना, अर्थात् मृत्यु के पश्चात् देव-देवेन्द्र आदि के पद एवं सुखों की कामना करना।
- (3) जीवित-आशंसा-प्रयोग- जीवन जीने की आकांक्षा करना, जैसे- कीर्ति आदि अन्य कारणों के वशीभूत होकर सुखी अवस्था में अधिक जीने की इच्छा करना।
- (4) मरण-आशंसा-प्रयोग- मृत्यु की आकांक्षा करना, जैसे- जीवन में शारीरिक-प्रतिकूलता में, भूख-प्यास या अन्य दुःख आने पर मृत्यु की इच्छा करना आदि।
- (5) काम-भोग-आशंसा-प्रयोग- इन्द्रियजन्य विषय-भोगों की आकांक्षा करना।

आराधना के स्वरूप को जानने वाले क्षपक द्वारा संलेखना-आराधना में विघ्न पैदा करने वाले इन पांच अतिचारों का त्याग करना चाहिए।

16. बारह शुभ-भावना-अनुशिष्टि-प्रतिद्वार --(गाथा 729-745)

इस द्वार में निर्यापकाचार्य क्षपक-साधक को बारह भावनाओं के बारे में समझाते हुए कहते हैं- इन बारह भावनाओं का चिन्तन करने से संवेग (वैराग्य) प्रकट होता है, इन बारह भावनाओं का चिन्तन करो।

1- अनित्य-भावना- आराधना-पताका में संसार की सभी वस्तुओं की अनित्यता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि संसार के सभी पदार्थों की अस्थिरता एवं क्षणभंगुरता का वैराग्यपरक चिन्तन ही अनित्य भावना है, यौवन बिजली के समान अस्थिर है, जीवन पानी के बुलबुले के समान शीघ्र नष्ट होने वाला है, इस तरह शारीरिक-रूप आदि भी स्थाई नहीं हैं, वैभव, इन्द्रियाँ, रूप, यौवन, बल, आरोग्य आदि सभी इन्द्रधनुष के समान क्षणिक हैं, अतः आसक्ति का त्याग करना चाहिए। पत्नी, पुत्र, मित्र एवं स्वजनों के साथ जो संजोग है, उसका वियोग निश्चित है- इस तरह अनित्यता को जानकर जो उत्तम पुरुष धर्म के क्षेत्र में आगे उद्यत रहता है, वही अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है।

2- अशरण-भावना- व्यक्ति को मृत्यु के मुख से बचाने में कोई भी समर्थ नहीं है। वीतराग परमात्मा ही शरणभूत हैं, इनको छोड़कर जन्म, जरा, उद्वेग, शोक, दुःख और व्याधियों से ग्रस्त इस भयंकर संसार-अटवी में प्राणियों के लिए कोई भी शरण नहीं है। माता, पिता, भाई, बहन, पुत्र, मित्र, धन, सम्पत्ति- इनमें से कोई भी रोग से पीड़ित मनुष्य को (रोग शान्त करने में) अल्प शरण देने में भी समर्थ नहीं है। कर्मों का भोक्ता प्राणी स्वयं ही है, बन्धु, बान्धव, शरणभूत नहीं हैं। एकमात्र धर्म ही सत्य एवं शाश्वत है, अन्य सभी शरण असत्य एवं अशरणभूत हैं।

3- संसार-भावना- संसार की असारता का चिन्तन करना ही संसार-भावना है। इस संसार में जो वीतराग परमात्मा की आज्ञा को शिरोधार्य नहीं करता है, वह मोहरूपी जाल में फंसकर पराभव को प्राप्त करता है और चतुर्गति में भ्रमण करता हुआ बार-बार जन्म-मरण करता है। जीव अपने बन्धु-बान्धव, मित्र-पुत्र, धन-वैभव, भोग-विलास के साधनों आदि का विनाश होने पर एवं शरीर में रोगादि होने पर दुःखी होता है, बुढ़ापा आने पर भी दुःखी होता है, समाधिमरण की दृष्टि से देखा जाए, तो साधना के क्षेत्र में संसार-भावना की उपयोगिता यही है कि इसके चिन्तन द्वारा व्यक्ति संसारजनित तृष्णा को त्यागकर भव-परिभ्रमण से मुक्ति प्राप्त करे।

4- एकत्व-भावना- आराधना-पताका के एकत्व-भावना के विषय में यह चिन्तन किया गया है कि जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही कर्मों को बांधता है, अकेला ही भोगता है, अकेला ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, अपने शुभाशुभ कर्मों का उपभोग भी अकेला ही करता है, मृत्यु के आगमन पर सम्पूर्ण सांसारिक-वैभव तथा परिवार का परित्याग करके शोक करते स्वजनों के मध्य से अकेला ही प्रयाण करता है, उस समय पिता, पुत्र, स्त्री, मित्रादि कोई भी उसके साथ नहीं जाते हैं- इस प्रकार एकत्व-भावना का स्मरण करना चाहिए।

5- अन्यत्व-भावना- जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों से स्वयं को भिन्न समझना और इस भिन्नता का पुनः-पुनः विचार करना ही अन्यत्व-भावना है। इस संसार में कौन अपना है, अर्थात् सभी पराए या अन्य हैं, आत्मा से यह शरीर भिन्न है तथा संसार के समस्त भौतिक पदार्थ और बंधु-बंधव के रिश्ते-नाते सभी हमसे भिन्न हैं- इस तरह, साधक को गज सकमाल की भांति अन्यत्व-भावना का चिन्तन करना चाहिए।

6- अशुचि-भावना- यह शरीर अशुचि का भण्डार है, रस, रक्त, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा और वीर्य- इन सात धातुओं से बना शरीर सड़न, गलन, विध्वंसन स्वभाव वाला है, अनेक उपायों द्वारा भी शरीर की अपवित्रता को दूर नहीं किया जा सकता है, क्योंकि यह शरीर अशुचि से भरे हुए घड़े के समान है- इस प्रकार, अशुचि-भावना का चिन्तन करके शरीर के प्रति ममत्व का त्याग करना चाहिए।

7- आश्रव-भावना-बन्धन के कारणों पर विचार करना आश्रव-भावना है। अन्न, कषाय, इन्द्रिय-क्रिया व अशुभ योगों द्वारा जीव सतत कर्मबंध करता रहता है, अतः क्षपक को आश्रव-द्वारों का निरोध करना चाहिए।

8- संवर-भावना-पांच समिति, तीन गुप्ति का पालन करना, बाईस परीषहों पर विजय प्राप्त करना, पांच चारित्र्यों का पालन करना, दस प्रकार के यतिधर्मों का पालन करना- साधक को आश्रव का निरोध करने के लिए इस प्रकार संवर-भावना का चिन्तन करना चाहिए। जिन-जिन कारणों से आश्रव की उत्पत्ति होती है, उन-उन कारणों का निरोध करना ही संवर है।

9- निर्जरा-भावना-पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करना ही निर्जरा है। निर्जरा के विषय में चिन्तन करना ही निर्जरा-भावना है। व्यक्ति बारह प्रकार के तपों द्वारा अपने कर्मों की निर्जरा कर सकता है। इस प्रकार, निर्जरा-भावना का चिन्तन करना चाहिए।

10- लोकस्वरूप-भावना-लोक की रचना, आकृति, स्वरूप आदि पर विचार करना लोकस्वरूप-भावना है।

11- उत्तम गुण-भावना-जिन-धर्म प्राप्त करना लगी प्रकार मुश्किल है, जिस प्रकार चिन्तामणि-रत्न प्राप्त करना दुर्लभ है। जिसे यह जिन-धर्म प्राप्त हो जाता है, वह धन्य हो जाता है। इस हेतु जगत् में उत्तम-गुण-भावना को सम्यक् रूप से भावित करना चाहिए।

12- बोधिदुर्लभ-भावना-देवताओं की सम्पत्ति पाना सुलभ है, एकछत्र पृथ्वी पर स्वामित्व करना भी सुलभ है, किन्तु इस संसार में जिनधर्म का बोध होना दुर्लभ है- इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए। इन बारह ही भावनाओं का विशद्व भावना से चिन्तन करना चाहिए और अन्य भी पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का चिन्तन करना चाहिए।

17. पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनारूप-अनुशिष्टि-प्रतिद्वार -(गाथा 745-751)

इसमें निर्यापकाचार्य क्षपक-साधक को, पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का किस प्रकार पालन करना चाहिए, इसे समझाते हैं।

प्राणातिपात-विरमण-व्रत की पांच भावनाएं-

- (1) ईर्या-समिति का पालन करते हुए साधक यतना से चलें।
- (2) आहारदि की प्राप्ति या अप्राप्ति में समभाव रखें।
- (3) आदान-भाण्ड, मात्रक आदि उपकरणों के उठाने-रखने आदि में यतना करें।
- (4) संयम-समाधि, अर्थात् मन का संयम रखें।
- (5) वाणी का संयम रखें।

मृषावाद-विरमण-व्रत की पांच भावनाएं-

- (1) अहास्य-सत्य- हंसी-मजाक से रहित होकर सत्य वचन बोलें।
- (2) सूत्रानुसार भाषण- आगम की आज्ञा के अनुसार सत्य भाषण करें।
- (3) क्रोध का त्याग- क्रोध का त्याग कर वचन बोलें।
- (4) लोभ का त्याग - लोभ का त्याग कर सम्भाषण करें।
- (5) भय-त्याग- भय का त्याग करके बोलें।

अदत्तादान-विरमण-व्रत की पांच भावनाएं-

- (1) स्वयमेव ही याचनापूर्वक ग्रहण करें।
- (2) मतिमंत व सुवाचिरत ज्ञानी के घर में निवास करें।
- (3) स्वयं ग्रहण करने का त्याग करें।
- (4) दाता की अनुमतिपूर्वक पानी एवं भोजन ग्रहण करें।
- (5) साधर्मिकों से याचित ग्रहण करें।

मैथुन-विरमण-व्रत की पांच भावनाएं-

- 1- आहारगुप्त- आहार की मात्रा में संयम रखें।
- 2- अविभूषितात्म - शरीरादि को श्रृगारित नहीं करें।
- 3- स्त्री को रागभाव की दृष्टि से नहीं देखें।
- 4- स्त्री से अति परिचय नहीं करें।
- 5- बुद्धिमान् मुनि क्षुद्र कथा न करें, अपितु धर्मानुपेक्षी होकर ब्रह्मचर्य का सेवन करें।

अपरिग्रह-व्रत की भावनाएं- मुनि मनोज्ञ एवं पापकारी शब्द, रूप, रस, गन्ध व स्पर्श का सेवन नहीं करें, गृहस्थों से द्वेषभाव भी नहीं रखें, मुनिजन तो इन्द्रियों का दमन करने वाले संसार से विरक्त अकिंचन होते हैं।

जिनके द्वारा इन पच्चीस भावनाओं का अप्रमत्ततापूर्वक अर्थात् प्रमाद से रहित होकर सम्यक् रूप से पालन किया जाता है, उन्हीं के व्रत अखण्डित रहते हैं।

अनुशिष्टि क्षपक-वक्तव्य -(गाथा 752-758) इस प्रकार, अनुशासन-अमृत का पान करके सम्यक् प्रकार से भोगों से निवृत्त हुआ क्षपक गुरु को वन्दन करके धैर्य सहित ऐसा कहता है- भंते! संसार-सागर को पार करने के लिए मैं दृढ़ काष्ठ-फलक के समान अनुशिष्टि की इच्छा करता हूँ। आपने जैसा भी कहा है, वह मेरे लिए हितकर ही है। फिर, वह कहता है- जिससे आत्मा तर जाए, जिसमें आपको परम सन्तोष की प्राप्ति हो, जिससे गण व संघ का परिश्रम सफल हो, जिससे अपने गण व संघ की कीर्ति विश्रुत हो, संघ के प्रसाद से मैं वैसी ही आराधना करूंगा। अधिक कहने से क्या ?

साक्षात् देवगण भी यदि मेरी साधना में विघ्न उत्पन्न करें, तो भी आपके चरणों के अनुग्रह—गुण से वे ऐसा करने में समर्थ नहीं होंगे, अर्थात् मुझे साधना से विचलित नहीं कर पाएंगे। भूख—प्यास अथवा वात—पित्त—कफ आदि रोगों के कारण मेरे ध्यान में बाधा उत्पन्न नहीं होगी, अथवा इन्द्रिय—विषय एवं कषाय आदि भी मेरी साधना में विघ्न उपस्थित ही नहीं करेंगे। चाहे मेरुपर्वत अपने स्थान से विचलित हो जाए, परन्तु फिर भी मैं आपकी कृपा के प्रसाद से उपसर्ग आने पर भी नियम का लोप नहीं करूंगा।

तीसवाँ कवचद्वार — (गाथा 759—893)

इसमें निर्यापकाचार्य को कहा गया है कि वह, क्षपक—साधक को समाधि बनी रहे— ऐसा प्रयास करे। उस क्षपक को, जैसा उसके लिए हितकर हो, वैसा ही पेय पदार्थ, जो न कडुआ हो, न कसैला, न ज्यादा ठण्डा हो, न ज्यादा गर्म, दिया जाना चाहिए। क्षपक जब शक्तिहीन हो जाए, तो उसको पेय—पदार्थ का भी त्याग करा देना चाहिए। उसके बाद, अगर क्षपक के शरीर में वेदना उत्पन्न हो जाए, तो चिकित्सा—विदों के द्वारा जानकर, उनकी वेदना दूर हो जाए— इसके लिये प्रयास भी करना चाहिए। वेदना दूर ना हो, तो निर्यापकाचार्य ऐसा प्रयास करे कि वह क्षपक—साधक पूर्ववत् चेतना—स्थिति में आ जाए। वह निर्यापक उस क्षपक को चेतना में लाने के लिए उससे इस प्रकार प्रश्न करे— तुम कौन हो ? तुम्हारा नाम क्या है ? तुम कहां हो ? इस समय क्या काल है ? तुम क्या कर रहे हो ? तुम कहां बैठे हो ? इस प्रकार निर्यापक क्षपक को स्मरण कराए। क्षपक की समाधि बनी रहे— इस प्रकार हित—भावना रखे। प्रयास करने के बाद भी कोई क्षपक तो एक बार में ही कर्मों का उपशमन कर पूर्ववत् स्थिति में आ जाता है और कोई क्षपक कर्म के उदय के कारण परीषहों से पराजित होकर क्षमा—याचना करता है, क्रोध करता है, अपनी प्रज्ञा का भेदन करता है। ऐसे क्षपक के साथ कटुक या कठोर वचन नहीं कहना चाहिए, उसे डराना भी नहीं चाहिए, उसकी आशातना भी नहीं करना चाहिए। कठोर वचन से प्रताड़ित करने पर क्षपक असमाधि को भी प्राप्त कर सकता है, तब उस क्षपक को गुरु के द्वारा हित, मित, प्रिय वचनों से समाधि में स्थित करना चाहिए। गुरु इस प्रकार कहे— हे धीर ! तुमने समाधि को धारण किया है, तुम रोग से, परीषह से व्याकुल मत बनो। धैर्य को धारण कर परीषहों पर विजय प्राप्त करो। जिस प्रकार युद्धभूमि में जाने वाला वीर योद्धा शत्रु के भयंकर प्रहारों से घबराकर भी अपना मुख नहीं मोड़ता है, उसी प्रकार सत्पुरुष भयंकर विपत्ति आने पर भी मन में कायरता के भाव नहीं लाता है। महाव्रती भी मेरु—पर्वत के समान अडिग व सागर के समान गम्भीर होते हैं, अतः तुम उस महाप्रतिज्ञा का स्मरण करो, जो तुम्हारे द्वारा संघ—साक्षी से विधिपूर्वक ग्रहण की गई कि मैं जीवन—पर्यन्त चारों आहार का त्याग करता हूँ। इस प्रकार, चेतना आने के बाद कौन साधक नियमों का उल्लंघन करेगा। हे क्षपक ! तुमने महासमुद्र को तो पार कर लिया है, अब तुम्हारे द्वारा केवल गोपद, अर्थात् थोड़े ही हिस्से को तैरना शेष है। मेरु—पर्वत को भी पार कर दिया है। अब तो बहुत कम भूभाग शेष है। तुम अनन्तकाल तक संसार में भटके हो, उससे मुक्त होने के लिए ऐसी दुर्लभ सामग्री फिर कभी सुलभ नहीं होगी।

जिस समाधि—भाव को पाने के लिए गणधर, चक्रवर्ती, मुनिगण, श्रावक—श्राविकाएं एवं तिर्यंच भी प्रयत्न करते हैं, पर्यन्ताराधना करके, कृतकृत्य होकर श्रुतसागर में अवगाहन करते हुए सर्वलक्षियों को प्राप्त करके अन्त में भक्त—परिज्ञा में प्रव्रजित होते हैं, जो भी मुनिश्रेष्ठ परीषहों पर विजय प्राप्त करके समाधिमरण को प्राप्त करते हैं, उन मुनियों का वर्णन सुनो।

चतुर्गति दुःख-वर्णन-क्षपक-साधक को चारों गतियों के दुःख का वर्णन करते हुए निर्यापकाचार्य कहते हैं— हे क्षपक ! नरक, तिर्यच, मनुष्य व देवगति में जो-जो दुःख तुमने प्राप्त किए, उनका एकाग्र मन से चिन्तन करो। नरक में नारकीय जीव दीर्घश्वास लेते हैं, कारुणिक शब्द एवं दयनीय शब्द बोलते हैं, दुःखपूर्वक स्वादहीन भोजन खाते हैं। वहां पारमाधार्मिक देवों के द्वारा ऊखल में लोह-मूसल से रवांडे जाते हैं, लोहे की कड़ाही में पकाए जाते हैं, पूर्व बैरी नैरयिकों द्वारा अनेक कष्ट दिए जाते हैं, कूटशाल्मली वृक्ष पर सूली पर चढ़ाए जाते हैं, गिद्ध पक्षियों द्वारा हताहत किए जाते हैं, वैतरणी नदी में डाले जाते हैं, बरछों एवं भालों से छिन्न-भिन्न किए जाते हैं, परशु से फाड़े जाते हैं। इस प्रकार, नरक की वेदनाओं को तुमने अनन्त बार भोगा है, उसका अनुचिन्तन करो। उसके सामने यह कष्ट तो अत्यल्प है— ऐसा विचार करो। इसी प्रकार, तुम्हें तिर्यचगति में भी उत्पन्न होना पड़ा है, वहां भी तुम्हें ताड़न, तर्जन, त्रासन, बंधन, मारना-पीटना, सर्दी-गर्मी, क्षुधा-तृष्णा आदि की अनन्त वेदना को अनन्त बार सहन करना पड़ा है, उसका भी चिन्तन कर सके सामने यह दुःख कितना कम है— ऐसा विचार करो। इसी प्रकार, मनुष्य-जन्म में भी कर्म के वशीभूत होकर हजारों घरों में जन्म लेकर अनेक दुःखों को प्राप्त किया है, उन सबका भी चिन्तन करो। प्रिय-वियोग के दुःख को एवं अनिष्ट संयोगरूपी दुःख को तुमने अनेक बार सहन किया है, वहां तुमने जो मानसिक व शारीरिक-दुःख भोगे हैं, नौकर बनकर कभी कडुए, कठोर, असभ्य वचनों से तिरस्कार को प्राप्त हुए हो, मनुष्य-जन्म को पाकर भी दीनता से दुःखित हुए हो, चिन्ता-शोकरूपी अग्नि से जलने के कारण जो घोर दुःख प्राप्त किए हैं, क्रोधाग्नि से प्रज्वलित मन के कारण पराए द्वारा शोषित किए जाने पर घोर दुःख को प्राप्त हुए हो, धन के हरण होने पर, अथवा पुत्र की धृष्टता से दुःखित होकर कितना दुःख सहन किया है, कारागृह में गए हो, वहां विविध मर्दन, पीसनादि दुःख कर्ण, ओष्ठ, शीश, नासा, जिह्वा, हाथ-पांव आदि के छेदन-भेदन, आंखे निकालना, दांत एवं हड्डियों को तोड़ने की पीड़ा तथा अग्नि, जल, व्याल-विषधर-विष, गर्मी, प्यास व भूख के कष्ट को सहन किया है, मनुष्य-भव में जो शारीरिक व मानसिक-दुःख अनन्त बार प्राप्त किए हैं, हे धीर ! तुम उन सबका भी चिन्तन करो। यह कष्ट तो क्षणिक है। देवलोक में देवता श्रेष्ठ आभूषणों से भूषित होकर अति सुखों का अनुभव करते हुए समय व्यतीत करते हैं, तो वे भी मृत्युकाल को जानकर महा दुःखी होते हैं। उनको भी च्यवन अर्थात् मृत्यु का दुःख सहना होता है तथा एक देवता दूसरे देवता की समृद्धि को देखकर ईर्ष्या से भी जलता है। देवता शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, नादयादि सुखों का अनुभव करते हुए भी भावी जीवन में गर्भ-दुःख को देखकर संतप्त होते हैं। देवता अपनी आयुष्य के मात्र छः मास शेष रहने पर मरण-भय से आक्रान्त होकर कंपित शरीर वाले हो जाते हैं, तब उन्हें भवन के शयन-कक्ष तथा क्रीड़ा-स्थलों में भी रति (रुचि) नहीं होती है। उनकी पुष्पमाला भी उनको शोभाविहीन लगती है। इस प्रकार, देवों को भी भारी दुःख होता है, अतः उनकी (देवलोक के सुखों की) असारता का चिन्तन करो। इस प्रकार, चतुर्गति में ये जो अनेक दुःख तूने प्राप्त किए हैं, तेरा यह दुःख उसका अनंतवां भाग भी नहीं है। तेरे द्वारा संख्यात्-असंख्यातकाल तक ये दुःख सहन किए गए, फिर अल्प दुःख से तू क्यों दुःखित हो रहा है। इस प्रकार, चारों गति में तूने जो अनेक दुःख प्राप्त किए हैं, तेरे यह दुःख उसका अनंतवां भाग भी नहीं है। तेरे द्वारा अनन्तकाल से अनेक दुःख सहन किए गए, फिर इस अल्प दुःख से क्यों व्यथित बना हुआ है। तुझे संसार में अनन्त बार ऐसी भूख लगी, जिसे तृप्त करने में सभी पुदगल भी समर्थ नहीं थे। तेरे द्वारा परवशता से अनेक बार क्षुधा, पिपासा

आदि दुःख सहन किए गए, अब आत्मकल्याण के लिए भूख-प्यास को समभावपूर्वक सहन करने में क्यों विचलित हो रहा है। इन भौतिक सुखों के लिए त्रिलोक में सारभूत समाधिमरण हेतु इस दुष्कर श्रमण-जीवन का विनाश मत कर, इसलिए हे क्षपक ! अपने मन की ग्रन्थियों को खोल। इन दुःखों को अपने कर्मों का फल जानकर ममत्वरहित होकर दुःख को सहन कर। इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न होने पर राग-द्वेष से निवृत्त होकर, दूसरों के दुःख को अपने दुःख के समान मानकर, अहिंसा-महाव्रत का पालन कर। हे क्षपक ! परीषहरूपी सेना से मन एवं काया द्वारा युद्ध करना चाहिए, उससे पराजित नहीं होना चाहिए। आहार साधना में कवचभूत होता है, आहार के बिना समाधि का इच्छुक साधक समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिए समाधिस्थ साधक को अनियत समय में जो दिया जाता है, वह समाधि की प्राप्ति के लिए ही होता है। जिस क्षपक-साधक ने शरीर का भी परित्याग कर दिया हो, उसकी भोजन में आसक्ति नहीं रहती, साधक केवल समाधि में स्थित रहे, इसलिए अन्त में उसे आहार दिया जाता है।

जैसे योद्धा जब युद्धभूमि में जाता है, तो कवच धारण करके जाता है, रणभूमि में शत्रुओं द्वारा भेदन किए जाने पर भी कवच से वह अवद्य रहता है और युद्ध करने में समर्थ होकर शत्रु को जीत लेता है, वैसे ही समाधिस्थ क्षपक को भी परीषहरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है।

इकत्तीसवां नवकार-द्वार —(गाथा 894-912)

इस प्रकार, इन परीषहों को सम्यक् प्रकार से सहन करता हुआ क्षपक सब पदार्थों के प्रति आसक्तिरहित होकर मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है तथा समता से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ विचरता है। सभी बारह अंगों के अध्ययन से उसकी परिणाम-विशुद्धि होती है। अनशन-आराधना के अन्तिम चरण में बारह अंगों रूपी श्रुतस्कन्ध का अनुचिन्तन एवं उच्चारण करने में सभी क्षपक समर्थ नहीं होते हैं। उन सब अंगों का सार नमस्कार-महामंत्र है। नामादि मंगलों में प्रथम मंगल नमस्कार ही होता है, जो सभी भयों को दूर करता है। नमस्कार-महामन्त्र इस लोक व परलोक में दुःखों का हरण करता है और भवसागर से पार कराता है। अरिहन्तों को नमन, सिद्धों को नमन, आचार्यों और उपाध्यायों को नमन एवं सभी साधुओं को नमन— ये पंच नमस्कार पापों का नाश करने वाले हैं, अतः सब कुछ छोड़कर मरणकाल में इन्हीं की शरण ग्रहण करने योग्य है।

अरिहन्तादि को वन्दन-नमस्कार करने से जीवन हजारों भवों से छुटकारा पाता है तथा भावपूर्वक इस नवकार का जाप करने से साधक को को बोधिलाभ की प्राप्ति होती है। पंचपरमेष्ठी का जो श्रद्धा से, अन्तर-हृदय से अपने मन में जाप करता है, उसे मोह व रागरूपी पिशाच नहीं जीत सकता तथा वह संसार-सागर से तर जाता है। अनशन से युक्त क्षपक पंच नमस्कार-मंत्र के श्रेष्ठ अर्थ के श्रवण से व्रतहस्ति स्कंधारूढ़ होकर मरण-रण में दुर्जय हो जाता है। नवकार-मंत्र कल्याणकारी है, मंगलरूप है, बारह अंगों का सार है, जानने योग्य है, ध्यान करने योग्य है, जप करने योग्य है। अन्तिम श्वास के समय जब मंत्रों का उच्चारण करने में क्षपक असमर्थ हो जाए, तब क्षपक का निर्यापक द्वारा देह से रागादि को छोड़कर वैराग्य-पूरित हृदय से यह मंत्र भावपूर्वक सुनना चाहिए।

बत्तीसवां आराधना-फल-द्वार —(गाथा 913-925)

जो शुभ ध्यान और शुभ लेश्या से युक्त है, वह पवित्र आत्मा निर्विघ्न रूप से समाधिमरण को प्राप्त करती है। तीनों लोकों का सार, चतुर्गति संसार में दुःख का नाश करने वाला, आराधना में

लगा हुआ, मोक्ष-सुख को चाहने वाला भाग्यवान् क्षपक उत्कृष्ट आराधना की विधि-अनुसार आराधना करके, कर्मों का क्षय करके, उसी भव में सिद्धि को प्राप्त करता है। इसी प्रकार, मध्यम आराधना का अनुपालन करके वह क्षपक ईशानांत में अनुत्तरादि देवत्व प्राप्त करता है। जघन्य प्रकार की आराधना करके ज्ञानी मुनि सौधर्म देवलोक में महान् ऋषिशाली देवगति को प्राप्त करता है। उत्कृष्ट आराधना से युक्त सुश्रावक अच्युतकल्प देव-विमान में जाता है तथा जघन्य आराधना से सौधर्म देवलोक को प्राप्त करता है। अधिक क्या कहें, सम्पूर्ण साधना का सार मोक्ष है, वह सब, समाधिस्थ क्षपक साधना-आराधना करके शीघ्र ही प्राप्त करता है। अन्त में उपसंहार में 926 से 932 तक 7 गाथाएँ हैं। इसमें आराधना का महत्त्व वर्णित है।

समाधिमरण-विषयक ग्रन्थों में आराधना-पताका का स्थान एवं महत्त्व

जैन-परम्परा के समाधिमरण-विषयक विवेचन को लेकर हमने पूर्व में जैन-आगम-साहित्य और आगमिक-प्रकीर्णक-साहित्य की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट किया है कि आगम-साहित्य में आचारांग, उत्तराध्ययन, अंतकृद्दशा, औपपातिकसूत्र, अनुत्तरोपपातिकसूत्र आदि में समाधिमरण सम्बन्धी कुछ निर्देश हैं। इसके साथ-साथ हमने यह भी देखा है कि मरणसमाधि, चन्द्रवैध्यक, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान आदि प्रकीर्णक ग्रन्थों में भी समाधिमरण की विस्तृत चर्चा हुई है। इसके अतिरिक्त, समाधिमरण संबंधी आगमेत्तर-ग्रन्थों में भगवती-आराधना, संवेगरंगशाला, आराधना-कथाकोश आदि में भी समाधिमरण सम्बन्धी विवरण उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अभिलेख भी ऐसे हैं, जिनमें समाधिमरण का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार, समाधिमरण विषयक ग्रन्थों की इस चर्चा को करने के पश्चात् हम इस प्रश्न पर आते हैं कि समाधिमरण-विषयक ग्रन्थों में आराधना-पताका का क्या स्थान और महत्त्व है ?

वस्तुतः, समाधिमरण-विषयक आगमिक-ग्रन्थों, प्रकीर्णकों के पश्चात् समाधिमरण की स्पष्ट चर्चा करने वाला श्वेताम्बर-परम्परा में कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ है, तो वह मरणसमाधि के अतिरिक्त प्राचीनाचार्य-विरचित सबसे प्राचीन ग्रन्थ आराधना-पताका ही है। जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया है कि इस आराधना-पताका की रचना मरणसमाधि, मरण-विभक्ति और भगवती-आराधना के पश्चात् ही हुई है, क्योंकि इसकी अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति में आराधना-पताका के लिए आराधना-भगवती और मरणसमाधि के नाम का भी उल्लेख हुआ है। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि अर्द्धमागधी प्राकृत-साहित्य में प्राचीनाचार्यकृत आराधना-पताका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके पश्चात् निर्मित वीरभद्र-कृत आराधना-पताका में इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जाता है, क्योंकि उसकी अनेक गाथाएँ इसके समरूप ही हैं तथा द्वारादि की चर्चा में भी बहुत कुछ समरूपता देखी जाती है। जैसा कि हमने पूर्व में भी उल्लेख किया है, यह ग्रन्थ मरणसमाधि, मरण-विभक्ति और दिगम्बर-परम्परा के भगवती-आराधना के बाद लगभग छठवीं-सातवीं शताब्दी में रचित है। इसकी प्राचीनता का एक प्रमाण यह भी है कि इसकी भाषा पर महाराष्ट्री-प्राकृत का प्रभाव क्वचित् रूप में ही देखा जाता है। श्वेताम्बर-परम्परा में इसके पश्चात् समाधिमरण-विषयक ग्रन्थों में वीरभद्र-कृत आराधना-पताका और संवेगरंगशाला का क्रम आता है। ये दोनों ही ग्रन्थ क्रमशः दसवीं और बारहवीं शताब्दी में रचित हैं और इस प्राचीनाचार्यकृत आराधना-पताका से पूर्णतः प्रभावित भी हैं। ज्ञातव्य है कि दिगम्बर-परम्परा में वड्ड-आराधना और आराधना-कथाकोश भी प्रायः इसी काल में लिखे गए। इसके पश्चात्, यद्यपि श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई, किन्तु हमारी जानकारी में इस काल में समाधिमरण से सम्बन्धित कोई अन्य

ग्रन्थ लिखा गया हो, यह ज्ञात नहीं है। वर्तमान में मरणसमाधि नाम का जो ग्रन्थ है, वह वस्तुतः समाधिमरण सम्बन्धी प्राचीन आचार्यों के छः ग्रन्थों का संकलन—मात्र ही है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि समाधिमरण—सम्बन्धी जैन—साहित्य में प्राचीनाचार्यकृत आराधना—पताका का एक महत्वपूर्ण स्थान है।

जैन—धर्म में समाधिमरण लेने सम्बन्धी अनेक कथानक मिलते हैं। इन आख्यानकों में अनेक आख्यान ऐतिहासिक—दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार, विशेष रूप से दिगम्बर—परम्परा में दक्षिण भारत में समाधिमरण लेने से सम्बन्धित अनेक अभिलेख मिलते हैं, जो समाधिमरण की प्राचीन परम्परा के पुष्ट प्रमाण हैं। इस प्रकार, समाधिमरण सम्बन्धी जो भी अभिलेखी और साहित्यिकी—प्रमाण हैं, उनसे यह सिद्ध होता है कि जैन—धर्म में समाधिमरण ग्रहण करने की परम्परा प्राचीनकाल से लेकर आज तक अनवरत रूप से चलती आ रही है। ऐसी जीवन्त परम्परा के सम्बन्ध में यदि कोई प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध हो, तो उसका महत्व अपने—आप ही सुस्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार, हम यह कह सकते हैं कि समाधिमरण—विषयक जैन—साहित्य में प्राचीनाचार्यकृत आराधना—पताका का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा हुआ है और आज भी यह समाधिमरण ग्रहण करने वाले साधकों के लिए एक आदर्श ग्रन्थ माना जाता है।

अध्याय - 2

समाधिमरण सम्बन्धी आगम और आगमेतर ग्रन्थ

आत्मा की शाश्वतता को रेखांकित करते हुए तथा मृत्यु के पश्चात् किसी अन्य जन्म में किसी अन्य शरीर में पुनर्जन्म के बारे में 'आचारांगसूत्र' में विस्तार से चर्चा उपलब्ध होती है।¹

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु निश्चित है तथा मरने वाले का पुनर्जन्म भी निश्चित है।² जब तक आत्मा संसार में रहती है, तब तक उसके लिए मृत्यु एक वास्तविकता है। मृत्यु की वास्तविकता होते हुए भी संसार में कोई भी प्राणी उसे सहज रूप में नहीं लेता है। सभी भाषाओं के साहित्य में तथा सभी धर्मों के शास्त्रों में मृत्यु की अवश्यम्भाविता के बारे में कहा गया है, परन्तु साथ में यह भी कहा गया है कि मृत्यु सबसे भयावह दुःखकारी तथा पीड़ाकारी होती है। उत्तराध्ययनसूत्र में शास्त्रकार कहते हैं कि जन्म दुःख है, जरा दुःख है, इसी प्रकार रोग तथा मृत्यु भी दुःख हैं; जिनसे सांसारिक-प्राणी दुःखी होते रहते हैं।³ इसी प्रकार, आदि शंकराचार्य ने भी बारम्बार जन्म और मृत्यु को तथा बार-बार माता के गर्भ में रहने को अति पीड़ादायक बताया है,⁴ इसलिए अनादिकाल से ही महान सन्तों और धर्म-प्रवर्तकों का यह प्रयास रहा है कि वे संसार के सभी प्राणियों को और विशेषतया मानवों को इस दुःख, संताप और क्लेश से मुक्त करें। उनके द्वारा प्रवर्तित और प्रचारित सभी धर्मों और समुदायों ने प्राणियों के लिए संसार से मुक्त होकर एक ऐसी शाश्वत सत्ता प्राप्त करने का मार्ग बताया है, जिसे मोक्षमार्ग कहा गया है, जहाँ कि वे अनन्त-काल तक अनन्त सुख का उपभोग कर सकें। यह स्पष्ट है कि ऐसा तभी सम्भव है, जब प्राणी पुनर्जन्म की श्रृंखला का भेदन करके जन्म-मृत्यु के चक्र को समाप्त कर दे।

प्राणी चाहे कितना ही सशक्त व मनोबली क्यों न हो, अन्तकाल में मृत्यु का भय उसे त्रस्त करने के लिए पर्याप्त होता है। जैन-विचारकों ने इस भय और तदजन्य त्रास से पार पाने के लिए एक अनुपम मार्ग की खोज की है। उन्होंने मृत्यु की अवश्यम्भावी घटना का स्वागत समभावपूर्वक करने का मार्ग ही नहीं सुझाया, अपितु यह भी कहा कि जब मृत्यु आसन्न हो, तो व्यक्ति स्वयं ही समभाव से उस दिशा में आगे बढ़कर उसका स्वागत करे। उन्होंने यह कहा कि इस प्रकार समभावपूर्वक मृत्यु का आलिंगन करने से आत्मा कर्मों की निर्जरा करके मुक्ति या निर्वाण को प्राप्त करता है। समतापूर्वक मृत्यु की इस अवधारणा को जैनधर्म में समाधिमरण कहा गया है।

¹ आचारांगसूत्र - 1/1/1/1

² जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। - श्रीमद्भगवद्गीता - 2/27

³ जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य।

अहो दुक्खो हू संसारो, जत्थ कीसंति जंतवो।। - उत्तराध्ययन, 19/15

⁴ पुनरपि जन्मं पुनरपि मरणं, पुनरपि जननी जठरे शयनं।

इह संसारे बहुदुस्तारे, कृपयापारे पाहि मुरारे।। - आदि शंकराचार्य, मोहमुद्गर-स्तोत्र/21

यह शोध-प्रबंध समाधिमरण की इसी अवधारणा को प्राचीन आचार्य विरचित आराधना-पताका के सन्दर्भ में समालोचनात्मक अध्ययन को समर्पित है। प्रस्तुत प्रबन्ध में इस अध्ययन के साथ-साथ समाधिमरण एवं इतर-इच्छामृत्युओं, जैसे- आत्महत्या, दयामृत्यु, सम्मानमृत्यु आदि की उपादेयता-अनुपादेयता का भी तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन किया जाएगा।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किस प्रकार की मृत्यु को समाधिमरण कहा जा सकता है ? यह किस प्रकार अन्य प्रकार की इच्छामृत्युओं से भिन्न है ? संस्तारक-प्रकीर्णक में कहा गया है कि ऐसा व्यक्ति, जिसका शरीर, मस्तिष्क और वचन-शक्ति शिथिल हो गए हों, जो राग और द्वेष से ऊपर उठ चुका हो, जो माया, मिथ्या एवं निदानशल्य से मुक्त हो, जिसने क्रोध, मान, माया और लोभरूपी चार महाकषायों को विजित कर लिया हो, जो चार प्रकार की विकथाएं (भक्तकथा, देशकथा, राजकथा, स्त्रीकथा) ना करता हो, जो पांच महाव्रतों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और असंग्रह) का दृढ़ता से पालन करता हो, जो पंच समितियों, त्रिगुप्तियों का पालक हो, जो षट्जीवनिकाय का रक्षक हो, जो सप्तभयों से अभय हो, जिसमें आठ प्रकार के मद अपना सर न उठाते हों, जो नववाड़ों सहित ब्रह्मचर्य का पालन करता हो, जो दस मुनिधर्मों का पालक हो तथा जो असाधु लोगों की संगत से बचता हो, वही समाधिमरण हेतु संस्तारक पर सफलतापूर्वक आरूढ़ हो सकता है। इसके विपरीत, जो अभिमानी हो, जो अपने दोषों का गुरु के सम्मुख प्रायश्चित्त न करता हो तथा जो शिथिलाचारी हो, ऐसे व्यक्ति का संस्तारक पर आरूढ़ होना व्यर्थ है, क्योंकि उसे इस आराधना का सम्यक् फल प्राप्त नहीं होता है।

आगम ग्रन्थों में मरण और समाधिमरण —आध्यात्मिक-साधनापरक महत्व को देखते हुए जैन-आगम व आगमेतर ग्रन्थों में इस विषय को प्रमुख स्थान मिला है। जहाँ श्वेताम्बर-परम्परा के आचारांग, समवायांग, उत्तराध्ययनसूत्र व अनेक प्रकीर्णक-ग्रन्थों में समाधिमरण-विषयक विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है, वहीं दिग्म्बर-परम्परा में भी भगवती-आराधना, मूलाचार, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त परवर्तीकालीन अनेक ग्रन्थों में भी मरण के प्रकारों एवं समाधिपूर्वक मरण की प्रक्रिया का निर्देशन एवं उसके महत्व का प्रतिपादन किया गया है।

जन्म एवं मृत्यु के इस चक्र को स्पष्ट करते हुए आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन¹ में ही कहा गया है कि संसार में अनेक प्राणी हैं, जो यह नहीं जानते कि मैं कौन हूँ और कहाँ से आकर मैंने यहाँ जन्म लिया है ? जन्म एवं मृत्यु की इस श्रृंखला में व्यक्ति न तो अपने पूर्व जीवन को जानता है और न ही आगे आने वाले जीवन के सम्बन्ध में उसे कोई बोध होता है, किन्तु जन्म और मरण की यह प्रक्रिया पुनर्जन्म की अवधारणा के साथ जुड़ी हुई है। इसे स्वीकार किए बिना जीवन और मृत्यु के इस चक्र को नहीं समझा जा सकता।

जैनदर्शन की मान्यता है कि जो आत्मा की परिणामी-नित्यता और पुनर्जन्म को स्वीकार करता है, वही लोक के अस्तित्व को भी स्वीकार करता है, क्योंकि पुनर्जन्म लोक या संसार की अवधारणा के आधार पर टिका हुआ है। आचारांगसूत्र में इसीलिए कहा गया है कि जो आत्मवादी होता है, वही लोकवादी होता है और जो लोकवादी होता है, वही कर्मवादी होता है, वही क्रियावादी होता है।

¹ आचारांगसूत्र, 1/1/1

इस प्रकार आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद— ये चारों सिद्धान्त जन्म और मृत्यु के इस संसार—चक्र के साथ ही योजित हैं, क्योंकि जहाँ जन्म है, वहीं मृत्यु है और जहाँ मृत्यु है, वहीं पुनर्जन्म है और इसका मूल कर्म सिद्धान्त ही है।

जैनदर्शन ने इस जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्त होने के लिए मोक्ष या मुक्ति की अवधारणा को प्रस्तुत किया है और उसके साथ ही उसे प्राप्त करने के मार्ग, अर्थात् मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए आराधना आवश्यक है और आराधना में समाधिमरण की अवधारणा को प्रमुख माना गया है।

(अ) श्वेताम्बर—परम्परा के मान्य आगम और आगमेतर ग्रन्थ

आचारांग—सूत्र—जैन—आगम—साहित्य में आचारांगसूत्र को प्राचीनतम माना जाता है। विद्वानों की मान्यता है कि आचारांग में स्वयं भगवान् महावीर की वाणी संकलित है। गणधर गौतम ने इसे सूत्रबद्ध किया था। इसकी रचना सम्भवतः ईसा पूर्व पांचवी—छठवीं शताब्दी में हुई, ऐसा माना जाता है। द्वादशांगी में इसका प्रथम स्थान है। यह ग्रन्थ दो श्रुतस्कन्धों में विभाजित है। दोनों श्रुतस्कन्धों को मिलाकर इसमें कुल पच्चीस अध्यायन, 85 उद्देशक और अठारह हजार पद हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में नौ अध्याय एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सोलह अध्याय हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध द्वितीय श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा अधिक प्राचीन है।

आचारांग में मुख्य रूप से मुनिधर्म का विवरण मिलता है। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध में समाधिमरण की भी चर्चा है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्यायों के नाम इस प्रकार हैं— प्रथम अध्याय शस्त्रपरिज्ञा, द्वितीय अध्याय लोकविजय, तृतीय अध्याय शीतोष्णीय, चतुर्थ अध्याय सम्यक्त्व, पंचम अध्याय लोकसार, षष्ठ अध्याय द्यूत, सप्तम अध्याय महापरिज्ञा, अष्टम अध्याय विमोक्ष तथा नवम अध्याय उपधानश्रुत। इनमें से अष्टम अध्याय में समाधिमरण की साधना की चर्चा है।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए आराधना आवश्यक है और आराधना में समाधिमरण की साधना को प्रमुख माना गया है। समाधिमरण की साधना जीवन के द्वार पर दस्तक दे रही है। यह मृत्यु के आगमन की शान्ति—भाव से स्वीकृति है।

आचारांगसूत्र¹ में यह कहा गया है कि किसी भी प्राणी के लिए मृत्यु परम भयकारक है, किन्तु इसके साथ ही यह भी सत्य है कि मृत्यु अपरिहार्य है। आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के विमोक्ष नामक आठवें अध्याय में तीन प्रकार की अन्तिम आराधनाओं का वर्णन किया गया है, यथा— 1 भक्त—प्रत्याख्यान, 2 इंगिनीमरण 3 प्रायोपगमन—मरण। इसके साथ ही इसमें काल की अपेक्षा से उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य—संलेखना या समाधिमरण का भी वर्णन मिलता है। यह विवरण आराधना पताका में भी समान रूप से मिलता है। वहाँ यह भी कहा गया है कि समाधिमरण के साधक को जीवन और मृत्यु की कामना से रहित होकर जीवन के द्वार पर दस्तक दे रही मृत्यु का शान्त भाव से स्वागत करना चाहिए।

डॉ. सागरमल जैन ने अपने लेख² जैन—आगमों में समाधिमरण की अवधारणा में यह निर्देश किया है कि आचारांगसूत्र में जिन परिस्थितियों में समाधिमरण की अनुशंसा की गई है, वे विशेष रूप से विचारणीय हैं। सर्वप्रथम तो आचारांग में समाधिमरण का उल्लेख उसके प्रथम श्रुतस्कन्ध के

¹ आचारांगसूत्र अध्ययन, 1/1/1

² डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रंथ, सं. डॉ. सुदर्शनलाल जैन, पृ. 425—432

विमोक्ष नामक अष्टम अध्ययन में हुआ है। यह अध्ययन विशेष रूप से शरीर, आहार, वस्त्र आदि के प्रति निर्ममत्व एवं उनको अल्पमत करने की चर्चा करता है। इसमें वस्त्र एवं आहार के त्याग की प्रक्रिया को समझाते हुए ही अन्त में देह-विसर्जन की साधना, अर्थात् समाधिमरण का उल्लेख हुआ है।

समाधिमरण किन परिस्थितियों में लिया जा सकता है, आचारांगसूत्र इसकी संक्षिप्त, किन्तु महत्वपूर्ण विवेचना प्रस्तुत करता है। इसमें समाधिमरण स्वीकार करना निम्न तीन परिस्थितियों में उचित माना जाता है—

1. जब शरीर इतना अशक्त व ग्लान हो कि व्यक्ति संयम के नियमों का पालन करने में असमर्थ हो और मुनि के आचार-नियमों का भंग करके ही जीवन बचाना सम्भव हो, तो ऐसी स्थिति में आचार नियमों के उल्लंघन की अपेक्षा देह का विसर्जन ही नैतिक है।

2. जब व्यक्ति को लगे कि उसकी वृद्धावस्था, अथवा उसके असाध्य रोग के कारण उसका जीवन पूर्णतः दूसरों पर निर्भर हो गया है, वह दूसरों के लिए भी भारस्वरूप बन गया है तथा अपनी साधना करने में भी असमर्थ हो गया है, तो ऐसी स्थिति में वह आहारादि का त्याग करके देह के प्रति निर्ममत्व की साधना करते हुए देह का विसर्जन कर सकता है।

3. इसी प्रकार साधक को जब यह लगे के सदाचार या ब्रह्मचर्य का खण्डन किए बिना अब जीवन जीना सम्भव नहीं है, तो वह तत्काल ही श्वास-निरोध आदि करके अपना देहपात कर सकता है।¹

इससे यह ज्ञात होता है कि आचारांगकार न तो जीवन को जीने से इन्कार करता है और न ही जीवन से भागने की बात करता है। वह तो मात्र यह प्रतिपादित करता है कि जब मृत्यु जीवन के द्वार पर दस्तक दे रही हो और आचार-नियम, अर्थात् ली गई प्रतिज्ञा भंग किए बिना जीवन जीना सम्भव नहीं हो, तो ऐसी स्थिति में मृत्यु का वरण ही उचित है।

आचारांगकार ने नैतिक मूल्यों के संरक्षण और जीवन के संरक्षण में उपस्थित विकल्प की स्थिति में ही मृत्यु को वरेण्य माना है। ऐसी स्थिति में वह स्पष्ट निर्देश देता है कि ऐसा व्यक्ति मृत्यु का वरण कर ले। यह उसके लिए कालमृत्यु ही है, क्योंकि इसके द्वारा वह संसार का अन्त करने वाला होता है।

जब भिक्षु को यह अनुभव हो कि उसका शरीर अब इतना दुर्बल, अथवा रोग से आक्रान्त हो गया है कि गृहस्थों के घर भिक्षा के लिए परिभ्रमण करना उसके लिए सम्भव नहीं है, साथ ही गृहस्थ द्वारा उसके सम्मुख लाया गया आहार आदि ग्रहण करना योग्य नहीं है, ऐसी स्थिति में एकाकी साधना करने वाले जिनकल्पी-मुनि के लिए आहार का त्याग करके संथारा ग्रहण करने का विधान है।

स्थानांग-सूत्र—बारह अंग-सूत्रों में स्थानांग को तृतीय अंग माना है। 'स्थान' और 'अंग'—इन दो शब्दों से मिलकर बनने के कारण इसे स्थानांग कहा जाता है। प्रस्तुत आगम में एक से लेकर दस तक की संख्या वाले पदार्थों का उल्लेख किया गया है।

स्थानांग दस स्थानों में विभक्त है। प्रत्येक स्थान (अध्ययन) में अनेक विषयों का वर्णन संख्या के आधार पर किया गया है।

¹ वही, पृ. 427

इसके द्वितीय अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक में समाधिमरण की चर्चा मिलती है। इसमें समाधिमरण के दो रूप— भक्तप्रत्याख्यान और प्रायोपगमनमरण का विवरण उपलब्ध है।¹

स्थानांगसूत्र के तृतीय अध्ययन या स्थान में मरण के तीन प्रकार भी निरूपित हैं— 1. बालमरण 2. पण्डितमरण और 3. बालपण्डितमरण।²

इसमें असंयमी जीवों के मरण को बालमरण, संयमियों के मरण को पण्डितमरण तथा संयतासंयत, अर्थात् श्रावकों के मरण को बालपण्डितमरण कहा गया है। इन मरणों का सम्बन्ध लेश्या से जोड़ते हुए स्थानांगसूत्र³ में कहा गया है कि ये तीनों मरण तीन-तीन प्रकार के होते हैं। बालमरण के तीन प्रकार हैं—1. स्थित-लेश्य, 2. संक्लिष्ट-लेश्य, 3. पर्यवजात-लेश्य।

पण्डितमरण में लेश्या संक्लिष्ट नहीं होती, अतः उसके— 1. स्थित-लेश्य, 2. संक्लिष्ट-लेश्य तथा 3. पर्यवजात (विशुद्धि की वृद्धि से युक्त) लेश्य— ये तीन भेद नहीं होते हैं, किन्तु बालपण्डितमरण में 1. स्थित-लेश्य, 2. असंक्लिष्ट-लेश्य तथा 3. अपर्यवजात-लेश्य— ये तीन भेद होते हैं।

मरण के विविध प्रकारों का वर्णन निम्न रूप में भी किया गया है—

बलन्मरण, वशार्त्तमरण, निदानमरण, तद्भवमरण, गिरिपतनमरण, तरुपतनमरण, जलप्रवेशमरण, अग्निप्रवेशमरण, विषभक्षणमरण, शस्यावपाटमरण, वैहायसमरण (वैखानसमरण), गिद्धपट्टमरण या गृद्धस्पृष्टमरण।

इसी में, भक्तप्रत्याख्यानमरण और प्रायोपगमनमरण के निर्हारिम एवं अनिर्हारिम— इन दो रूपों पर विचार किया गया है।

समवायांग-सूत्र —समवायांगसूत्र के दसवें समवाय⁴ में दस समाधिस्थानों का कथन है, उनमें केवलीमरण को भी समाधि का एक स्थान माना गया है। वहाँ यह कहा गया है कि केवलीमरण साधक को सब प्रकार के दुःखों से रहित कर देता है, इसलिए वह समाधिरूप है।

समवायांगसूत्र⁵ के सत्रहवें समवाय में जिन सत्रह प्रकार के मरणों का उल्लेख प्राप्त होता है, वे निम्नानुसार हैं—

1. अविचिमरण 2. अवधिमरण 3. आत्यन्तिकमरण 4. बलन्मरण 5. वशार्त्तमरण 6. अन्तःशल्यमरण 7. तद्भवमरण 8. बालमरण 9. पण्डितमरण 10. बालपण्डितमरण 11. छद्मस्थमरण 12. केवलीमरण 13. वैहायसमरण 14. गृद्धस्पृष्टमरण 15. भक्तप्रत्याख्यानमरण 16. इंगिनीमरण तथा 17. पादपोपगमनमरण।

मरण के इन सत्रह प्रकारों में पण्डितमरण, केवलीमरण, भक्तप्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण और पादपोपगमनमरण का वर्णन भी इसमें समाहित है, जिनका सम्बन्ध समाधिमरण से है।

भगवती-सूत्र—(व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र)⁶ में मरण के प्रकारों में बालमरण एवं पण्डितमरण के दो-दो भेद बतलाए गए हैं। वहाँ पण्डितमरण के प्रायोपगमन एवं भक्तप्रत्याख्यान— ये दो भेद किए

¹ स्थानांग - द्वितीय स्थान

² स्थानांग - तृतीय स्थान

³ स्थानांगसूत्र - 3 एवं 4, 520-522, पृ. 193

⁴ समवायांग सूत्र, 10 वां समवाय - पृ. 25

⁵ समवायांगसूत्र - 17वां समवाय

⁶ भगवती सूत्र

गए हैं। इंगिनीमरण का समावेश वहाँ भक्तप्रत्याख्यान में कर लिया गया है। बालमरण के बारह भेद किए गए हैं, जो मरण के विभिन्न निमित्तों के द्योतक हैं। वे इस प्रकार हैं—

1. बलन्मरण 2. वशार्त्तमरण 3. निदानमरण 4. तद्भवमरण 5. गिरिपतनमरण 6. तरुपतनमरण 7. जलप्रवेशमरण 8. अग्निप्रवेशमरण 9. विषभक्षणमरण 10. शस्यावपाटमरण 11. वैहायसमरण तथा 12. गिद्धपट्टमरण या गृद्धस्पष्टमरण।

मरण के इन विभिन्न प्रकारों के गुण दोषानुसार वलयमरण, वशार्त्तमरण, निदानमरण, तद्भवमरण, गिरिपतनमरण, जलप्रवेशमरण, अग्निप्रवेशमरण, विषभक्षणमरण एवं शस्यावपाटनमरण को भगवान् महावीर द्वारा अवर्णित, अकीर्त्तित, अप्रशंसित एवं अनभ्यनुज्ञात कहा गया है।

उपासकदशांग—सूत्र— सातवें अंग— आगम उपासकदशांगसूत्र के दस अध्ययनों में श्रमण भगवान् महावीर के शासन के दस उत्कृष्ट उपासकों (गृहस्थ—आराधकों) की उत्कृष्ट आध्यात्मिक—साधना का वर्णन मिलता है। उनमें, मृत्यु के समीप आने पर तथा वृद्धावस्था व रोग के कारण शरीर के धर्मााराधना के लिए अनुपयुक्त हो जाने पर उनके द्वारा अपश्चिम मारणान्तिक—संलेखना की आराधना करने का और उसे भंग करने हेतु देवकृत उपसर्गों का वृत्तान्त मिलता है। इसमें इस आराधना के निम्न पांच अतिचारों का उल्लेख भी मिलता है—¹

1. इहलोगासंसाप्रयोग—उच्च और समृद्ध दैविक पुनर्जन्म की आकांक्षा करना।
2. परलोकासंसाप्रयोग—परलोक में उच्च और समृद्ध दैविक पुनर्जन्म की आकांक्षा करना।
3. जीवितासंसाप्रयोग—समाधिमरण की आराधना करते हुए मिल रहे मान—सम्मान को समझकर लम्बे समय तक जीने की आकांक्षा करना।
4. मरणासंसाप्रयोग—समाधिमरण की आराधना में बढ़ते हुए कष्टों से घबराकर जल्दी मरने की आकांक्षा करना।
5. कामभोगासंसाप्रयोग—समाधिमरण की आराधना से उपार्जित पुण्यफल के रूप में जन्म—जन्मान्तर में अनेक कामभोगों को प्राप्त करने की आकांक्षा करना।

अन्तकृतदशा— इस आगम में जन्म—मरण के दुःखों का अन्त कर देने वाले महापुरुषों के जीवन का वर्णन मिलता है।² स्थानांगसूत्र में इस ग्रन्थ में दस अध्ययन होने का उल्लेख है, जबकि समवायांगसूत्र में दस अध्ययन एवं सात वर्गों का उल्लेख है। वर्तमान में प्रस्तुत आगम में एक श्रुतस्कन्ध तथा आठ वर्ग हैं, जिनमें क्रमशः दस, आठ, तेरह, दस, दस सोलह, तेरह और दस अध्ययन हैं। छठवें, सातवें, आठवें वर्ग में महावीर के समकालीन उन्चालीस उग्र तपस्वियों एवं साधवियों के समाधिमरण का विवरण मिलता है। सातवें, आठवें वर्ग में सम्राट श्रेणिक की नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा आदि महारानियों के समाधिमरण लेने का विवरण मिलता है।

अनुत्तरोपपातिक—सूत्र— इस सूत्र के तैंतीस अध्यायों में भी समाधिमरण की साधना का हृदयग्राही वर्णन उपलब्ध होता है। इसमें यह कहा गया है कि समाधिमरण की साधना से प्राप्त पुण्यफल से वे सब साधक जन्मान्तर में अनुत्तर—विमानों में पैदा हुए।³

¹ उपासकदशांग सूत्र, 91

² देखें— अन्तकृतदशांगसूत्र — सं. मुनि मिश्रीमलजी मधुकर, ब्यावर

³ अनुत्तरोपपातिकसूत्र — सं. मुनि कन्हैयालाल, कमल आगम प्रकाशन समिति ब्यावर—, 1990

निरयावलिया—सूत्र—निरयावलियासूत्र¹ में समाधिमरण के सम्बन्ध में महाबल अणगार का दृष्टांत दिया गया है। महाबल ने धर्मघोष स्थविर के पास दीक्षा अंगीकार कर चौदह पूर्व का अध्ययन किया था। उन्होंने बारह वर्षों तक श्रमण—पर्याय का पालन करने के बाद एक मास की संलेखनापूर्वक साठ भक्त का अनशन कर आलोचना एवं प्रतिक्रमण करते हुए समाधिमरण को प्राप्त किया।

वण्हदसा नामक अध्ययन के अनुसार द्वारिका नामक एक नगरी थी। उस पर श्रीकृष्ण राजा राज्य करते थे। राजा बलदेव की रानी रेवती थी। उसने निषधकुमार को जन्म दिया। निषधकुमार ने युवावस्था आने पर दीक्षा को अंगीकार कर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया तथा पैंतालीस वर्षों तक श्रमण—पर्याय का पालन किया। उसके बाद उन्होंने दो मास की संलेखना ग्रहण कर पापस्थानकों की आलोचना द्वारा आत्मशुद्धि करके समाधिभाव से कालधर्म को प्राप्त किया।

उत्तराध्ययन—सूत्र—प्राचीन जैनआगम साहित्य में उत्तराध्ययन का महत्वपूर्ण स्थान है। उत्तराध्ययन में भी समाधिमरण का विवरण उसके पांचवें एवं छत्तीसवें अध्याय में उपलब्ध होता है। इसके पांचवें अध्याय में सर्वप्रथम मृत्यु के दो रूपों की चर्चा है— 1. अकाम—मरण तथा 2. सकाम—मरण। उसमें यह बताया गया है कि अकाम—मरण बार—बार होता है, जबकि सकाम—मरण एक बार ही होता है। उत्तराध्ययन के अनुसार अकाम (आसक्तियुक्त) मरण करने वाला व्यक्ति संसार में आसक्त होकर अनाचार का सेवन करता है, फलतः वह बार—बार जन्म—मरण करता है, सकाम—मरण एक ही बार होता है। ज्ञातव्य है कि यहाँ अकाम—मरण का तात्पर्य कामना से रहित मरण न होकर आत्मपुरुषार्थ से रहित निरुद्देश्य या निष्प्रयोजनपूर्वक मरण से है। इस प्रकार, सकाम—मरण का तात्पर्य पुरुषार्थ या साधना से युक्त सोद्देश्य मरण या मुक्ति के प्रयोजनपूर्वक मरण से है।

“संति में य दुवे ठाणा, अक्खाया मरणतिया।

अकाम मरणं चेव सकाम मरणं तहा।

बालाणं अकामं तु मरणं असइं भवे।

पंडियाणं सकामं तु उक्कोसेण सइं भवे।”²

उत्तराध्ययनसूत्र³ के अनुसार अकाम—मरण करने वाला व्यक्ति संसार में आसक्त होकर अनाचार का सेवन करता है और काम—भोगों के पीछे भागता है। ऐसा व्यक्ति मृत्यु के समय भय से संतर्पित होता है और हारने वाले घूर्त्त जुआरी की तरह शोक करता हुआ अकाम—मरण को, अर्थात् निष्प्रयोजन मरण को प्राप्त होता है, जबकि सकाम—मरण पण्डितों को प्राप्त होता है। संयत जितेन्द्रिय पुण्यात्माओं को ही अति प्रसन्न, अर्थात् निराकुल एवं आघातरहित यह मरण प्राप्त होता है। ऐसा मरण न तो सभी भिक्षुओं को मिलता है, न सभी गृहस्थों को। जो भिक्षु हिंसा आदि से निवृत्त होकर संयम का अभ्यास करते हैं, उन्हें ही ऐसा सकाम—मरण प्राप्त होता है। उत्तराध्ययनसूत्र⁴ में समाधिमरण या संलेखना के काल आदि के सम्बन्ध में और उसकी प्रक्रिया के

¹ निरयावलियासूत्र — मुनि मिश्रालाल जी मधुकर, ब्यावर

² उत्तराध्ययन सूत्र— सं. मुनि मधुकर आगम प्रकाशन समिति ब्यावर, — अध्ययन 36 — गाथा— 251—259 तक

³ उत्तराध्ययनसूत्र — सं. मुनि मिश्रीमलजी मधुकर— 5.2/5.3.

⁴ उत्तराध्ययनसूत्र — मुनि मधुकर— अध्ययन— 36 — गाथा— 251—259.

सम्बन्ध में जो आलेख हैं, वे उसके छत्तीसवें अध्याय जीवाजीवविभक्ति में हैं। इसमें द्वादश वर्षीय समाधिमरण का भी उल्लेख है।

दशवैकालिक—मूल आगमों में दशवैकालिक का तीसरा स्थान है। दशवैकालिक का उत्कालिक में प्रथम स्थान है। प्रस्तुत आगम में दस अध्ययन हैं और विकाल में पढ़े जा सकते हैं, इसी कारण इसका नाम दशवैकालिक है तथा इसका रचनाकाल वीर संवत् 72 के लगभग है।

इसके आचार-प्रणिधि नामक अष्टम अध्ययन में समाधिमरण का उल्लेख मिलता है।¹ इस अध्ययन में श्रमणों को पात्र, कम्बल, शय्या, मलमूत्र त्यागने के स्थान, संथारा व आसन के प्रतिलेखन की विधि से अवगत कराया गया है। उन्हें सभी प्रकार के परीषहों को सहन करने का सन्देश दिया है तथा अपने कषायों को अल्प करके समाधिमरण ग्रहण करने का भी निर्देश किया है।

श्वेताम्बर-प्रकीर्णक-ग्रन्थों में समाधिमरण

बत्तीसवें ज्ञात प्रकीर्णकों की विषय-वस्तु पर शोध-परक लेख-संग्रह के रूप में प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक में डॉ. अशोक सिंह द्वारा लिखित 'समाधिमरण सम्बन्धित प्रकीर्णकों की विषय-वस्तु' शीर्षकीय अत्यन्त सारगर्भित लेख भी सम्मिलित है। इस लेख में विद्वान् लेखक ने समाधिमरण-विषयक इक्कीस प्रकीर्णकों की विषय-वस्तु की समालोचना करते हुए उसे सार-रूप में प्रकट किया है। इस लेख में लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि परम्परागत जैन-मान्यता प्रत्येक श्रमण द्वारा एक प्रकीर्णक रचने का उल्लेख करती है, इसलिए समवायांग-सूत्र में भगवान् ऋषभदेव के 84000 शिष्यों द्वारा उतने ही प्रकीर्णकों की रचना करने का उल्लेख मिलता है तथा भगवान् महावीर के तीर्थ में भी उनके 14000 श्रमणों द्वारा इतने ही प्रकीर्णकों की रचना किए जाने की मान्यता है। आलेख में गाथा-संख्या के आरोह-क्रम में समाधिमरण-विषयक प्रकीर्णकों की सूची में केवल आठ गाथा-प्रमाण वाले 'आराधना-कुलकम्' से लगाकर 989 गाथा-प्रमाण वीरभद्राचार्यविरचित 'आराधना-पताका' सम्मिलित है। इसी सूची में इस अध्ययन के आलोच्य ग्रन्थ 932 गाथा-प्रमाण प्राचीनाचार्यविरचित 'आराधना-पताका' का उल्लेख बीसवें क्रम पर किया गया है। आलोच्य ग्रन्थ के अतिरिक्त इस सूची में सम्मिलित समाधिमरण-विषयक मुख्य प्रकीर्णक इस प्रकार हैं—

(1) **आतुर-प्रत्याख्यान**—आतुर-प्रत्याख्यान नामक एक ही शीर्षक से प्राप्त होने वाले इन तीन भिन्न-भिन्न प्रकीर्णकों में कुल 135 गाथाएं हैं, जिनमें मरण-संलेखना, मरण-समाधि तथा मरण-विषयक विभिन्न पक्षों की सम्यक् चर्चा की गई है।

आतुर-प्रत्याख्यान प्रकीर्णक (प्रथम)—इस ग्रन्थ में यह बताया गया है कि यदि कोई दारुण असाध्य बीमारी से पीड़ित हो, तो गीतार्थ पुरुष प्रतिदिन खाद्य-पदार्थ की मात्रा घटाते हुए प्रत्याख्यान करवाते हैं। धीरे-धीरे, जब व्यक्ति आहार के प्रति पूर्ण रूप से अनासक्त हो जाता है, तब उसे भवचरिम-प्रत्याख्यान कराते हैं, अर्थात् जीवन-पर्यन्त आहार-पान का त्याग कराते हैं। यह विश्लेषण जिस ग्रन्थ में है, उसे आतुर-प्रत्याख्यान कहते हैं। इस प्रथम आतुर-प्रत्याख्यान में गद्य-पद्य मिश्रित तीस गाथाएं हैं।

¹ दशवैकालिकसूत्र

इस प्रकीर्णक में पापों का त्याग, ममत्व का विसर्जन एवं सब जीवों से क्षमापना आदि का निरूपण किया गया है। इसके पश्चात् एकत्व-भावना का चिन्तन करते हुए आत्मा को अनुशासित करने का निर्देश दिया गया है तथा अन्त में सम्पूर्ण बहिर्भावों के त्याग का उपदेश दिया गया है।¹

आतुर-प्रत्याख्यान-प्रकीर्णक (द्वितीय)— इसमें कुल चौतीस गाथाएं उपलब्ध हैं। इस प्रकीर्णक के निम्न आठ द्वारों में समाधिमरण का निरूपण किया गया है— (1) उपोदघात् (2) अविरति का प्रत्याख्यान (3) मिथ्यादुष्कृत (4) ममत्व-विसर्जन (5) शरीर के ममत्व के लिए उपालम्भ (6) शुभ-भावना (7) अरिहंतादि का स्मरण एवं (8) पाप-स्थानों का त्याग। अंत में मिथ्यादुष्कृत का उल्लेख है।²

आतुर-प्रत्याख्यान (तृतीय)— यह प्रकीर्णक आचार्य वीरभद्र द्वारा रचित है। इसमें कुल इकहत्तर गाथाएं ही समाधिमरण से संबंधित होने के कारण इसे 'अन्तकाल प्रकीर्णक' भी कहा जाता है और इसे 'बृहदातुर-प्रत्याख्यान' भी कहते हैं। इसमें सर्वप्रथम मरण के तीन भेद— (1) बाल-मरण (2) बालपण्डित-मरण (3) पण्डित-मरण का विवेचन है, उसके बाद सामायिक, सर्वबाह्याभ्यान्तर-उपाधि के प्रति ममत्व का त्याग, एकमात्र आत्मा का अवलम्बन, एकत्व-भावना, प्रतिक्रमण, आलोचना और क्षमापना का निरूपण है।³

भक्त-परिज्ञा— एक सौ बहत्तर गाथा-प्रमाण इस ग्रन्थ में भक्त-परिज्ञा नामक समाधिमरण का विवेचन है। समाधिमरण की महत्ता के बारे में इस ग्रन्थ में कहा गया है कि समाधि-मरण अपूर्व चिन्तामणि, अपूर्व कल्पवृक्ष, परम मंत्र और परम अमृत सदृश है। इसकी जघन्य आराधना से भी साधक सौधर्म-देवलोक में महाशक्तिशाली देव होता है तथा उत्कृष्ट आराधना से सर्वाथसिद्ध विमान को प्राप्त करता है।⁴

संस्तारक-प्रकीर्णक— इस प्रकीर्णक में संस्तारक सम्बन्धी विवरण है। संस्तारक शब्द का तात्पर्य है— अन्तिम आराधना के प्रसंग में स्वीकार की जाने वाली दर्भादि की शय्या। इस प्रकीर्णक में एक सौ बाईस गाथाएं हैं। प्रकीर्णक के प्रारम्भ में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर को नमस्कार करके संस्तारक-प्रकीर्णक में निबद्ध विषयों को सुनने का निर्देश दिया गया है। इस प्रकीर्णक में समाधिमरण से सम्बन्धित विवेचन ही प्रस्तुत किया गया है। गाथा छप्पन में दृष्टान्त के रूप में प्रदत्त संस्तारक करने वाली पुण्यात्माओं के नाम इस प्रकार हैं— अर्णिकापुत्र, खन्दकमुनि के पांच सौ शिष्य, दण्डमुनि, सुकौशलमुनि, अवंती सुकुमाल, कार्तिकेय, धर्मसिंह चाणक्य, अभयघोष, ललितघटा, सिंहसेन मुनि, चिलातिपुत्र, गज सुकुमाल और भगवान् महावीर के वे शिष्य, जो गोशालक द्वारा फेंकी गई तेजोलेश्या से जल गए थे। अन्त में, गाथा 88 से 122 तक में संस्तारक ग्रहण करने का निर्देश दिया गया है।⁵

मरण-विभक्ति—परम्परागत रूप से मान्य दस प्रकीर्णकों में सबसे बड़े छः सौ इक्सठ गाथा-परिमाण इस प्रकीर्णक में समाधिमरण-विषयक अन्य लघु प्रकीर्णकों में प्रतिपादित विषय-वस्तु

¹ आतुर प्रत्याख्यान - 'पङ्णय सुत्ताइ'— भाग-1 - गाथा 1-30 - पृ. 160-163.

² आतुर प्रत्याख्यान - 'पङ्णय सुत्ताइ' - भाग-1 - गाथा 1-34 - पृ. 305-308

³ आतुर प्रत्याख्यान - 'पङ्णय सुत्ताइ' - भाग-2 - गाथा 1-48 - पृ. 329-336

⁴ प्रकीर्णक साहित्य मनन और मीमांसा, सम्पादक प्रो.सागरमल जैन एवं डॉ. सुरेश सिसौदिया, आगम अहिंसा समता, एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, 1995

⁵ प्रकीर्णक साहित्य मनन और मीमांसा, सम्पादक प्रो.सागरमल जैन एवं डॉ. सुरेश सिसौदिया - पृष्ठ -20

का विस्तार से वर्णन है । इसमें समाधिमरण के साधक द्वारा अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को समभाव से सहन करते हुए कर्मक्षय करने, उपसर्ग महाभय के प्रसंग में अनुचिन्तन करने के उपरान्त समाधि-मरण प्राप्त करने की प्रतिज्ञा का उपदेश देते हुए यह कहा गया है कि जीव अविनाशी है, वह विषम-से-विषम परिस्थितियों में भी भयभीत नहीं होता है, तिर्यक्योनि में जीवन अनेक उपसर्गों के मध्य भी उद्विग्न नहीं हुआ, अतः उपसर्गों की चिन्ता न करते हुए समाधिमरण का आश्रय लेना चाहिए।

चतुःशरण-प्रकीर्णक- इस प्रकीर्णक में कुल सत्ताईस गाथाएं हैं। इसकी प्रथम गाथा में कुशलता हेतु चतुःशरण को ग्रहण करने, दुष्कृतगर्हा करने, सुकृत का अनुमोदन करने तथा मोक्षमार्ग के अनुरूप अन्य सत्त्वों की क्रियाओं का भी अनुमोदन किया गया है और अन्त में चतुःशरण का फल कल्याण बताया गया है।¹

प्राचीनाचार्यकृत आराधना-पताका-मंगल और अभिधेय के पश्चात् इसमें बत्तीस द्वारों में समाधिमरण या आराधना का उल्लेख है। इसमें 932 गाथाएं हैं। इसके संलेखना-द्वार में कषाय-संलेखनारूप आभ्यन्तर-संलेखना और शरीर-संलेखनारूप बाह्य-संलेखना- ऐसे संलेखना के दो भेद बताए गए हैं। अग्रिम द्वारों में संलेखना-धारक क्षपक-मुनिक का गुरु द्वारा परीक्षण, साधुओं के कर्त्तव्य का निरूपण, भक्त-परिज्ञा करने वाले की योग्यता का कथन, अगीतार्थ के समीप अनशन का निषेध, धर्मध्यान में बाधक स्थानों का निषेध, क्षपक-योग्य वसति का निरूपण, योग्य संस्तारक का वर्णन और आहार-दान के विषय में निरूपण मिलता है। अग्रिम द्वारों में गणनिसर्गद्वार, आलोचनाद्वार, व्रतोच्चारद्वार, अनुमोदनद्वार, पापस्थानव्युत्सर्जनद्वार मुख्य हैं। अठारह पापस्थान व्युत्सर्जनद्वार में प्रत्येक पाप के सन्दर्भ में एक-एक कथा दी गई है। अनशनद्वार में साकार और निराकार के त्यागपूर्वक क्षपक द्वारा अनशनग्रहण का विस्तार से निरूपण है। उनतीसवें अनुशिष्टिद्वार में अनुशिष्टि के सत्रह प्रतिद्वारों का वर्णन है। इसके पश्चात् कवच-द्वार, आराधनाफल-द्वार और अन्त में मोक्षप्राप्ति के लक्ष्यपूर्वक आराधना का माहात्म्य बताया गया है।²

वीरभद्रकृत आराधना-पताका-समाधिमरण-विषयक प्राप्त सभी प्रकीर्णकों में सबसे विस्तृत इस ग्रन्थ में 989 गाथाएं हैं, जिनमें समाधिमरण का सांगोपांग विवरण उपलब्ध है। मरण के भेद-प्रभेदों का वर्णन करने के पश्चात् समाधिमरण के अविचार और सविचार नामक दो भेदों में से सविचार-भक्तपरिज्ञा-मरण का विस्तृत विवेचन किया गया है। 1. परिकर्मविधि-द्वार 2. गणसंक्रमणद्वार 3. ममत्व तथा उच्छेदद्वार तथा 4. समाधिलाभद्वार में वर्गीकृत इनके उनतालीस प्रतिद्वारों द्वारा इसकी विषय-वस्तु को स्पष्ट किया गया है। भक्तपरिज्ञा-मरण के वर्णन के पश्चात् वीरभद्राचार्य संक्षेप में इंगिनीमरण तथा पादपोपगमनमरण का वर्णन करते हुए आराधनाफल का प्रतिपादन करते हैं।³

आलोचना-कुलक-इस प्रकीर्णक में मात्र बारह गाथाएं हैं। इसमें विविध दुष्कृत्यों की आलोचना की गई है। इसमें जिनकथित ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अतिचारों की निन्दा, मूलगुण-उत्तरगुण के अतिचारों की निन्दा, राग-द्वेष और चारों कषायों के वशीभूत जो कृत्य हैं,

¹ चतुःशरण प्रकीर्णक- 'पङ्णयसुत्ताई' - भाग-1 - गाथा- 1-27 - पृ.- 309-311.

² आराधना पताका (प्राचीन आचार्य विरचित) - 'पङ्णयसुत्ताई' - गाथा- 1-922 - भाग- 2.

³ प्रकीर्णक साहित्य मनन और मीमांसा - सम्पादक- प्रो. डॉ. सागरमल जैन एवं डॉ. सुरेश सिसौदिया, पृ. 31-34.

उनकी निन्दा, दर्प और प्रमादवश जो कृत्य किए गए हैं, उनकी निन्दा की गई है, अज्ञान, मिथ्यात्व, विमोह और कलुषता के कारण जो कृत्य किए गए, उनकी निन्दा की गई है, जिनप्रवचन तथा साधु की आशातना और अविनय की मन-वचन और काय से निन्दा की गई है, इन्द्रियों के वशीभूत होकर किए गए कार्यों की आलोचना की गई है एवं अन्तिम गाथा में आलोचना के महत्व को बताया गया है।¹

आराधना-कुलक—प्रकीर्णकों में सबसे लघु प्रकीर्णक आराधनाकुलक में कुल आठ गाथाएं हैं। आराधक अन्तिम आराधना में समाधिमरण को स्वीकार करते हुए सभी जीवों से क्षमायाचना कर अठारह पापस्थानों का त्याग करता है। फिर भी, राग-द्वेष तथा मोहवश तीन करण और तीन योग से इस भव और परभव में जो धर्म-विरुद्ध कार्य किए गए हैं, उन दुष्कृत्यों की निन्दा करता है तथा सुकृतों का अनुमोदन करता है, साथ ही चतुःशरण ग्रहण कर एकत्वभावना में निरत रहने की प्रतिज्ञा करता है।²

नन्दनमुनि आराधित आराधना—यह प्रकीर्णक संस्कृत में है। इसमें चालीस श्लोकों में नन्दनमुनिकृत दुष्कृत गर्हा, समस्त जीव-क्षमापना, शुभभावना, चतुःशरण-ग्रहण, पंचपरमेष्ठि-नमस्कार और अनशन प्राप्त करने रूप छः प्रकार की आराधना की चर्चा है। अन्त में, ऋषभादि तीर्थकरों को नमस्कार करते हुए भरत ऐरावत क्षेत्र के तीर्थकरों को नमस्कार किया गया है एवं भवभीरुओं के लिए उपर्युक्त षडविध आराधना करने का निर्देश है।³

कुशलानुबन्धी-अध्ययन—इस कुशलानुबन्धी-अध्ययन का दूसरा नाम चतुःशरण-प्रकीर्णक भी है। इसकी कुल तिरसठ गाथाएं हैं। प्रथम गाथा में इस प्रकीर्णक की विषय-वस्तु के नाम वर्णित है। पुनः, छः अधिकारों का पृथक्-पृथक् निरूपण है— (1) सावद्ययोग की विरति (2) उत्कीर्तन (3) गुणियों के प्रति विनय (4) क्षति, की निन्दा (5) दोषों की चिकित्सा और (6) गुण-धारणा। इसके बाद जिनेश्वर के जन्म के पूर्व उनकी माता द्वारा देखे गए चौदह स्वप्नों के नाम और चतुःशरण-ग्रहण, दुष्कृत की निन्दा और सुकृत के अनुमोदन का फल वर्णित है।⁴

जिनेश्वर श्रावकप्रति सुलसा श्रावक आराधित आराधना—इस प्रकीर्णक में 74 गाथाएं हैं। इसमें प्रत्यासन्नमरण-प्रेरणा, अर्थात् अन्त सन्निकट होने पर अनशन की प्रेरणा, अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं का स्वरूप-निरूपण एवं उनकी वन्दना, नमस्कार-माहात्म्य तथा मंगलचतुष्क, लोकोत्तम-चतुष्क, शरणचतुष्क-आलोचना और व्रतोच्चरण का निर्देश है, अन्त में सर्वजीवों की क्षमापना तथा वेदना सहने और अनशन करने का उपदेश है।⁵

मिथ्यादुष्कृत-कुलक (प्रथम)—मिथ्यादुष्कृत-कुलक में आराधक द्वारा नरकादि चार गतियों के सभी प्राणियों से क्षमापना, दुष्कृत्यों की निन्दा करने का निरूपण है। पुनः, पंच-परमेष्ठियों की निन्दा के लिए क्षमापना, दर्शन-ज्ञान-चारित्र और सम्यक्त्व की विराधना, चतुर्विध-संघ की

¹ आलोचना कुलक 'पइण्णयसुत्ताइ' — भाग- 2 — गाथा- 1-12 — पृ 249-250.

² आराधना कुलक 'पइण्णयसुत्ताइ' — भाग- 2 — गाथा- 1-8.

³ नन्दनमुनि आराधित "आराधना" पइण्णयसुत्ताइ भाग-2/1-63

⁴ कुशलानुबन्धि अध्ययन — भाग-1 — गाथा-1-54 — पृ. 298-304.

⁵ जिनेश्वर श्रावक प्रति सुलस श्रावक प्रेरित आराधना, भाग-2 पृ. 232-239 गाथा 1-63

अवमानना या महाव्रतों और अणुव्रतों की साधना में जो स्खलना हुई है, उसकी आलोचना का निर्देश है।¹

मिथ्यादुष्कृत-कुलक (द्वितीय)—इस प्रकीर्णक में 17 गाथाएं हैं। इस कुलक के प्रारम्भ में आराधक द्वारा चौरासी लाख जीवोनियों में भ्रमण करते हुए जिन-जिन प्राणियों को दुःख दिया गया है, उसका मिथ्याकृत करने, अर्थात् आलोचना करने का निरूपण है। इस लोक में तथा परलोक में जो मिथ्यात्वमोह से मूढ़ हैं एवं जिनके द्वारा साधुओं की सेवा, साधर्मिक-वात्सल्य, चतुर्विध-संघ की भक्ति नहीं की गई, उनके लिए मिथ्यादुष्कृत किया गया है।²

अभयदेवसूरि प्रणीत आराधना-प्रकरण—इस प्रकीर्णक में 85 गाथाएं हैं। अन्तिम गाथा में 'अभयदेव सूरिइयं'— इस उल्लेख से इसके कर्त्ता अभयदेवसूरि निश्चित होते हैं। इसकी प्रथम गाथा में मरणविधि के छः द्वारों का वर्णन है— (1) आलोचना (2) व्रतोच्चार (3) क्षामणा (4) अनशन (5) शुभ भावना और (6) नमोक्कार-भावना। प्रथम, आलोचना-द्वार विविध तर्पों से सूखे हुए होने अथवा रोगों को दूर करने हेतु उपक्रम के अभाव में क्षीण शरीर होने एवं मृत्यु आसन्न होने पर मृत्यु-भय की चिन्ता न कर शल्य-मरण के गुण-दोषों का विचार करना चाहिए। द्वितीय, व्रतोच्चार-द्वार में सुगुरु के समीप निःशल्य होकर साधु महाव्रतों का भावपूर्वक उच्चारण करता है।

तृतीय, क्षमापना-द्वार में आराधक चतुर्विध-संघ एवं संसार में जिसके प्रति भी मोहवश अपराध हुआ हो, उससे क्षमायाचना करता है। चतुर्थ, अनशन-द्वार में सर्व प्रकार के आहार का त्यागकर अनशन करने का निरूपण है। पंचम, शुभभावना-द्वार में एकत्व आदि बारह भावनाओं का चिन्तन करने का निर्देश है। षष्ठ द्वार, नमोक्कार-भावना में पंचपरमेष्ठियों की वन्दना करते हुए नमोक्कार-मन्त्र का माहात्म्य बताया गया है।

संवेगरंगशाला— समाधिमरण-सम्बन्धी ग्रन्थों में श्वेताम्बर-परम्परा में लिखे गए जो महत्वपूर्ण ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध होते हैं, उनमें संवेगरंगशाला का महत्वपूर्ण स्थान है। श्वेताम्बर-परम्परा के समाधिमरण-सम्बन्धी ग्रन्थों में यह ग्रन्थ सबसे अधिक विशाल है। यह ग्रन्थ मूलतः महाराष्ट्री-प्राकृत में रचित है। इसके लेखक खरतरगच्छ के आचार्य जिनचन्द्रसूरि माने जाते हैं। इस ग्रन्थ में समाधिमरण-सम्बन्धी प्रक्रिया का सांगोपांग विवेचन मिलता है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें समाधिमरण सम्बन्धी कथानक भी विस्तार से वर्णित है। इन लगभग 80 कथानकों के कारण यह ग्रन्थ दिगम्बर-परम्परा के भगवती-आराधना की अपेक्षा भी अधिक विशालकाय हो गया है। हमारे समालोच्य ग्रन्थ आराधना-पताका में जिन-कथानकों का मात्र एक या दो गाथाओं में निर्देश है, उनमें से अनेक कथानक इस ग्रन्थ में विस्तार के साथ वर्णित हैं। इस ग्रन्थ का रचनाकाल लगभग बारहवीं शताब्दी माना जाता है। इस प्रकार, यह ग्रन्थ समीक्ष्य आराधना-पताका और वीरभद्रकृत आराधना-पताका की अपेक्षा भी परवर्ती है। आचार्य जिनचन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती समाधिमरण सम्बन्धी ग्रन्थों को आधार बनाकर ही इस ग्रन्थ की रचना की होगी— ऐसा लगता है। वर्तमान में इस ग्रन्थ के हिन्दी और गुजराती अनुवाद तथा साध्वीश्री दिव्यांजनाजी का इस ग्रन्थ पर लिखा शोध-प्रबन्ध 'जैनधर्म में आराधना का स्वरूप' उपलब्ध होते हैं, किन्तु मुझे यह मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सका। यद्यपि इसका एक संस्करण प्रकाशित भी हुआ था, किन्तु मुझे वह भी अनुपलब्ध ही रहा है, यही कारण है कि हम समीक्ष्य ग्रन्थ आराधना-पताका की

¹ मिथ्यादुष्कृत कुलक — 'पडण्णयसुत्ताइ' — भाग-2, — गाथा 1-12 — पृ. 245-246.

² मिथ्यादुष्कृत कुलक (द्वितीय) — 'पडण्णयसुत्ताइ'— भाग 2 — गाथा 1-16 पृ. 247-248.

गाथाओं और इसकी गाथाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत नहीं कर सके। संवेगरंगशाला मुख्यतः चार द्वारों में वर्णित है, किन्तु इसके प्रत्येक द्वार में प्रतिद्वारों की संख्या अधिक है और पर्याप्त व्यापक है। इसके प्रथम परिकर्मविधि-द्वार के निम्न पन्द्रह उपद्वार-प्रतिद्वार हैं जो क्रमशः इस प्रकार हैं— (1) अर्हद्वार (2) लिंगद्वार (3) शिक्षाद्वार (4) विनयद्वार (5) समाधिद्वार (6) मनोनुशास्त्रद्वार (7) अनियतद्वार (8) राजद्वार (9) परिणामद्वार (10) त्यागद्वार (11) मरणविभक्तद्वार (12) अधिगत (पंडित) मरणद्वार (13) श्रेणिद्वार (14) भावनाद्वार और (15) संलेखनाद्वार ।

दूसरे परगणसंक्रमणद्वार के दस प्रतिद्वार इस प्रकार हैं— (1) दिशाद्वार (2) क्षामणाद्वार (3) अनुशास्त्रद्वार (4) परगणसंक्रमणद्वार (5) सुस्थितगवेषणाद्वार (6) उपसम्पदाद्वार (7) परीक्षाद्वार (8) प्रतिलेखनाद्वार (9) पृच्छाद्वार और (10) प्रतिपृच्छा द्वार ।

तीसरे, ममत्वविच्छेदनद्वार के नौ अन्तरद्वार हैं, वे इस प्रकार हैं— (1) आलोचनाद्वार (2) शययाद्वार (3) संथाराद्वार (4) निर्यापकद्वार (5) दर्शनद्वार (6) हानिद्वार (7) प्रत्याख्यानद्वार (8) क्षमापनाद्वार और (9) क्षामणाद्वार ।

चौथे, समाधिलाभद्वार में भी निम्न नौ अन्तरद्वार हैं— (1) अनुशास्त्रद्वार (2) प्रतिपत्तिद्वार (3) सारणाद्वार (4) कवचद्वार (5) समताद्वार (6) ध्यानद्वार (7) लेश्याद्वार (8) आराधनाफलद्वार और (9) मृतशरीर-विसर्जन (विजहना) द्वार ।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें, तो इसके कुल 43 प्रतिद्वार (विभाग) हैं, जबकि आराधना-पताका में बत्तीस द्वार हैं। विजहना-द्वार को छोड़कर शेष प्रतिद्वार आराधना-पताका के बत्तीस द्वारों और उनके कुछ प्रतिद्वारों में समाहित हो जाते हैं।

हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र में समाधिमरण—श्रावक यदि संयम ग्रहण करने में अशक्त हो, तो एवं मृत्यु के समीप आ जाने पर पहले व्रतादि द्वारा शरीर को तथा कषायों को क्षीण करे। वैसे तो संलेखना करने के लिए अरिहन्त-प्रभु की कल्याणक-भूमियों में जाना चाहिए, परन्तु यदि ऐसा स्थल समीप न हो, तो एकान्त तथा निर्जीव भूमि पर संलेखना ग्रहण कर सर्वप्रथम चारों प्रकार के आहार का त्याग करके नमस्कार-महामंत्र के जाप में तत्पर बने। अपने पूर्व पापों की गुरु से, या गुरु उपस्थित न हो, तो स्वयं आलोचना करे। अरिहन्तादि चारों का शरण ग्रहण तथा इस लोक-सम्बन्धी, परलोक-सम्बन्धी, जीवन-सम्बन्धी एवं मरण-सम्बन्धी सभी आकांक्षाओं या निदान का त्याग करके परीषह तथा उपसर्गों से निर्भय हो जाए, फिर जिनेश्वर के प्रति तथा जिनवाणी के प्रति बहुमान रखते हुए आनंद श्रावक की तरह समाधिमरण अंगीकार करे।

इसके अतिरिक्त, योगशास्त्र के पंचम प्रकाश में काल की निकटता को जानने के विभिन्न उपायों का विस्तार से विवेचन किया गया है, क्योंकि मृत्यु की निकटता को जानना समाधिमरण के साधक के लिए आवश्यक है। पंचम प्रकाश में श्लोक-प्रमाण 72 से लेकर 224 तक मृत्यु की निकटता को जानने के विभिन्न उपायों का वर्णन हुआ है।

दिगम्बर-परम्परा के आगम-तुल्य प्राचीन ग्रन्थों में समाधिमरण

मूलाचार¹—आचार्य वट्टकेर-विरचित 'मूलाचार' में भी मुनि की आचारचर्या का विशद विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के वृहत् प्रत्याख्यानाधिकार नामक दूसरे अध्याय में, संक्षेप प्रत्याख्यानाधिकार नामक तीसरे अध्याय में तथा पंचाचार नामक पांचवे अध्याय में समाधिमरण की चर्चा की गई है। दूसरे अध्याय में समत्व या समाधि की साधना का वर्णन करते हुए तीन प्रकार के

¹ मूलाचार-सम्पादक- आर्यिका रत्न ज्ञानमति माताजी,, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली 1992. अध्याय-2

समाधिमरणों का उल्लेख किया गया है, वहीं साधक की पात्रता तथा अन्तिम आराधना के पूर्व की तैयारी का वर्णन भी किया गया है। तीसरे अध्याय में समाधिमरण का व्रत लेने से पूर्व सभी प्रकार के पापाचार से विरत होने, समाधिमरण का व्रत लेने का निश्चय करने तथा मृत्युपर्यन्त सभी प्रकार के आहार एवं उपधि का त्याग करने का निश्चय करने के बारे में बताया गया है। इसी अध्याय में समाधिमरण की प्रशंसा करते हुए उसकी निरतिचार आराधना का उल्लेख किया गया है। पांचवें अध्याय में विभिन्न प्रकार के अनशनों का भी वर्णन किया गया है।

भगवती—आराधना—अचेल यापनीय—परम्परा के आचार्य शिवार्यविरचित भगवती—आराधना नामक इस ग्रन्थ में विभिन्न प्रकार के मरणों तथा समाधिमरण की आराधना का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसमें जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट संलेखना समाधिमरण की साधना का वर्णन भी मिलता है। भगवती—आराधना को मूलाराधना भी कहा जाता है। इसमें कुल गाथाओं की संख्या 2164 है। समाधिमरण पर लिखा गया यह सबसे बड़ा ग्रन्थ है। इसमें समाधिमरण के स्वरूप और उसकी समग्र विधि की विस्तृत चर्चा है। इसमें अन्तिम आराधना तथा मरण के विभिन्न प्रकारों की चर्चा है, साथ ही समाधिमरण के तीन भेदों— भक्तप्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण तथा प्रायोपगमनमरण की चर्चा भी है। इसके अतिरिक्त, बारह अनुप्रेक्षा तथा समाधिमरण लेने वाले व्यक्तियों के कथानकों का निर्देश भी मिलता है।¹

तत्त्वार्थसूत्र और उसकी दिगम्बर—टीकाएं— वाचक उमास्वाति—प्रणीत तत्त्वार्थसूत्र² के सातवें अध्याय में गृहस्थ—आराधकों के लिए भी आमरण—अनशन के रूप में अन्तिम आराधना का उल्लेख मिलता है।¹ इसी अध्याय के बत्तीसवें सूत्र में मरणान्तिक—संलेखना के निम्न पांच अतिचारों का उल्लेख मिलता है³—

1. जीवितासंसा — जीने की इच्छा
2. मरणासंसा — मरने की इच्छा
3. मित्रानुराग— सांसारिक सम्बन्धियों के प्रति अनुराग।
4. सुखानुबन्ध— सांसारिक भोगों के प्रति आसक्ति।
5. निदानकरण—इसी आराधना के फलस्वरूप जन्मान्तर में किसी विशेष उपलब्धि प्राप्त करने का संकल्प करना।

इसी ग्रन्थ के नौवें अध्याय में काल—विशेष के लिए, अर्थात् इत्वरिक तथा मृत्युपर्यन्त (आमरण) आहार—त्याग (अनशन) को प्रथम बाह्यतप के रूप में परिभाषित किया गया है।

दिगम्बर—आचार्यों ने तत्त्वार्थसूत्र के उपर्युक्त सूत्रों की व्याख्याओं में भी इस पर गहन विचार किया है, किन्तु विस्तार—भय से उनका उल्लेख यहां नहीं कर पा रहे हैं।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार—आचार्य समन्तभद्र—प्रणीत इस ग्रन्थ के संलेखना अधिकार नामक छठवें अध्याय में श्रावक—श्राविकाओं द्वारा संलेखना और समाधिमरण की आराधना की चर्चा की गई है। इस अध्याय में शास्त्रकार ने इस अन्तिम आराधना की आवश्यकता क्यों है ? इसके लिए उचित समय क्या है ? तथा इसकी आराधना—विधि क्या है ? इसकी चर्चा की है, साथ ही

¹ भगवती—आराधना — सम्पादक— पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री — फलटण — ई. सन् 1990 (समग्र ग्रन्थ)

² तत्त्वार्थसूत्र— 7/17

³ जीवितमरणाशंसाभिन्नानुराग — सुखानुबन्ध निदान करणानि — तत्त्वार्थसूत्र — अध्ययन— 7—32

कषायों के क्रमिक-विसर्जन, शारीरिक-समाधि की आराधना में बाधक दोषों को दूर करने के उपाय बताए हैं, अन्त में संलेखना का फल, मोक्ष का स्वरूप तथा मुक्त आत्माओं के लक्षण बतलाते हुए संलेखना की आराधना द्वारा होने वाले आत्मोत्थान का वर्णन किया गया है।¹

वसुनन्दी-श्रावकाचार—आचार्य वसुनन्दी-विरचित श्रावकाचार्य का सन्दर्भित इस ग्रन्थ में समाधिमरण का चतुर्थ शिक्षाव्रत के रूप में उल्लेख किया गया है।²

सागार-धर्मामृत—धर्मामृत सागार के रचियता पण्डित आशाधरजी हैं। सागार का अर्थ होता है— गृहस्थ। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी व्यक्ति मोक्ष या निर्वाण की साधना कर सकता है, इसी का विवरण इसमें मिलता है।³

यह आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में गृहस्थ के लक्षण स्पष्ट किए गए हैं। गृहस्थ को आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रहरूपी ज्वर से पीड़ित बताया गया है।⁴

द्वितीय अध्याय में अनुज्ञा, अष्टमूल, मद्य, मांस, आहार नियम तथा इसी तरह की अन्य जैन शिक्षाओं का उल्लेख है।⁵

तृतीय अध्याय से सप्तम अध्याय तक नैष्ठिक-श्रावक का वर्णन है। इन अध्यायों में नैष्ठिक के भेद, ग्यारह प्रतिमा, बारह व्रत, श्रावकों की दिनचर्या आदि का विवरण उपलब्ध होता है।⁶

अष्टम अध्याय में समाधिमरण के स्वरूप, विधि, योग्यस्थान, योग्य संस्तर, समाधिमरण और आत्महत्या में अन्तर तथा कार्य एवं कषाय को क्षीण करने वाली साधना का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

आहार-त्याग एवं विभिन्न प्रकार के तपों का आलम्बन, समाधिमरण में सहायक आचार व उसके अतिचार का महत्त्व तथा समाधिमरण की पूरक साधनाओं का भी विस्तृत विवरण मिलता है।⁷

समाधिमरणोत्साह-दीपक-विक्रम की पन्द्रहवीं शती की सुख्यात दिगम्बर जैनाचार्य द्वारा विरचित इस ग्रन्थ में धर्म-आराधना करने में असमर्थ व्यक्ति द्वारा समाधिमरणरूपी इच्छामृत्यु को अंगीकार करने को प्रशंसनीय मृत्यु बताया है। इस ग्रन्थ में समाधिमरण की प्रेरणा दी गई है, साथ ही इसके सात प्रकारों तथा इसे कब और क्यों ग्रहण किया जाए ? इसका भी वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त, इसमें पूर्व तैयारी, उपसर्ग-विजय, यह व्रत कहाँ ग्रहण किया जाए तथा व्रत ग्रहण-विधि एवं आराधना-विधि का वर्णन भी किया गया है।

इसमें आराधना की शुद्धता, आराधना के दौरान दस मुनिधर्मों सहित धर्मध्यान की आवश्यकता, पंच महाव्रतों की शुद्धि के लिए पच्चीस बोलों की भावना तथा शुक्लध्यान प्राप्त करने की आवश्यकता पर बल दिया गया है तथा समाधिमरण की आराधना में निर्यापकाचार्य की भूमिका आदि की विस्तृत चर्चा की गई है।

¹ रत्नकरण्डक श्रावकाचार - आचार्य समन्तभद्र - अनुवादक आर्यिका स्याद्वादमतिजी, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्-परिषद् मुज्जफ्फरनगर, 1997. अध्याय 6

² वसुनन्दी (आचार्य) - वसुनन्दी श्रावकाचार - भारतीय ज्ञानपीठ, काशी., 1952.

³ धर्माऽमृत (सागार) - सम्पादक- अनु. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री - प्रधान सम्पादकीय - पृ. 5.

⁴ वही - 1/2.

⁵ वही - सम्पूर्ण द्वितीय अध्याय.

⁶ धर्माऽमृत (सागार) - तृतीय अध्याय से सप्तम अध्याय के अनुसार.

⁷ वही - अष्टम अध्याय.

अन्त में, ग्रन्थकार ने समाधिमरण की आराधना के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट फल की चर्चा करते हुए इस आराधना के काल में आराधक के आसपास आध्यात्मिक—वातावरण बनाए रखने की आवश्यकता पर बल दिया है और यह कामना की गई है कि अन्तकाल में हमें भी समाधिमरण की आराधना करने का सुअवसर प्राप्त हो।

समाधिमरण—सम्बन्धी आधुनिक ग्रन्थ

मोक्षमार्ग—इस ग्रन्थ में पण्डित रतनलाल दोशी सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्ररूपी मोक्षमार्ग का वर्णन करते हैं। इसमें संलेखना और संथारा—विषयक चर्चा दो स्थानों पर की गई है। ग्रन्थ के आगार—धर्म नामक तृतीय भाग में गृहस्थ—उपासकों द्वारा समाधिमरण की आराधना का वर्णन किया गया है तथा अणगार—धर्म नामक चतुर्थ भाग में अन्तिम समय पर मृत्यु आने पर उसका समतापूर्वक सामना करने के महत्व को समझाया गया है। ग्रन्थ के तपधर्म नामक पांचवें भाग में समाधिमरण विषय को यावत्जीवन अनशन के अन्तर्गत समझाया गया है तथा वहीं इसके निम्न तीन प्रकारों का भी उल्लेख किया गया है— 1. पादपोपगमनमरण 2. इंगिनीमरण तथा 3. भक्तप्रत्याख्यान।¹

जिणघम्मो—जैनधर्म के सभी पहलुओं को छूने वाले इस ग्रन्थ के 81 वें तथा 98 वें अध्यायों में श्रावक—श्राविकाओं तथा साधु—साध्वियों द्वारा समाधिमरण की आराधना विषयक चर्चा की गई है।²

जैन—साधना पद्धति में तपोयोग—मुनि श्रीचन्द्र द्वारा लिखित इस पुस्तक के तप का विधान नामक खण्ड में संलेखना की अवधारणा और आराधना का भी वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम इसमें यावत्कथित अनशन के आमरण अनशन स्वरूप को विवेचित किया गया है और यह स्पष्ट करने की कोशिश की गई है कि आमरण अनशन आत्महत्या नहीं है। तत्पश्चात्, मुनिश्री ने अनशन—व्रत लेने के लिए योग्यता को परिभाषित करते हुए आमरण अनशन लेने की पात्रता—सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देते हुए यह स्पष्ट किया है कि आमरण अनशन का व्रत कौन और कब ग्रहण कर सकता है ? लेखक के अनुसार संलेखना लम्बे समय तक किया जाने वाला वह तपश्चरण है, जिसे साधक अन्त समय में समाधिमरण ग्रहण करने की तैयारी के रूप में करता है। लेखक के अनुसार सकाममरण के साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह इस प्रकार के लम्बे तपश्चरण द्वारा अपने शरीर को दुर्बल तथा आत्मा को सबल बना ले। शरीर को साधने के लिए लेखक द्वारा छः प्रकार के बाह्यतपों, बारह भिक्षु—प्रतिमाओं, आचाम्ल—तप तथा विकृति—त्याग का वर्णन किया गया है, साथ ही बारहवर्षीय उत्कृष्ट संलेखना, बारहमासीय मध्यम संलेखना तथा क्षणमासीय जघन्य संलेखना का भी वर्णन किया गया है।³

संलेखना—एक अनुचिन्तन—इस लघु पुस्तिका में लेखक ने दिगम्बर—जैन—परम्परा में संलेखना की अवधारणा और साधना का संक्षिप्त वर्णन किया है। इसमें संलेखना को परिभाषित करते हुए इसके भावों और प्रभावों का उल्लेख किया गया है तथा मृत्यु के समय शान्ति और समाधि की आवश्यकता पर बल दिया गया है। आत्महत्या से इसकी भिन्नता सिद्ध करते हुए लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि आत्महत्या में मृत्यु के समय शान्ति और समाधि का अभाव होता है। समाधिमरण के साधक के लिए भावनात्मक—दृढ़ता पर बल देते हुए लेखक ने कहा है कि यह साधकों और आराधकों—दोनों के लिए आवश्यक है तथा साधन को सम्यक् रूप से संचालित करने

¹ मोक्षमार्ग, दोशी रतनलाल - अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ - सैलाना, 1971.

² जिणघम्मो - आचार्य श्री नानेश श्रीसमता साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, इंदौर—उज्जैन, 1984.

³ जैन—साधना पद्धति में तपोयोग - मुनि श्रीचन्द्र - आदर्श साहित्य संघ चूरू, 1979.

के लिए निर्यापकाचार्य की आवश्यकता होती है। पुस्तक के अन्त में लेखक ने संलेखना की महत्ता को रेखांकित करते हुए संलेखना साधकों के लिए जप करने के विभिन्न पाठों का भी समावेश किया है।¹

आत्ममुक्ति—समाधिमरण विषयक इस लघु पुस्तिका का प्रारम्भ आत्मबोध नामक प्रथम अध्याय से होता है, जिसमें लेखक ने शरीर और आत्मा के भेद—विज्ञान का उल्लेख करते हुए इस बात पर जोर दिया है कि आध्यात्मिक—क्रियाएँ इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं कि वे ही प्राणी के भावी जीवन का निर्धारण करती हैं। इसमें सागार और निरागार—संलेखना का उल्लेख करते हुए उसकी साधना—विधि को स्पष्ट किया गया है तथा इसके साधकों द्वारा उपादेय ध्यानविधि का निर्देश किया गया है। पुस्तिका के अन्त में मृत्यु—महोत्सव नामक एक काव्यात्मक—कृति भी दी गई है, जिसमें मृत्यु को आत्मा द्वारा शरीर—बन्धन से मुक्ति के रूप में लिया गया है।²

समाधिमरण—साध्वी विजयश्री द्वारा विरचित इस पुस्तिका में समाधिमरण के विविध पक्षों की चर्चा करते हुए आत्म—स्वरूप का बोध, संसार—भ्रमण में हुए ज्ञात व अज्ञात आशातनाओं के लिए सभी जीवों से क्षमापना करना, चतुःशरण ग्रहण और समाधिमरण पर ध्यान केंद्रित करने पर बल दिया गया है। समाधिमरण की पूर्व तैयारी के रूप में संलेखना तथा अन्त में आमरण अनशन अंगीकार करने की विधि, संलेखना के पांच अतिचार, समाधिमरण के 73 बोल तथा संलेखना से सम्बन्धित भावनाओं का वर्णन भी किया गया है।³

जीवन की अन्तिम मुस्कान—उपाध्याय केवलमुनि विरचित समाधिमरण—विषयक इस संक्षिप्त, किन्तु सर्वग्राही पुस्तक में लेखक ने संलेखना और समाधिमरण से संबंधित विभिन्न विषयों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इसमें मृत्यु की अवधारणा तथा मृत्यु—विज्ञान की चर्चा की गई है। संलेखना और आत्महत्या के अंतर को भी स्पष्ट किया गया है। इस पुस्तक के अन्त में लेखक ने निष्कर्षतः यह कहा है कि जब मृत्यु अवश्यम्भावी हो जाए, तो समभाव—पूर्वक स्वेच्छया—मृत्यु का आलिंगन करना ही समाधिमरण है। इस पुस्तक में उपाध्यायजी ने वैदिक—परम्परा से भी इच्छा—मृत्यु के दृष्टान्त दिए हैं तथा जैन—परम्परा से भी इच्छा—मृत्यु के दृष्टान्त दिए हैं, जिनमें उन्होंने अध्यात्म—साधना से परिपूर्ण जीवन जीने के पश्चात् अन्त में समाधिपूर्वक सकाम—मृत्यु का वरण किया है। लेखक ने पुस्तक में समाधिमरण से सम्बन्धित कुछ प्राचीन पाठ भी दिए हैं, जैसे—रिष्टसूचक, सागार—संधारा एवं निरागार—संधारा आदि।⁴

जैन—आचारः सिद्धान्त और स्वरूप—वर्तमानकाल के जैन—दर्शन के एक विचक्षण विद्वान् आचार्य देवेन्द्र मुनि द्वारा विरचित इस विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड के समाधिमरण की कला (संलेखना) नामक ग्यारहवें अध्याय में समाधिमरण—विषयक सभी पक्षों की विस्तृत विवेचना की गई है। जन्म के बाद मृत्यु की अपरिहार्यता को रेखांकित करते हुए विद्वान् लेखक ने मृत्यु—भय की चिन्ता से रहित समाधिपूर्वक मृत्यु को एक कला बताया है। लेखक ने कहा है कि इस कला के साधक मृत्यु को आत्मा द्वारा शरीर के बन्धनों से मुक्ति के समारोह के रूप में देखते हैं, अतः वे

¹ संलेखना एक अनुचिन्तन — जैन रमेशचन्द्र — श्री टाया जैन छात्रवृत्ति ट्रस्ट, उदयपुर, 1989.

² आत्ममुक्ति — नेमीचन्द्र कांकरिया स्मृति ग्रन्थ नं. 3 — नरेंद्र ट्रेडिंग कार्पोरेशन, ब्यावर, 1992.

³ समाधिमरण — साध्वी श्रीविजयश्री — श्री जैनसंघ, सोलापुर, 1993.

⁴ जीवन की अन्तिम मुस्कान — उपाध्याय केवलमुनि जैन दिवाकर सेवा संघ, चिकबालापुर 1984

मृत्यु से नहीं डरते हैं।¹ तत्पश्चात्, उन्होंने विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित मृत्यु के विभिन्न प्रकारों की चर्चा करते हुए तीन प्रकार के यावत्कथित अनशनों का वर्णन किया है। जिनसे साधक समाधिमरण को प्राप्त कर सकता है। आध्यात्मिक-साधना में संलेखना के महत्व की चर्चा करते हुए वे इस साधना के लिए साधकों की पात्रता तथा इस साधना के उचित समय की ओर भी इंगित करते हैं। वैदिक-परम्परा में प्रचलित महाप्रस्थान आदि इच्छा-मृत्यु की भी वे इस ग्रन्थ में जानकारी देते हैं, साथ ही इस प्रकार की साधना के विभिन्न दोषों की ओर इशारा करते हुए इसकी समाधिमरण के साथ तुलना भी करते हैं। वे संलेखना और आत्महत्या की तुलना करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संलेखना आत्महत्या नहीं है।

उत्तराध्ययनसूत्र— एक परिशीलन—उत्तराध्ययनसूत्र पर इस विद्वत्तापूर्ण समालोचनात्मक ग्रन्थ के 'विशेष साध्वाचार' नामक पांचवें अध्याय के अनशन-खण्ड में संलेखना और समाधिमरण विषयों की समालोचना की गई है। इस खण्ड के प्रारम्भ में ही लेखक इत्वरिक-अनशन का उल्लेख करके यावत्कथित (आमरण) अनशन विषय पर आ जाता है। लेखक ने प्रारम्भ में ही सकाममरण और आत्महत्या का अन्तर स्पष्ट किया है।²

जैन, बौद्ध और गीता का साधना-मार्ग-जैन-दर्शन के मूर्द्धन्य विद्वान् प्रो. सागरमल जैन द्वारा लिखित इस संशोधनात्मक ग्रन्थ के 'सम्यक् तप तथा योगमार्ग' नामक सातवें अध्याय में तप का वर्णन किया गया है।³ आत्मिक-शुद्धिकरण के लिए इसकी महत्ता का अध्ययन करते हुए यह कहा गया है कि जैन, बौद्ध और वैदिक- तीनों परम्पराओं ने तप को कर्म-बन्धनों तथा सांसारिक-जन्म के प्रवाह से मुक्त होने का साधन माना है। तत्पश्चात्, ग्रन्थ में जैन-परम्परा में प्रविदित विभिन्न प्रकार के तपों का उल्लेख करते हुए उसमें आमरण अनशन को अनशन-तप का ही भाग माना गया है। तप का वर्गीकरण करते हुए ग्रन्थ में कहा गया है कि तप चार प्रकार के होते हैं—

1—जो तप स्वयं के लिए कष्टकारी हो तथा दूसरों के लिए कष्टकारी न हो, ऐसे तप को आत्मन्-तप कहा गया है।

2—जो तप दूसरों के लिए कष्टकारी हो, स्वयं के लिए कष्टकारी न हो, ऐसे तप को परंतप कहा गया है।

3—जो तप स्वयं के लिए व दूसरों के लिए भी कष्टकारी हो, उसे उभयतप कहा गया है।

4—जो तप स्वयं के लिए व दूसरों के लिए भी कष्टकारी न हो, उसे सुखनतप कहा गया है।

मध्यम-मार्ग के अनुसार चतुर्थ प्रकार का तप ही श्रेयस्कर है। जैन और बौद्ध-परम्पराओं में तप की अवधारणा की तुलना करते हुए लेखक ने कहा है कि अनशन-तप को छोड़कर शेष ग्यारह प्रकार के तपों में दोनों परम्पराओं में लगभग मतैक्य है।

संलेखना : ए फिलोसोफिकल स्टडी—डॉ. पी.बी. चौगले द्वारा किए गए इस शोध-अध्ययन में दिगम्बर-परम्परा के जैन-साहित्य पर आधारित संलेखना का दार्शनिक-अध्ययन किया गया है। इसमें संलेखना के सिद्धान्त और साधना का विस्तृत विवेचन करते हुए अन्य

¹ जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप - देवेन्द्र मुनि (आचार्य) - श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर 1982

² उत्तराध्ययन सूत्र एक परिशीलन - लाल डॉ. सुदर्शन - पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी 1971

³ जैन, बौद्ध और गीता का साधना-मार्ग- डॉ. सागरमल जैन - प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर 1982

धर्म-दर्शनों में वर्णित मृत्यु, इच्छा-मृत्यु, सम्मान-मृत्यु आदि अवधारणाओं का भी तुलनात्मक मूल्यांकन किया गया है।

समाधिमरण—डॉ. रज्जनकुमार द्वारा लिखित इस ग्रन्थ में जैन-परम्परा में वर्णित समाधिमरण की अवधारणा और आराधना का विस्तृत वर्णन किया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही लेखक ने विभिन्न धर्म की परम्पराओं में इच्छा-मृत्यु की अवधारणा का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। तत्पश्चात्, समाधिमरण-विषयक जैन-साहित्य की समीक्षा करते हुए समाधिमरण व सामान्य मृत्यु का समालोचनात्मक अध्ययन किया गया है। चतुर्थ अध्याय साधना के क्रियापक्ष का वर्णन करते हुए जैन-परम्परा में प्राचीन, मध्य और आधुनिक-काल में समाधिमरण की साधना की समीक्षा की गई है। तत्पश्चात्, लेखक ने अन्य प्रकार की इच्छा-मृत्युओं के साथ समाधिमरण की तुलना की है।¹

¹ समाधिमरण – कुमार रज्जन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी 2001

अध्याय — 3

आराधनापताका का गाथागत श्वेताम्बर-ग्रन्थों से

तुलनात्मक-विवेचन

जहां तक श्वेताम्बर-परम्परा का प्रश्न है, प्राचीनाचार्यकृत आराधनापताका की अनेक गाथाएं मरणविभक्ति, संस्तरक-प्रकीर्णक, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, चन्द्रवेध्यक, आवश्यकनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति आदि में भी उपलब्ध होती हैं। न केवल प्राचीनाचार्यकृत आराधनापताका की गाथाएं उसके पूर्ववर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध होती हैं, किन्तु उसके परवर्ती ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती हैं, यथा-हरिभद्र के पंचाशक-प्रकरण, निशीथभाष्य, आराधनाप्रकरण, वीरभद्रकृत आराधनापताका तथा प्रवचनसारोद्धार में भी कुछ गाथाएं यथावत् पाई जाती हैं। कहीं-कहीं कुछ आंशिक शाब्दिक भेद के साथ पाई जाती हैं। यद्यपि प्राचीनाचार्यकृत आराधनापताका के परवर्ती ग्रन्थों में वीरभद्रकृत आराधनापताका में सर्वाधिक गाथाएं समान या किंचित् शब्दभेद के साथ मिलती हैं, उसके बाद प्रवचनसाराद्धार, जो कि लगभग तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी का ग्रन्थ है, उसमें भी पाई जाती हैं। यहां हम इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा न करते हुए मात्र, वे तुलनात्मक गाथाएं किस ग्रन्थ में किस रूप में उपलब्ध हैं, इसे पूर्व उल्लेखित ग्रन्थों के क्रम के आधार पर ही प्रस्तुत कर रहे हैं-¹

मरणविभक्ति और आराधनापताका

- (1) संलेहणा य दुविहा अभिंतरिया 1 य वाहिरा 2 चेव ।
अभिंतरिय कसाए¹, बाहिरिया होइ य सरीरे 2 ॥

(मरणविभक्ति-प्रकीर्णक, गाथा 176)

- (1) संलेहणा उ दुविहा अभिंतरिया 1 य बाहिरा 2 चेव ।
अभिंतरा कसाएसु, बाहिरा होई हु सरीरे ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 08)

- (2) कोइं खमाइ, माणं मददवया अज्जवेण मायं च ।
संतोसेण य लोभं निज्जिण चत्तारि वि कसाए ॥

(मरणविभक्ति-प्रकीर्णक, गाथा 189)

- (2) कोइं खमाए, माणं मददवया अज्जवेण मायं च ।
संतोसेण य लोहं जिणइ हु चत्तारि वि कसाए ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 17)

¹ नोट - तुलना में आराधनापताका से प्राचीन ग्रन्थों की गाथा प्रथम और आराधनापताका की गाथा बाद में ही है, जबकि उससे परवर्ती ग्रन्थों में आराधनापताका की गाथा प्रथम दी गई है।

2. इस तुलनात्मक अध्ययन में डॉ. सागरमल जैन का विशेष सहयोग रहा है ।

- (3) मरणसमाहि कुसले इंगिय- पत्थियसमभाव वेत्तारे ।
ववहार विहि विहिण्णू अब्भुज्जयमरण सारहिणो ॥
(मरणविभक्ति, गाथा 327)
- (3) मरणसमाही कुसला इंगिय- पत्थियसहाव वित्तारो ।
ववहारविहिविहिण्णू अब्भुज्जयमरणसारहिणो ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 30)
- (4) आयरिय उवज्झाए सीसे साहम्मिए कुल-गणे य ।
जम्मि कसाओ कोई वि सव्वे तिविहेण खामेमि ॥
(मरणविभक्ति, गाथा 336)
- (4) आयरिय उवज्झाए सीसे साहम्मिए कुल-गणे य ।
जे मे कया कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 488)
- (5) एत्थ पुण भावणाओ पंय इमा होंति संकिलिट्ठाओ ।
आराइएण सुविहिय ! जा निच्चं वज्जणिज्जाओ ॥
(मरणविभक्ति, गाथा 59)
- (5) इत्थ पुण भावणाओ पणवीसं हुंति संकिलिट्ठाओ ।
आराहएण सुविहिय ! जा निच्चं वज्जणिज्जाओ ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 713)
- (6) एवं भावियचित्तो संथारवरम्मि सुविहिय! सया वि ।
भावेहि भावणाओ वारस जिणवयणदिट्ठाओ ॥
(मरणविभक्ति, गाथा 570)
- (6) एवं भावियचित्तो संथारवरम्मि सुविहिय! सया वि ।
भावेहि भावणाओ बारस जिणवयणदिट्ठाओ ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 729)
- मरण-विभक्ति आराधना-पताका**
- (1) छम्मासिया जहण्णा उक्कोसा बारसेव वरिसाई ।
आयंबिलं महेसी तत्थ य उक्कोसयं बिंति ॥
(मरणविभक्ति, गाथा 182)
- (1) तणुसंलेहा तिविहा उक्कोसा 1 मज्झिमा 2 जहण्णा 3 य ।
बारस वासा 1 बारस मासा 2 पक्खा वि बारस 3 इ ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 09)
- (2) एवं सरीरसंलेहणाविहिं बहुविहं पि फासितो ।
अज्झवसाणविसुद्धी खणं पि तो मा पमाइत्था ।
(मरणविभक्ति, गाथा 185)
- (2) एवं सरीरसंलेहणाविहिं बहुविहं पि फासितो ।
अज्झवसाणविसुद्धि खणमवि खवओ न मुंचिज्जा ।
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 15)

- (3) अज्झवसाणविसुद्धिविवज्जिया जे तवं विगिट्ठमवि ।
कुव्वंति बाललेसा न होइ सा केवलं सुद्धिं ॥
(मरणविभक्ति गाथा 186)
- (3) अज्झवसाणविसुद्धि कसायकलुसियमणस्स नत्थित्ति ।
अज्झवसाणविसुद्धि कसायसंलेहणा भणिया ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका ,गाथा 16)
- (4) साहू कयसंलेहो विजिय परीसह कसाय संताणो ।
निज्जवए मग्गेज्ज सुयरयण सहस्स निम्माए ।
(मरणविभक्ति , गाथा 325)
- (4) पासत्थोसन्न कुसीलठाण परिवज्जिया उ निज्जवग्गा ।
पियधम्म वज्जभीरू, गुणसंपन्ना अपरितंता ।
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 29)
- (5) एगंत गुणेऽरहिया बुद्धीइ चउव्विहाइ उववेया ।
छंदण्णू पच्चइया पच्चखणम्मि य विहण्णू ।
(मरणविभक्ति, गाथा 329)
- (5) कडजोगी कालन्नु बुद्धीए चउव्विहाए उववेया ।
छंदन्नु पव्वइया पच्चखाणम्मि य विहिन्नु ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 31)
- (6) कप्पाडकप्पविहन्नु दुवालसंगसुयसारही सत्वं ।
छत्तीसगुणोवेया पच्छित्तविया (सा) रया धीरा ॥
(मरणविभक्ति, गाथा 333)
- (6) कप्पाऽकप्पे कुसला समाहिकरणुज्जया सुयरहस्सा ।
गीयत्था भगवतो अडयालीसं तु निज्जमया ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 32)
- (7) उण्क्तण-परिवत्तण उच्चारुस्साव-करणजोगेसुं ।
दो वायग त्ति णिज्जा असुन्नकरणे जहन्नेणं ।
(मरणविभक्ति, गाथा 331)
- (7) उण्क्तण-परियत्तण-पसारणा-ऽऽकुंचणाइसुं ।
खवगस्स-समाहाणं करिंति निज्जामगा मुण्णिणो ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 34)
- (8) सव्वस्स समणसंघस्स भगवओ ! अंजलिं करे सीसे ।
सव्वं खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥
(मरणविभक्ति, गाथा 337)
- (8) सव्वस्स समणसंघस्स भगवओ अंजलि करिय सीसे ।
अवराहं खामेमी तस्स पसायाभिमुहचित्तो ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 489)

- (9) कंदप्पदेवकिव्विस अभिओगा आसुरी य सम्मोहा ।
 एयाओ संकिलिट्ठा, असंकिलिट्ठा हवइ छट्ठा ॥
 (मरणविभक्ति, गाथा 60)
- (9) कंदप्पदेवकिव्विस अभिओगा आसुरी य सम्मोहा ।
 एयाओ संकिलिट्ठा पंचविगप्पाओ पत्तेयं ।
 (प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 714)
- (10) कंदप्पकुक्कुयाइय दवसीलो य निच्चहासण कहो उ ।
 विम्हावितो य परं कंदप्पं भावणं कुणइ ॥
 (मरणविभक्ति, गाथा 61)
- (10) कंदप्पेकुक्कइए दवसीलत्ते य हासकरणे य ।
 परविम्हयजणणे वि य कदप्पो पंचहा हाई ॥
 (प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 715)
- (11) नाणस्स केवलीणं धम्मायरियस्स संघ साहूणं ।
 माई अवण्णवाई कब्बिसियं भावणं कुणइ ॥
 (मरणविभक्ति, गाथा 62)
- (11) सुयनाण केवलीणं धम्मायरियाणं संघ साहूणं ।
 माई अवन्नवाई कब्बिसियं भावणं कुणइ ॥
 (प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 716)
- (12) उम्मग्गदेसणा नाणदूसणा मग्गविप्पणासो य ।
 मोहेण मोहयंतंसि भावणं जाण सम्मोहं ।
 (मरणविभक्ति, गाथा 65)
- (12) उम्मग्गदेसणा मग्गदूसणं मग्गविपडिवत्तीय ।
 मोहो य मोहजणणं एवं सा हवइ पंचविहा ।
 (प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 719)
- (13) अन्नं इमं सरीरं, अन्नो हं, बंधवा वि मे अन्ने ।
 एवं नाऊण खमं, कुसलस्स न तं खमं काउं ॥
 (मरणविभक्ति, गाथा 590)
- (13) अन्नो जीवो, अन्नं इमं सरीरंपि, बंधवा, अवरे ।
 इय अन्नतं चिंतसु, गयसुकुमालो व्व धीर ! तुमं ॥
 (प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 736)

॥ गाथागत आंशिक भिन्नता, किन्तु विषयगत आंशिक भिन्नता ॥

आवश्यकनिर्युक्ति— आराधनापताका

आवश्यकनिर्युक्ति मुनि-आचार का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है । इसकी भी एक गाथा हमें आराधनापताका में मिलती है ।

- (1) सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खाई मि अलियवयणं च ।
 सव्वमदत्तादाणं अब्बंभ परिग्गहं सव्वहा ।

(आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 1284)

- (1) सव्वं पाणारंभं पच्चंक्खामि त्ति अलियवयणं च ।
सव्वमदित्तादाणं मेहुणय परिग्गहं चेव ।

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 563)

ओघनिर्युक्ति आराधनापताका

ओघनिर्युक्ति मुनि-आचार सम्बन्धी ग्रन्थों में एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जा सकता है। हमारी दृष्टि में यह ग्रन्थ भी प्राचीनाचार्यकृत आराधनापताका से पूर्ववर्ती है। इसमें भी अनेक गाथाएं आराधनापताका के समान मिलती हैं। तुलनात्मक अध्ययन के लिए हम इन गाथाओं को नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं-

ओघनिर्युक्ति, प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका : तुलनात्मक अध्ययन

- (1) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोएज्जा माया-मय विप्पमुक्को उ ॥
(ओघनिर्युक्ति, गाथा 801)
- (1) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोएज्जा माया-मयविप्पमुक्को य ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 172)
- (2) न वि तं सत्थं व विसं व दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो ।
जंतं व दुप्पउत्तं सप्पो व पमाइणो कुद्धो ॥
(ओघनिर्युक्ति, गाथा 803)
- (2) न वि तं सत्थं व विसं व दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो ।
जंतं व दुप्पउत्तं सप्पो व पमाइओ कुद्धो ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 215)
- (3) जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धिय उत्तमट्ठकालम्मि ।
दुल्लह-बोहीयत्तं अणंतसंसारियत्तं च ॥
(ओघनिर्युक्ति, गाथा 804)
- (3) जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं उत्तमट्ठकालम्मि ।
दुल्लहवोहीयत्तं अणंतसंसारियत्तं च ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 216)
- (4) तो उद्धरंति गारवरहिता मूलं पुणब्भवलयाणं ।
मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं नियाणं च ॥
(ओघनिर्युक्ति, गाथा 805)
- (4) तो उद्धरंति गारवरहिया मूलं पुणब्भवलयाणं ।
मिच्छादंसण सल्लं मायासल्लं नियाणं च ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 217)
- (5) न हु सुञ्जई ससल्लो जह भणियं सासणे धूयरयाणं ।
उद्धरियसव्वसल्लो सुज्जइ जीवो, धुयकिलेसो ॥
(ओघनिर्युक्ति, गाथा 798)

- (5) न हु सुज्झई ससल्लो जह भणियं सासणे धूयरयाणं ।
उद्धरियसव्वसल्लो सुज्झइ जीवो धुयकिलेसो ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 218)

संस्तारकप्रकीर्णक—आराधनापताका

समाधिमरण सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थों में संस्तारक—प्रकीर्णक भी एक प्रमुख ग्रन्थ रहा है। श्वेताम्बर—परम्परा में मरणसमाधि नामक प्रकीर्णक में जिन ग्रन्थों का समावेश किया गया है, उनमें भी यह एक ग्रन्थ है। विषय—साम्य के साथ—साथ इस ग्रन्थ की भी कुछ गाथाएं आराधना—पताका में समान रूप से पाई जाती हैं। तुलनात्मक अध्ययन के लिए हम उन्हें नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं—

- (1) धीर पुरिसपण्णत्तं सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं ।
धण्णा सिलायलगया साहंती उत्तमं अट्ठं ॥

(संथारग—पइण्णयं, गाथा 92)

- (2) धीर पुरिसपन्नत्ते सप्पुरिसनिसेविए अणसणम्मि ।
धन्नासिलायलगया निरावयक्खा निवज्जंति ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 88)

चंद्रवेध्यक—आराधना—पताका

चंद्रवेध्यक एक प्राचीन प्रकीर्णक है। इसका नाम नन्दीसूत्र की अंगबाह्य सूची में पाया जाता है। इसमें अंतिम आराधना का संक्षिप्त निरूपण मिलता है। इसकी भी एक गाथा हमें आराधना—पताका में मिलती है —

- (1) जे मे जाणंति जिणा अवराहे नाण—दंसण—चरित्ते ।
ते सव्वे आलोए, उव्वट्ठओ सव्वभावेणं ॥

(चंद्रवेध्यक, गाथा 132)

- (1) जे मे जाणंति जिणा अवराहा जेसुजेसु ठाणेसु ।
ते हं आलोएज्जा, उव्वट्ठओ सव्व भावेणं ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 207)

महाप्रत्याख्यान—आराधना—पताका— महाप्रत्याख्यान समाधिमरण सम्बन्धी ग्रन्थों में एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जा सकता है। हमारी दृष्टि में यह ग्रन्थ भी प्राचीनाचार्यकृत आराधना—पताका से पूर्ववर्ती है, क्योंकि इसका नाम नन्दीसूत्र में अंगबाह्य ग्रन्थों की सूची में मिलता है। इसमें भी अनेक गाथाएं आराधना—पताका से ली गई हैं। तुलनात्मक—अध्ययन के लिए हम इन गाथाओं को नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं—

- (1) धीरपुरिसपन्नत्ते सप्पुरिसनिसेविए अणसणम्मि ।
धन्नासिलाय लगया निरावयक्खा निवज्जंति ॥

(प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका, गाथा 88)

- (1) धीरपुरिसपण्णत्तं सप्पुरिसणिसेवियं परमघोरं ।
धन्ना सिलायलगया साहंति अप्पणो अट्ठं ॥

(महाप्रत्याख्यान, गाथा 84)

- (2) जइ ताव सावयाकुलगिरिकंदर –विसमकडक–दुग्गेसु।
साहिंति उत्तमट्ठं धिइधणियसहायगा धीरा॥
(प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका, गाथा 89)
- (2) जइ ताव ते सुपुरिसा गिरिकडक–विसम–दुग्गेसु।
धिइधणियबद्ध कच्छा साहिंति अप्पणो अट्ठं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा–81)
- (3) किं पुण अणगार सहायगेण अन्नोन्नसंगहवलेण।
परलोइये न सक्का साहेउं अप्पणो अट्ठं ?॥
(प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका, गाथा 90)
- (3) किं पुण अणगार सहायगेण अण्णोण्णसंगहवलेण।
परलोइये न सक्का साहेउं अप्पणो अट्ठं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 82)
- (4) जिणवयणमप्पमेयं महुरं कन्नामयं सुणितेणं।
सक्का हु साहुमज्झे संसारमहोयहिं तरिउं।
(प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका, गाथा 91)
- (4) जिणवयणमप्पमेयं महुरं कण्णाहुइं सुणितेणं।
सक्का हु साहुमज्झे साहेउं अप्पणो अट्ठं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 83)
- (5) जं मे जाणंति जिणा अवराहा जेसु–जेसु ठाणेसु।
ते हं आलोएउं उवट्ठिओ सव्वभावेणं॥
(प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका, गाथा 207)
- (5) जे मे जाणंति जिणा अवराहा जेसुजेसु ठाणेसु।
ते हं आलोएमी उवट्ठिओ सव्वभावेणं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 20)
- (6) न वि तं सत्थं व विसं व दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो।
जंतं व दुप्पउत्तं सप्पो व पमाइओ कुद्धो॥
(प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका, गाथा 215)
- (6) न वि तं सत्थं व विसं व दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो।
जंतं दुप्पउत्तं सप्पो व पमायओ कुद्धो॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 27)
- (7) जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं उत्तमट्ठकालम्मि।
दुल्लहवोहीयत्तं अणंतं संसारियत्तं च॥
(प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका, गाथा 216)
- (7) जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं उत्तिमट्ठकालम्मि।
दुल्लहवोहियत्तं अणंतसंसारियत्तं च॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 28)

- (8) तो उद्धरंति गारवरहिया मूलं पुणम्मवलयाणं ।
मिच्छादंसणसल्लं माया सल्लं नियाणं च ॥
(प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका, गाथा 217)
- (8) तो उद्धरंति गारवराहेया मूलं पुणम्मवलयाणं ।
मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं नियाणं च ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 19)
- (9) न हु सुज्झई ससल्लो जह भणियं सासणे धुयरयाणं ।
उद्धरियसव्वसल्लो सुज्झइ जीवो धुयकिलेसो ॥
(प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका, गाथा 218)
- (9) न हु सुज्झई ससल्लो जह भणियं सासणे धुयरयाणं ।
उद्धरियसव्वसल्लो सिज्झइ जीवो धूयकिलेसो ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 24)
- (10) सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि ति अलियवयणं च ।
सव्वंमदित्तादाणं मे हुणय परिग्गहं चेष ॥
(प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका, गाथा 563)
- (10) सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामी वि अलियवयणं ।
सव्वंमदिन्नादाणं अब्बंम परिग्गहं चेष ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 33)

निशीथभाष्य— आराधनापताका—निशीथभाष्य आगमिक व्याख्या—साहित्य में एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। यह छेदसूत्रों में महत्वपूर्ण निशीथ नामक ग्रन्थ पर लिखा गया भाष्य है। कालक्रम की अपेक्षा से निशीथभाष्य हमारे समालोच्य ग्रन्थ आराधना—पताका से कुछ परवर्ती है। प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका की कुछ गाथाएं इस निशीथभाष्य में भी मिलती हैं। तुलनात्मक—अध्ययन की दृष्टि से दोनों ग्रन्थों की गाथाओं को हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं—

- (1) किं पुण अणगार सहायगेण अन्नोन्नसंगहबलेण ।
परलोइये न सक्का साहेउं अप्पणो अट्ठं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 90)
- (1) किं पुण अणगार सहायएण अण्णोण्ण संगहबलेण ।
परलोइये ण सक्कइ साहेउं उत्तिमो अट्ठो ॥
(निशीथसूत्र—भाष्य, गाथा 3913)
- (2) धीर पुरिसपन्नते सप्पुरिसनिसेविए अणसणम्मि ।
धन्नासिलायलगया निरावयक्खा निव्वजंति ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 88)
- (2) धीर पुरिसपण्णत्ते सप्पुरिसणिसेवितं परमरम्मे ।
धण्णा सिलातलगता णिरावयक्खा णिव्वजंति ॥
(निशीथसूत्र—भाष्य, गाथा 3911)

- (3) जिणवयण मप्पमेयं महुरं कन्नामयं सुणित्तेणं ।
सक्का हु साहुमज्झे संसारमहोयहिं तरिउं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 91)
- (3) जिणवयणमप्पमेयं महुरं कण्णाहुइं सुणित्तेणं ।
सक्का हु साहुमज्झे साहेउं अप्पणो अट्ठं ॥
(निशीथसूत्र—भाष्य, गाथा 83)
- (4) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोएज्जा मायामयविप्पमुक्कोय ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 172)
- (4) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुयं भणति ।
तं तह आलोएज्जा मायामदविप्पमुक्को उ ॥
(निशीथसूत्र—भाष्य, गाथा 3863)
- (5) जे मे जाणंति जिणा अवराहा जेसु जेसु ठाणेसु ।
ते हं आलोएउं उवट्ठिओ सव्वभावेणं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 207)
- (5) जे मे जाणंति जिणा अवराहे जेसु जेसु ठाणेसु ।
ते हं आलोएतुं उवट्ठित्तो सव्वभावेण ॥
(निशीथसूत्र—भाष्य, गाथा 3864)

पंचाशकप्रकरण— आराधनापताका—आचार्य हरिभद्र का पंचाशक—प्रकरण भी एक प्राचीन रचना है। तुलनात्मक—दृष्टि से अध्ययन करने पर हम यह पाते हैं कि प्राचीन आचार्य विरचित आराधनापताका की कुछ गाथाएं पंचाशक—प्रकरण में भी पाई जाती हैं। तुलनात्मक—अध्ययन की दृष्टि से कुछ गाथाओं को हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं—

- (1) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोएज्जा मायामयविप्पमुक्को य ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 172)
- (1) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुयं भणति ।
तं तह आलोएज्जा माया—मय विप्पमुक्को उ ॥
(पंचाशक, गाथा 714)
- (2) जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं उत्तमट्ठकालम्मि ।
दुल्लहं बोहीयत्तं अणंतसंसारियत्तं च ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 216)
- (2) जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं उत्तिमट्ठकालम्मि ।
दुल्लहं बोहीयत्तं अणंतसंसारियत्तं च ॥
(पंचाशक, गाथा 732)

आराधनाप्रकरण— आराधनापताका— आराधना—प्रकरण समाधिमरण सम्बन्धी ग्रन्थों में एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जा सकता है। हमारी दृष्टि में यह ग्रन्थ भी प्राचीनाचार्यकृत आराधनापताका से परवर्ती है। इसमें भी अनेक गाथाएं आराधनापताका से ली गई हैं। तुलनात्मक—अध्ययन के लिए हम इन गाथाओं को नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं—

(1) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोएज्जा माया—मयविप्पमुक्को य ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 172)

(1) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोएज्जा माया मय विप्पमुक्को य ।

(आराधना—प्रकरण, गाथा 18)

(2) न वि तं सत्थं व विसं व दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो ।
जंतं व दुप्पउत्तं सप्पो व पमाइओ कुद्धो ।

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 215)

(2) न वि तं सत्थं व विसं व दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो ।
जंतं व दुप्पउत्तं सप्पो व पमायओ कुद्धो ॥

(आराधना—प्रकरण, गाथा 05)

(3) जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं उत्तमट्ठकालम्मि ।
दुल्लह बोहीयत्तं अणंतसंसारियत्तं च ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 216)

(3) जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं उत्तिमट्ठकालम्मि ।
दुल्लहबोहीयत्तं अणंतसंसारियत्तं च ॥

(आराधना—प्रकरण, गाथा 06)

(4) तो उद्धरंति गारवरहिया मूलं पुणब्भवलयाणं ।
मिच्छादंसण सल्लं मायासल्लं नियाणं च ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 217)

(4) तो उद्धरं गारवरहिया मूलं पुणब्भवलयाणं ।
मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं नियाणं च ॥

(आराधना—प्रकरण, गाथा 07)

प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका

मुनि पुण्यविजयजी द्वारा संपादित 'पइण्णइसुत्ताइं' में आराधनापताका नामक दो ग्रन्थों का उल्लेख है। उनमें से एक हमारा समालोच्य ग्रन्थ प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका है, दूसरा वीरभद्रकृत आराधनापताका है। दोनों ग्रन्थ एक ही विषय से सम्बन्धित होने के कारण यह स्पष्ट है कि उनमें समानता हो। दोनों में अनेक गाथाएं समान रूप से और अनेक गाथाएं आंशिक—भिन्नता को लेकर पाई जाती हैं। यह तो स्पष्ट है कि वीरभद्रकृत आराधनापताका प्राचीनाचार्यकृत आराधनापताका से परवर्ती है और यही कारण है कि उन्होंने कुछ गाथाएं आंशिक—भिन्नता के साथ ग्रहण की है, ताकि उनका स्वतन्त्र कृतित्व स्थापित हो सके। नीचे हम

तुलनात्मक—अध्ययन की दृष्टि से समान एवं आंशिक—भिन्नता वाली गाथाओं को उद्धृत कर रहे हैं, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि वीरभद्र अपनी आराधनापताका की रचना में प्राचीनाचार्यकृत इस आराधनापताका से कितने प्रभावित रहे हैं—

1— संलेहणा उ दुविहा अभिंतरिया 1 य बाहिरा 2 चेव ।
अभिंतरा कसाएसु बाहिरा होइ हु सरीरे ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 8)

संलेहणा उ दुविहा अभिंतरिया 1 य बाहिरा 2 चेव ।
अभिंतरा कसाए होइ, अणभिंतरा देहे ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 135)

2— चत्तारि विचित्ताइं विगईनिज्जुहियाइं चत्तारि ।
संवच्छरे य दुण्णि उ एगंतरियं च आयामं ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 10)

चत्तारि विचित्ताइं, विगईनिज्जुहियाइं चत्तारि ।
संवच्छरे य दुण्णि उ एगंतरियं च आयामं ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 155)

3— नाइविगिट्ठो य तवो छम्मासे परिमियं च आयामं ।
अण्णे वि य छम्मासे होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 11)

ना तिविकिट्ठो य तवो छम्मासे, परिमियं च आयामं ।
अण्णे वि य छम्मासे होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 156)

4— कप्पाऽकप्पे कुसला समाहिकरणगुज्जया सुयरहस्सा ।
गीयत्था भगवतो अडयालीसं तु निज्जमया ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 32)

कप्पाऽकप्पे कुसला समाहिकरणगुज्जया सुयरहस्सा ।
गीयत्था भगवतो अडयालीसं तु निज्जमया ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 398)

5— किं च तं नोवभुत्तमे परिणामा सुई सुई ?
दिट्ठसारो सुहं झाइ चोयणेसेव सीयओ ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 96)

किं व तं नोवभुत्तं मे परिणामाऽसुइं सुइं ? ।
दिट्ठसारो सुहं झाइ चोयणा अवसीयओ ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 418)

6— पासित्तु ताणि कोइ तीर पत्तस्स किं ममेएहिं ?
वेइग्गमणुपत्तो संवेगपरायणो होइ ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 98)

पासित्तु कोइ ताइं तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मज्झ ? ।
वेरग्गमणुपत्तो संवेगपरो स चिं तेइ ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 417)

7- एल-तय-नागकेसर-तमालपत्तं ससक्करं दुद्धं ।
पाऊणकठियसीयल समाहिपाणं तओ पच्छ ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 101)

एल-तय-नागकेसर-तमालपत्तं ससक्करं दुद्धं ।
पाऊणकठिणसीयल समाहिपाणं इमं पच्छ ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 426)

8- महुरविरेयणमेसो कायव्वो फुप्फलाइदव्वेहिं ।
पिब्बाविओ उ अग्गी समाहिमे सो सुहं लहइ ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 102)

महुरविरेयण मेसो कायव्वो पोप्फलाइदत्वेहिं ।
विब्बाविओयरग्गी समाहिमेसो सुहं लहइ ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 427)

9- अणुपालिओ य दीहो, परियाओ वायणा मए दिन्ना ।
निप्फाइया य सीसा, इण्हिं साहेमि अप्पाणं ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 112)

अणुपालिओ य दीहो परियाओ वायणायमे दिन्ना ।
निप्फाइया य सीसा, सेयं खलु अप्पणो काउं ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 177)

10- निद्धं महुर गहिरं गाहगपल्हायणणिज्ज पत्थं च ।
अणुसट्ठिं देइ तहिं गषाहिवइणो गणस्स वि य ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 114)

निद्धं महुर गंभीरं गाहगपल्हायणणिज्जमणवज्जं ।
अणुसट्ठिं देइ गणी गणाहिवइणो गणस्सवि य ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा)

11- नाणम्मि दंसणम्मि य, चरणम्मि य तीसु समयसारेसु ।
चोएइ जो ठवेउं णणमप्पाणं स गणहारी ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 122)

नाणम्मि दंसणम्मि य, चरणम्मि यतीसु समयसारेसु ।
चोएइ जो ठवेउं गणमप्पाणं गणहरो सो ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 184)

12- पिंडं उवहिं सिज्जं उग्गम-उप्पायणेसणाईहिं ।
चारित्तरक्खणट्ठा सोहितो होइ सचरित्ती ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 123)

पिंडं उवहिं सिज्जं उग्गम-उप्पायणेसणादीहिं ।
चारित्तरक्खणट्ठा सोहितो होइ सचरित्ती ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 185)

- 13- एस अखंडियसीलो बहुस्सुओ य अपरोपतावी य।
 चरणगुण सट्ठिओ त्ति य कित्ती धन्नाण भमइ जए ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 137)
 एस अखंडियसीलो बहुस्सुओ एस, एस य समट्ठो।
 चरणगुण सुट्ठिओ त्ति य घणस्साघोसणा भमइ ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 124)
- 14- भयवं अणुग्गहो णे, जं नु सदेहं व पालिया अम्हे।
 सारण-वारण-पडिचोयणाओ धन्नाहु पाविति ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 139)
 भयवं अणुग्गहो णे, जं नियदेहं व पालिया तुमए।
 सारण-वारण-पडिचोयणाओ धण्णा हु पाविति ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 230)
- 15- अम्हे वि खमावेमो जं अन्नाण-प्पमाय-रागेहिं।
 पडिलोविया हु आणा हिओवएसं करिंताणं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 140)
 अम्हे वि खमावेमो, जं अण्णाण-प्पमायदोसेणं।
 पडिलोभिया य आणा हिओवएसं करिंताणं 2 ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 175)
- 16- जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुवयं भणइ।
 तं तह आलोएज्जा माया-मयविप्पमुक्को य ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 172)
 जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
 तं तह आलोयव्वं माया-मयविप्पमुक्केणं ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 332)
- 17- आयरिय उवज्झाए सीसे साहम्मिए कुल-गणे य।
 जे मे कया कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 488)
 आयरिय उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुल-गणे य।
 जे मे कया कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 434)
- 18- निज्जवओ आयरिओ संथारगयस्स देइ अणुसट्ठिं।
 संवेयं निव्वेयं जणयंतो कन्नजावं से ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 568)
 निज्जमया आयरिआ संथारगयस्स दिंति अणुसट्ठिं।
 संवेयं निव्वेयं जणयंता कन्नजावं से ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा)

- 19- सज्जायं कुब्बंतो पंचिंदियसंबुडो तिगुत्तो य ।
भवइ य एगगमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 591)
सज्जायं कुब्बंतो पंचिंदियसंबुडो तिगुत्तो य ।
होइ य एगगमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 82)
- 20- एवं नाऊण तवं महागुणं संजमम्मि ठिच्चाणं ।
तवसा भावेयव्वो अप्पां णिच्चं पि जत्तेणं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 698)
एवं नाऊण तवं महागुणं संजमम्मि ठिच्चाणं ।
तवसा भावेभव्वो, अप्पासइ अप्पमत्तेणं ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 715)
- 21- कंदप्प देवकिव्विस अभिओगा आसुरी य सम्मोहा ।
एयाओ संकिलिट्ठा पंचविगप्पाओ पत्तेयं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 714)
कंदप्प-देवकिव्विस-अभियोगा आसुरी य सम्मोहा ।
एसा उ संकिलिट्ठा पंचविहाभावणा भणिया ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 122)
- 22- एयाओ भावणाओ भावित्ता देवदुग्गइं जंति ।
तत्तो वि चुया संता भमंति भवसायरमणंतं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 721)
एयाहिं भावणाहिं भाविंता देवदुग्गइं जंति ।
तत्तो चुया समाणा भमंति भवसायर मणंतं ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 123)
- 23- एवं संथारगयस्स तस्सकम्मोदएण खवयस्स ।
अंगे कत्थइ उट्ठिज्ज वेयणा ज्ञाणविग्घकरी ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 762)
एवं संथारगयस्स तस्सकम्मोदएण जइ मुणिणो ।
अंगे कत्थइ उट्ठिज्ज वेयणा ज्ञाणविग्घकरी ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 719)
- 24- सुइपाणएण अणुसट्ठिमोयणेण य उवग्गहीएण ।
ज्ञाणोसहेण तिव्वा वि वेयणा तीरए सहिउं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 882)
सुइपाणएण अणुसट्ठिमोयणेण य सया उवग्गहीओ ।
ज्ञाणो-सहेण तिव्वा वि वेयणा तीरए सोदुं ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 785)

- 25- तो तस्स तिगिच्छाजाणगेण सवयस्स सब्वसत्तीए।
विज्जाएसेण व से पडिकम्मं होइ कायव्वं॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 763)
- तो तस्सतिगिच्छा जाणगेण खमगस्ससव्वसत्तीए।
विज्जाएसेणहवा परिकम्मं होई कायव्वं॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 720)
- 26- को सि तुमं ? किंनामो ? कत्थाऽसी ? को व संपईकालो ?।
किं कुणसि तुमं ? किह वा अच्छसि ? किं नासमको वा हं ?।।
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 767)
- कोसि तुमं ? किंनामो ? कत्थ वससि ? को व संपयं कालो ?।
किं कुणसि ? किह व अच्छसि ? को वा हं ? सुयणु ! चिंतेसु॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 725)
- 27- किं पुण जइणा संसार सव्वदुक्खक्खयं करितेण।
बहुतिव्वकम्म फलजाणएण न धिई करेयत्वा ?।।
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 738)
- किं पुण जइणा संसार सव्वदुक्खक्खयं करितेण।
बहुतिव्वकम्मसजाणएण न धिई करेयत्वा ?।।
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 738)
- 28- मेरुव्व निप्पकंपा अक्खोभा, सायरो व्व गंभीरा।
धिरमता सुप्पुरिसा होंति महल्लावईए वि॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 782)
- मेरुव्व निप्पकंपा अक्खोभा, सायरो व्व गंभीरा।
धीमंता सप्पुरिसा हुंति महल्लावईहिं वि॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 739)
- 29- नरएसु वेयणाओ अणोवमाओ असायबहुलाओ।
कायनिमित्तं पत्तो अणंतसो तं बहुविहाओ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 843)
- नरएसु वयणाओसी उण्हकयाओ बहुवियप्पाओ।
कायनिमित्तं पत्तो अणंतखुत्तो सुतिक्खाओ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 758)
- 30- तण्हा अणंतखुत्तो संसारे तारिसी तुमं आसी।
जं पसमेउं सव्वोदहीणमुदयं न तीरिज्जा॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 879)
- तमहा अणंतखुत्तो संसारे तारिसी तुमं आसी।
जं पसमेउं सव्वो दहीणमुदयं न तीरिज्जा॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 782)

31- आसी अणंतखुत्तो संसारे ते छुहा वि तारिसिया ।
जं पसमेउं सववो पुग्गलकाओ वि न तरिज्जा ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 880)

आसी अणंतखुत्तो संसारे ते खुहा वि तारिसिया ।
जं पसमेउं सव्वो पुग्गलकाओ वि न तरिज्जा ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 783)

32- जइतारिसिया तण्हा छुहाय अवसेण सा तए सोढा ।
धम्मो त्ति इमा सवससेण कहं सोढुं न तीरिज्ज ? ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 881)

जइतारिसिया तण्हा छुहा य अवसेण सा तया सोढा ।
धम्मो त्ति इमा सवससेण कह पुण सोढुं न तीरिज्जा ? ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 784)

प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका एवं वीरभद्राचार्य विरचित आराधनापताका की आंशिक
भिन्नता वाली गाथाएं

1- तणुसंलेहा तिविहा उक्कोसा 1 मज्झिमा 2 जहण्णा 3 य ।
बारस वासा 1 बारस मासा 2 पक्खा वि बारस उ 3 ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 09)

संलेहणाइ कालो उक्किट्ठो जिणवरेहिं निददट्ठो ।
कालम्मि पहुप्पंते बारस वासाणि पुण्णाणि ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 154)

2- वासं कोडीसहियं आयामं कट्टु आणुपुव्वीए ।
संलेहित्तु सरीरं भत्तपरिन्नं पवज्जेइ ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 12)

वासं कोडीसहियं आयामं कट्टु आणुपुव्वीए ।
पाओवगमं धीरे पडिवज्जइ मरणमियरं वा ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 157)

3- एवं सरीरसंलेहणाविहिं बहुविहं पि फासितो ।
अज्झवसाणविसुद्धी खणमवि खवओ न मुंचिज्जा ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 15)

वायक्खोभा दिभया जहसत्तीए तवं कुणइ एसो ।
अज्झवसाणविसुद्धि संलिहमाणो न मुंचिज्जा ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 158)

4- अज्झवसाणविसुद्धी कसायकलुसियमणस्स नत्थि त्ति ।
अज्झवसाणविसुद्धी कसायसंलेहणा भणिया ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 16)

अज्झवसाणविसुद्धी कसायकलुसीकयस्स से नत्थि ।
ता तरस्स सुद्धिहेउं संलिहइ तओ कसायकलिं ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 159)

5- कोहं खमाए, माणं मददवया अज्जवेण मायं च ।
संतोसेण य लोहं जिणइ हु चत्तारि वि कसाए ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 17)

कोहं खमाइ, माणं च मददवेणऽज्जवेण मायं च ।
संतोसेण य लोहं संलिहइ लहुं कसाए सो ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 160)

6- पडिचोयणअसहवाय खुहिय पडिवयणइंधणाइद्धो ।
चंडो हु कसाग्गी सहसा संपलिज्जाहि ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 18)

तं वत्थुं मुत्तव्वं जं उपज्जए कसायग्गी ।
तं आयरेज्ज वत्थु जेण कसाया न उट्ठंति ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 162)

7- जलिओ हु कसायग्गी चरित्तसारं उहिज्जं कसिणं पि ।
सम्मत्तं पि विराहिय अणंतसंसारियं कुज्जा ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 19)

जं अज्जियं चरित्तं देसूणाए वि पुव्वकोडीए ।
तं पि कसायमित्तो हारेइ नरो मुहुत्तेण ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 164)

8- तम्हाहु कसायग्गिं पढमं उप्पज्जमाणयं चैव ।
इच्छा-मिच्छादुक्कडचंदणसलिलेण झंपिज्जा ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 20)

तम्हा उप्पज्जंतो कसायदावानलो लहुं चैव ।
इच्छा- मिच्छाउक्कडचंदणसलिलेण विज्झवइ ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 166)

9- विविहतवसोसियंगो वियऽसिरा-न्हारु-पंसुलिकडाहो ।
संलिहियतणू खवगो अज्झप्परओ हवइ निच्चं ॥

(प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका, गाथा 32)

परिवड्ढिओवहाणो वियऽसिरा-न्हारु-पंसुलिकरालो ।
संलिहियकसाओ वि य दुविहं संलेहणमुवेई ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 167)

10- तं संलिहियतणुतरस्स वि खवगस्स परिच्छणं तओ गुरुणा ।
कायत्वं आराहणमहसागरपारगमणत्थं ॥

(प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका, गाथा 25)

ता तस्स उत्तमट्ठे काणुच्छाहं परिक्खइ विहिण्णू ।
खीरोयणदत्वग्गह दुगुंछणाए जहसमाहिं ॥

(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 309)

- 11- पासत्थोसन्न कुसीलठाण परिवज्जिया निज्जवग्गा ।
पियधम्म वज्जभीरु गुणसंपन्ना अपरितंता ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 29)
पियधम्मा दढ्धम्मा संविग्गा वज्जभीरुणो धीरा ।
छंदण्णू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विहिण्णू ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 397)
- 12- उव्वत्तण-परियत्तण-पसारणा-SSकुंघणाइसुं ।
खव्वगस्स समाहाणं करिति निज्जामगा मुणिणो ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 34)
उव्वत्तण-परिवत्तण-तुयट्ठणुट्ठाण-निसियणाइसु ।
चउरो समाहिकामा ओलग्गंता य विहरंति ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 396)
- 13- एए उक्कोसेणं परिहाणीए जहन्नओ दोन्नि ।
एगो परिन्निपासे, वीओ पाणाइ गच्छिज्जा ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 40)
कालाणुसारओ पुण चउरो चउरो कमेण हाविज्जा ।
जा चउरो अहवा दो हुंति जहण्णेण निज्जमया ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 410)
- 14- एक्कम्मि उ निज्जवए विराहणा होइ कज्जहाणी य ।
सो सेहा वि य चत्ता परवसणं चेव उड्डाहो ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 41)
एगो जइ निज्जमओ अप्पाचत्तो परो पवयणं वा ।
वसणं समाहिमरणे उड्डाहो दुग्गई वा वि ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 411)
- 15- पंच व छ व सत्तसए अइरेगं वा वि जोयणाणं तु ।
गीयत्थपाथमूलं परिमग्गिज्जा अपरितंतो ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 55)
जोयसयाणि छ स्सत्त वा वि वरिसं व जाव बारसयं ।
निज्जवगमणुण्णायं समाहिकामो गवेसिज्जा ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 243)
- 16- तम्हा गीयत्थाणं पवयणसंगहियसव्वसाराणं ।
पामूले कायव्वा खवगेणं उत्तमट्ठविट्ठी ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 63)
गीयत्थो चरणत्थो पुच्छेऊणाSSगयस्स खउमगस्स ।
सव्वायरेण सूरि वि तस्स निज्जावओ हुज्जा 4 ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 242)

- 17- संधारो उल्लिखिते असुसिर-अप्फुडियभूमितलरुवो ।
एवं सिलामओ वा अहवेगंगिय फलगरुवो ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 83)
पुढवीसिलागओ वा फलहमओ तणमओ य (?व) संधारो ।
होइ समाहिनिमित्तं उत्तरसिर अहव पुव्वमुहो ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 393)
- 18- तह वि असंधरमाणे कुसमाईणं तु अञ्जुसिरतणाइं ।
तस्सऽसइऽसंधरे वा झुसिरतणाइं तओ पच्छा ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 85)
अप्पंड-पाणिदेसे समे अञ्जुसिरे य भूमिसंधारो ।
अप्फुडिय असंसत्तो समपट्टसिलामओ होइ ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 394)
- 19- उयर मलसोहणट्ठा समाहिपाणं मणुन्नमेसो वि ।
महुरं पज्जेयव्वो मंदं च विरेयणं खवओ ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 100)
तो पाणएण परिभावियस्स उयरमलसोहणट्ठाए ।
महुरं पज्जेयव्वो मंदं च विरेयणं खवओ ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 425)
- 20- ठावेऊण गणहरं आमंतेऊण तो गणं सयलं ।
खामे सबालवुड्डं पुव्वविरुद्धे विसेसेण ॥
(प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका, गाथा 107)
आमंतेऊण गणं सबाल-वुड्डं गणिं च तो भणइ ।
कडुयं फरुसं व ज्ञाणिया तं में सव्वंखमावेमि ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 173)
- 21- आणंदमंसुपायं कुणमाणा ते वि भूमिगय सीसा ।
धम्मायरियं निययं सत्त्वे खमेति तिविहेणं ॥
(प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका, गाथा 110)
वंदिय कयंजलिउडा तायारं वच्छलं बहुं ताइं ।
निययं धम्मायरियं खमिति य ते वि तिविहेणं ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 174)
- 22- अह सो धम्मायरिओ, करुणाऽमयसायरो नियगणस्स ।
चितंतो कल्लाणं उत्तरकाले जिणाणाए ॥
(प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका, गाथा 111)
संवेगजणियहासो सुत्त-ऽतीविसारओ सुयरहस्सो ।
आयट्ठं चिंतितो चिंतेइ गणं जिणाणाए ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 176)

- 23— अप्पपसंसं चयसू परपरिवायं च मा करिज्जा हि ।
सज्जाए आउत्तो गच्छम्मि य वच्छलो होहि ॥
(प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका, गाथा 115)
अप्पपसंसं सप्पं व चयसु, सप्पुरिसनिंदियं अहमं ।
विसमुच्छियं व पुरिसं जा कुणइ विवेयनिस्सारं ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 214)
अप्पपसंसा पुरिसस्स होइ चिंधं सुनिग्गुणत्तस्स ।
जइ तस्स गुणा हांता ता नूण जणो वि सलहंतो ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 215)
सयणे व परजणे वा परपरिवायं व चयसु निच्चंपि ।
अच्चसायणभीओ परगुणदंसी सया होहि ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 216)
- 24— जो सगिहं तु पलित्तं अलसो न वि विज्झवे पमाणं ।
सो किह सददहियव्वो परघरडाहप्पसमणम्मि ? ॥
(प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका, गाथा 120)
जो सघरं पि पलित्तं निच्छइ विज्झाविउं पमाणं ।
कह सो सददहियव्वो परघरदाहं पसामेउं ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 182)
- 25— एसो सब्बसमासो, तह घत्तह जह हविज्ज भुवणम्मि ।
तुज्झं गुणेहि जणिया सब्बत्थ वि विस्सुया कित्ती ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 124)
एसो सब्बसमासो—तह पेच्छह अप्पयं पयत्तेण ।
जह तह गुणसंजणिया कित्ती सब्बत्थ वित्थरइ ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 223)
- 26— ताहे संठविय गणं विहिणा, एमेव गणनिसग्गं च ।
काऊण सूखिखवगो आराहणमारुहे सम्मं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 144)
गणसंकमणं काउ इमेण विहिणा विहाडियममत्ता ।
आराहितां सत्ता करिंति दुक्खक्खयं धीरा ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 315)
- 27— जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं उत्तमट्ठकालम्मि ।
दुल्लहवोहीयत्तं अणंतसंसारियत्तं च ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 216)
एगमवि भावसल्लं अणुद्धरिता य जो कुणइ सल्लं ।
लज्जाइ गारवेण य न हु सो आराहओ होइ ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 329)

- 28- न हु सुज्झई ससल्लो जह भणियं सासणे धूयरयाणं ।
उद्धरियसत्त्वसल्लो सुज्झइ जीवो धुयकिलेसो ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 218)
राग- दोसाभिहया ससल्लतरणं मरति जे मूढा ।
ते दुक्खस-7 बहुला भमंति संसारकतारं ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 330)
- 29- सव्वस्स समणसंघस्स भगवओ अंजलिं करिय सीसे ।
अवराहं खामेमी तस्स पसायाभिमुह चित्तो ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 489)
सव्वे अवराहपए खामेमि अहं, खमेउ मे भवयं ।
अहमवि खमामि सुद्धो गुणयंथायस्स संघस्स ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 435)
- 30- तो ते संघसमक्खं पच्चक्खाविति खवगमाहारं ।
जाजीवं सागारं चउव्विहं वा वि तिविहं वा ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 542)
पच्चक्खाविति तओ तं ते खवयं चउव्विहाहारं ।
संघसमवाय मज्झे चिइवंदण पुव्वयं विहिण ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 431)
जावज्जीवं तिविहं आहारं वोसिरिहि इमं खवओ ।
निज्जइओ आयरिआ संघस्स निवेयणं कुणइ ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 428)
- 31- भवचरिमं पच्चक्खामि चउविहं अहव तिविहमाहारं ।
आगारचउक्केणं अन्नत्थिच्चाइणा सम्मं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 543/अ)
तम्हा भवचरिमं सोपच्चक्खाहि ति तिविहमाहारं ।
उक्कस्सियाणि सव्वाणि तस्स दव्वाणि दंसिज्जा ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 416)
- 32- परिहरसु तुमं सुपुरिस ! मिच्छं भवदुक्खमूलहेउमिणं ।
सम्मतराहणेणं तिविहं तिविहेण जाजीवं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 573)
संसारमूलवीयं मिच्छत्तं सव्वहा विवज्जेहि ।
सम्मत्ते दढचित्ते होसु नमुक्कारकुसलो ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 446)
- 33- अग्गि-विस-किण्हसप्पाइयाणि दोसं न तं करिज्जा हु ।
जं तिव्वं मिच्छत्तं जीवस्स कुणइ महादोसं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 574)
वि तं करेइ अग्गी नेय विसं नेय किण्ह सप्पो वि ।
जं कुणइ महादोसं तिव्वं जीवस्स मिच्छत्तं ॥

- (वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 450)**
- 34— मा कुणसु ता पमायं सम्मत्ते तुडिवसा कह वि पत्ते ।
सग्गाऽपवग्ग संसग्गकारणे निमिसमित्तं पि ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 582)
मा कासि तं पनायं सव्वदुक्खनासणए ।
सम्मत्तपविट्ठाइं नाणं—तव—विरिय—चरणाइं ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 454)
- 35— किंसुरगिरिणो गरुयं ? जलनिहिणो किं व हुज्जा गंभीरं ? ।
किं गयणाओ विसालं ? को ये अहिंसासमो धम्मो ? ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 596)
तुंगे न मंदराओ, आगासाओ विसालयं नत्थि ।
जह तह जयम्मि जाणसु धम्ममहिंसासमं नत्थि ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 499)
- 36— चरउ तवं धरउ वयं सरउ गुरुं, करउ दुक्करं किरियं ।
कासकुसुमं व विहलं जइ नो जियरक्खणं कुणइ ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 600)
दाणं निस्संग तवो दिक्खा देवच्चणं सुहच्चाओ ।
ते जीवदयाइ विणा सववे वि निरत्थया हुंति ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 501)
- 37— कोहेण व लोभेण व हासेण भएण वा वि तिविहेणं ।
सुहुमेयरं पि अलियं वज्जसु सावज्जसयमूलं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 602)
हासेण व कोहेण व लोभेण भएण वा वि तमसच्चं ।
मा भणसु भणसु सच्चं, जीवहियती पसत्थमिणं ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 521)
- 38— अवि दंतसोहणं पि हु परदव्वमदिन्नयं न गिण्हज्जा ।
इह परलोयगयाणं मूलं बहुदुक्खलक्खाणं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 609)
मा कुणसु धीर ! बुद्धिं अप्पं व बहुं व परधणं धित्तुं ।
दंतंतरसोहणयं कलिंचमित्तं पि अदिदण्णं ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 529)
- 39— अत्थ संतम्मि सुहं जीवइ सकलत्त—पुत्त—सम्बन्धी ।
अत्थं हरमाणेणं हियं भवे जीवियं तेसिं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 612)
हुंतम्मि तम्मि जीवइ सुहं च सकलत्तओ तओ लहइ ।
अत्थं तस्स हरंतेण तेण सं जीवियं पि ह (? हि) यं ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 533)

- 40— परलोयम्मि य चोरो करेइ नरयम्मि अप्पणो वसहिं ।
तिव्वाओ वेयणाओ अणुभवइ तत्थसुचिरं पि ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 616)
चोरो परलोयम्मि वि निवइ अइतिव्वेयणे नरए ।
तिरिएसु य तम्मि पुणो पावइ तिक्खाइं दुक्खाइं ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 533)
- 41— नवगुत्तीहिं विसुद्धं धरिज्ज वंभं विसुद्धपरिणामो ।
सव्ववयाण वि पवरं सुदुद्धरं विसयलुद्धाणं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 618)
रक्खाहि बंभचेर च बंभगुत्तीहिं नवहिं परिसुद्धं ।
निच्चं पि अप्पमतो पंचविहे इत्थिवेरग्गे ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 541)
- 42— अजसमणत्थं दुक्खं इहलोए दुग्गई य परलोए ।
संसारं च अपारं न मुणइ विसयाऽऽमिसे गिद्धो ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 620)
अयसमणत्थं दुक्खं इहलोए, दुग्गई च परलोए ।
संसारं च अणंतं न गणइ विसयामिसे गिद्धो ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 557)
- 43— मिच्छत्ताइचउदसभेए अभिंतरे चयसु गंथे ।
खित्ताइ दसविहे वि य धीर ! तुमं तिविहतिविहेणं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 625)
अभिंतर बाहिरए सव्वे गंथे तुमं विवज्जेहि ।
कय—कारिय—ऽणुईहिं काय—मणो वयणजोगेहिं ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 646)
- 44— गंथनिमित्तं कुद्धो कलहं बोलं करिज्ज वेरं वा ।
पहणिज्ज व मारिज्ज व मारिज्जिज्ज व तह परेणं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 626)
संगनिमित्तं मारेइ भणियं अलियं करेइ चोरिक्कं ।
सेवइ मेहुण मुच्छं च अपरिमाणं कुणइ जीवो ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 653)
- 45— सोएण सुभददाई निहया, तह चक्खुणा वणिसुयाई ।
घाणेण कुमारुई रसणेण हया सुदासाई ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 647)
सोत्तेण पवसियपिया चक्खुराएण माहुरो वणिओ ।
घाणेण रायपुत्तो, निहओ रसणाइ सोदासो ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 703)

- 46— फासिंदिएण वसणं पत्ता सोमालिया नरेसाई ।
इक्किक्केण वि निहया जीवा, किं पुण समग्गेहिं ? ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 648)
फासिंदिएण दिट्ठो नट्ठो सोमालिया महीवालो ।
इक्किक्केण वि निहया किं पुण जे पंचसु पसत्ता ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 704)
- 47— अभिंतर बाहिरए तवमि सत्तं सयं अगूहितो ।
उज्जमसु सए देहे अप्पडिवद्धो अणलसो तं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 693)
अभिंतर—बाहिरयं कुणसु तवं वीरियं अगूहितो ।
विरयनिगूही वंधई मायं विरियंतरायं च ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 709)
- 48— अकडुमत्तित्तमणं विलमकसायमलवणयं तहा महरं ।
अविरसमदुब्धिगंधं अच्छामणुण्हं अणइसीयं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 759)
अकडुमत्तित्तयमणंबिलं च अकसायमलवणयं महरं ।
पाणयमणुण्ह—सिसिरं दायव्वं होइ खमगस्स ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 718)
- 49— सारेयव्वो खवओ निज्जामयसूरिणा तओ झत्ति ।
जह सो विसुद्धलेसो पच्चागयचेणो होज्जा ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 766)
तो मुज्झंतो सम्मं तह भणियव्वो जहाऽऽगमं गणिणा ।
जह सो विसुद्ध लेसो पच्चागयचेयणो होइ ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 724)
- 50— सुण धीर ! को वि सुहडो उत्तमवंसो जणे वि पत्त जसो ।
माणी मरणभएण रणमि नासिज्ज हक्काओ ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 777)
को नाम भडो कुलजो माणी धूलाइरुण जणमज्जे ।
जुज्जे पलाद आवडियमित्तगो चेव अरिभीओ ? ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 731)
- 51— तं सरसि महपइन्ना जं विहिया संहा सक्खिया तुमए ।
'भंते ! सव्वाहारं पच्चखामि त्ति जाजीव' ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 783)
संभरसु सुयण ! जं तं मत्तमि चउव्विहस्स संघस्स ।
वूढा महापइण्णा अहयं आराहइस्सामि ॥
(वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 730)

- 52— धिइधणियबद्धकच्छा भीया जर—मरण—जम्मणभायाणं ।
सेलसिलासयणत्था साहिति उ उत्तिमट्ठाइं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 810)
- धिधणियबद्ध कच्छा अणुत्तरविहारिणो सुहसहाया ।
साहिति उत्तिमट्ठं सावयदाढंतर गया वि ॥
(वीरमद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 741)
- 53— तह नारय—तिरियत्ते नराऽमरत्ते वि जं तए दुक्खं ।
पत्तं अणंत—खुत्तो तं अणुचिंतेहि तच्चित्तो ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 842)
- नारय—तिरियगईसु य माणुस—देवत्तणेसु संतेण ।
जं पत्तं सुह दुक्खं तं तह चिंतेसु तच्चित्तो ॥
(वीरमद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 757)
- 54— पियविप्पओग दुक्खं अणिट्ठसंजोगजं च जं दुक्खं ।
जं माणस च दुक्खं दुक्खं सारीरगं जं च ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 860)
- पियविरहे अप्पियसंगमे य मणुयत्तणम्मि जं दुक्खं ।
धणहरण—दारधरिसण—दारिददांवददवकयं च ॥
(वीरमद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा)
- 55— मुत्तुं पि बारसंगं स एव मरणम्मि कीरण जम्हा ।
अरहंतनमोक्कारो तम्हा सो बारसंगत्थो ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 897)
- अरहंतनमुक्कारो इक्को वि हविज्ज जो मरणकाले ।
सो जिणवरेहिं दिट्ठो संसारच्छेयसमत्थो ॥
(वीरमद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 469)
- 56— दंऽण—मुंडन—ताऽण—धरिसण—परिसोससंकिंलेसो य ।
धणहरण—दारधरिसण—घरडाह—जला हि धणनासो ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 863)
- खंडन—मुंडन—ताऽण—जर—रोग विओग—सोग—संता वं ।
सारीर माणसं तदुभयं च सम्मं विचिंतेसु ॥
(वीरमद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 766)
- 57— तेलोक्कसव्वसारं चउगइंसंसारदुक्खनासणयं ।
आराहणं पवन्नो सो भयवं मुख्ख सोक्खत्थी ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 914)
- संसारियं पि जं पयइ सुंदरं जं च अक्खयं सोक्खं ।
असासहणाफलं तं निदिदट्ठं नट्टमोहिहिं ॥
(वीरमद्राचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 15)

वीरभद्राचार्यविरचित आराधना-पताका और आतुर-प्रत्याख्यान

आतुर-प्रत्याख्यान नामक शीर्षक से प्राप्त होने वाले इन तीन भिन्न-भिन्न प्रकीर्णकों में कुल 135 गाथाएं हैं, जिनमें संलेखना, समाधि-विषयक विभिन्न पक्षों की सम्यक् चर्चा की गई है।

आतुर-प्रत्याख्यान भी एक पूर्ववर्ती ग्रन्थ है। यह मूल ग्रन्थ तो अति प्राचीन है, क्योंकि इसका नाम नन्दीसूत्र में मिलता है, किन्तु वीरभद्रकृत आतुर-प्रत्याख्यान आराधना-पताका से परवर्ती है। प्राचीनाचार्यकृत आराधना-पताका में भी आतुर-प्रत्याख्यानों की अनेक गाथाएं यथावत् मिलती हैं।

तुलनात्मक-अध्ययन के लिए हम इन गाथाओं को नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं-

आतुर-प्रत्याख्यान- प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका-गाथा : तुलनात्मक अध्ययन

1- जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोएज्जा मायामोसं पमोत्तूणं ॥

(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 33)

जह बालो जंपंतो कज्जं कज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोएज्जा माया-मयविप्पमुक्को य ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 172)

2- जे मे जाणंति जिणा अवराहे जेसु-जेसु ठाणेसु ।
ते हं आलोएमि उवट्ठओ सव्वभावेणं ॥

(आतुरप्रत्याख्यान- 2, गाथा 31)

जे मे जाणंति जिणा अवराहे जेसु-जेसु ठाणेसु ।
ते हं आलोएउं उवट्ठओ सव्वभावेणं ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 207)

3- सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि त्ति अलियवयणं च ।
सव्वमदिन्नादाणं मेहुण्णं परिग्गहं चेव ॥

(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 13)

सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि त्ति अलियवयणं च ।
सव्वमदित्तादाणं मेहुणय परिग्गहं चेव ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 563)

प्रवचन-सारोद्धार और आराधना-पताका

प्रवचन-सारोद्धार लगभग चौदहवीं शताब्दी की आचार्य नेमीचंद्र की रचना है। यह स्पष्ट है कि प्रवचन-सारोद्धार में अनेक गाथाएं अपने प्राचीन ग्रन्थों से यथावत् या आंशिक भिन्नता के साथ ले ली गई हैं। इस ग्रन्थ में अनेक गाथाएं प्राचीन आचार्यकृत आराधना-पताका से भी मिलती हैं तुलनात्मक-अध्ययन के लिए हम इन्हें नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं-

1- चत्तारि विचित्ताइं विगई निज्जूहियाइं चत्तारि ।
संवच्छरे य दुण्णि उ एगंतरियं च आयामं ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 10)

चत्तारि विचित्ताइं विगई निज्जूहियाइं चत्तारि ।
संवच्छरे य दोन्नि उ एगंतरियं च आयामं ॥

- (प्रवचनसारोद्धार, गाथा- 1/875)
- 2- नाइ विगिट्ठो य तवो छम्मासे परिमियं च आयामं ।
अण्णे वि य छम्मासे होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 11)
नाइ विगिट्ठो य तवो छम्मासे, परिमियं च आयामं ।
अवरेऽवि य छम्मासे होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥
(प्रवचनसारोद्धार, गाथा- 1/876)
- 3- वासं कोडी सहियं आयामं कट्टु आणुपुव्वीए ।
संलेहित्तु सरीरं भत्तपरिन्नं पवज्जेइ ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 12)
वासं कोडीसहियं आयामं कट्टु आणुपुव्वीए ।
गिरिकंदरं व गंतुं पाओवगमं पवज्जेइ ॥
(प्रवचनसारोद्धार, गाथा- 1/877)
- 4- उव्वत्त दार संथार कहग, वाईय अग्गदा-रम्मिं ।
भत्ते पाण वियारे कहग दिसा जे समत्था य ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 33)
उव्वत्त दार संथार कहग, वाईय अग्गदारम्मिं ।
भत्ते पाण वियारे कहग दिसा जे समत्था य ॥
(प्रवचनसारोद्धार, गाथा- 1/629)
- 5- काले विणए बहुमाणे उवहाणे तहा अनिन्हवणे ।
रंजण अत्थ तदुभए सुयनाणविराहणं वियडे ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 176)
काले विणए बहुमाणोवहाणे तहा अनिण्हवणे ।
वंजण अत्थ तदुभए सुयनाणविराहणं वियडे ॥
(प्रवचनसारोद्धार, गाथा- 1/267)
- 6- निस्संकि य निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववूह थिरिकरणे वच्छल्ल पहावणे अट्ठ ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 180)
निस्संकि य निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववूह-थिरिकरणे वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ ॥
(प्रवचनसारोद्धार, गाथा- 1/268)
- 7- पुरओ पक्खाऽऽसन्ने गंता चिट्ठण निसीयणाऽऽयमणे ।
आलोयण पडिसुणणे पुव्वालवणे य आलोए ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 504)
पुरओ पक्खाऽऽसन्ने गंता चिट्ठण निसीयणायमणे ।
आलोयणऽपडिसुणणे पुव्वालवणे य आलोए ॥
(प्रवचनसारोद्धार, गाथा- 1/139)

- 8— कोहो माणो माया लोभो चउरो वि हुंति चउभेया ।
अण—अप्पच्चक्खाणा पच्चक्खाणाय संजलणा ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 651)
कोहो माणो माया लोहो चउरो हवंति हु कसाया ।
एएसिं निग्गहणं चरणस्स हवंति मे भेया ॥
(प्रवचनसारोद्धार, गाथा— 1/561)
- कोहो माणो माया लोहोऽणंताणुबंधिणो चउरो ।
एवमप्पच्चक्खाण पच्चक्खाणा य संजलणा ॥
(प्रवचनसारोद्धार, गाथा— 1/1256)
- 9— खुहा पिवासा सी उण्हं दंसा—ऽचेला—ऽरइ—त्थिओ ।
चरिया निसीहिया सिज्जा क्कोस वह नायणा ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 671)
खुहा पिवासा सी उण्हं दंसा चेला रइत्थिओ ।
चरिया निसीगिया सेज्जा अक्कोस वह जायणा ॥
(प्रवचनसारोद्धार, गाथा— 1/685)
- 10— अलाभ रोग तणफासा मल सक्कारपरीसहा ।
पन्ना अन्नाण सम्मत्तं इइ वावीसं परीवहा ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 672)
अलाभ रोग तणफासा मल सक्कार परिसहा ।
पन्ना अन्नाण सम्मत्तं इइ बावीसं परिसहा ॥
(प्रवचनसारोद्धार, गाथा— 1/686)
- 11— पमाओ य मुणिदेहिं भणिओ अट्ठभेयओ ।
अन्नाणं संसओ चेव मिच्छानाणं तहेव य ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 686)
पमाओ य मुणिदेहि, भणिओ अट्ठभेयओ ।
अन्नाणं संसओ चेव, मिच्छानाणं तहेव च ॥
(प्रवचनसारोद्धार, गाथा— 1/1207)
- 12— रागो दोसो मइब्भंसो धम्मम्मि य अणायरो ।
जोगाणं दुप्पणीहाणं अट्ठहा वज्जियव्वओ ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 687)
रागो दोसो मइब्भंसो धम्मम्मि य अणायरो ।
जोगाणां दुप्पणिहाणं अट्ठहा वज्जियव्वओ ॥
(प्रवचनसारोद्धार, गाथा— 1/1208)
- 13— कदप्प देवकिव्विस अभिओगा आसुरी य सम्मोहा ।
एयाओ संकिलिट्ठा पंचविगप्पाओ पत्तेयं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 714)
कंदप्प देवकिव्विस अभिओगा आसुरी य सम्मोहा ।
एसा हु अप्पसत्था पंचविहा भावणा तत्थ ॥

- (प्रवचनसारोद्धार, गाथा— 1/641)
- 14— कंदप्पे कुक्कुड़ए दवसीलत्ते य हासकरणे य ।
परविम्हयजणणे वि य कंदप्पो पंचहा होइ ॥
कंदप्पे कुक्कुड़ए दोसीलत्ते य हासकरणे य ।
परविम्हयजणणेवि य कंदप्पोऽणेगहा तह य ॥
कंदप्पे कुक्कुड़ए दोसीलत्ते य हासकरणे य ।
परविम्हयजणणेवि य कंदप्पोऽणेगहा तह य ॥
कंदप्पे कुक्कुड़ए दोसीलत्ते य हासकरणे य ।
परविम्हयजणणेवि य कंदप्पोऽणेगहा तह य ॥
- (प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 715)
- 15— कोउय भूर्इकम्मे पसिणेहिं तह य पसिणपसिणेहिं ।
तह य निमित्तेणं चिय पंचवियप्पा भवे सा य ॥
कोउय भूर्इकम्मे पसिणेहिं तह य पसिणपसिणेहिं ।
तह य निमित्तेणं चिय पंचवियप्पा भवे सा य ॥
कोउय भूर्इकम्मे पसिणेहिं तह य पसिणपसिणेहिं ।
तह य निमित्तेणं चिय पंचवियप्पा भवे सा य ॥
- (प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 717)
- 16— उम्मग्गदेसणा मग्गदूसणं मग्गविपडिवत्ती य ।
मोहो य मोहजणणं एवं सा हवइ पंचविहा ॥
उम्मग्गदेसणा मग्गदूसणं मग्गविपडिवत्ती य ।
मोहो ये मोहजणणं एवं सा हवइ पंचविहा ॥
उम्मग्गदेसणा मग्गदूसणं मग्गविपडिवत्ती य ।
मोहो ये मोहजणणं एवं सा हवइ पंचविहा ॥
- (प्रवचनसारोद्धार, गाथा— 1/644)
- 17— इदरियासमिए सया जए उवेह भुंजिज्ज व पाण—भोयणं ।
आयाण—निक्खेव दुगुंछ संजए समाहिए संजयए मणोवई ॥
इदरियासमिए सयाजए उवेह भुंजेज्ज व पाण—भोयणं ।
आयाणनिक्खेवदुगुंछ संजए समाहिए संजयए मणोवई ॥
इदरियासमिए सयाजए उवेह भुंजेज्ज व पाण—भोयणं ।
आयाणनिक्खेवदुगुंछ संजए समाहिए संजयए मणोवई ॥
- (प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 746)
- 18— अहस्ससच्चे अणुवीइभासए जे कोह लोह भयमेव वज्जए ।
सदीहरायं समुपेहिया सिया मुणी हु मोसं परिवज्जए सया ॥
अहस्ससच्चे अणुवीइभासए जे कोह लोह भयमेव वज्जए ।
सदीहरायं समुपेहिया सिया मुणी हु मोसंपरिवज्जए सिया ॥
अहस्ससच्चे अणुवीइभासए जे कोह लोह भयमेव वज्जए ।
सदीहरायं समुपेहिया सिया मुणी हु मोसंपरिवज्जए सिया ॥
- (प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 747)
- 19— सयमेव उ उग्गहजायणे घडे मइमं निसम्म सइभिक्षु उग्गहं ।
अणुन्नविय भुंजिय पाण—भोयणं जाइत्ता साहम्मियाण उग्गहं ॥
सयमेव उ उग्गहजायणे घडे मइमं निसम्मा सइ भिक्षु उग्गहं ।
अणुन्नविय भुंजीयपाण—भोयणं जाइत्ता साहम्मियाण उग्गहं ॥
सयमेव उ उग्गहजायणे घडे मइमं निसम्मा सइ भिक्षु उग्गहं ।
अणुन्नविय भुंजीयपाण—भोयणं जाइत्ता साहम्मियाण उग्गहं ॥
- (प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 748)
- (प्रवचनसारोद्धार, गाथा— 1/637)
- (प्रवचनसारोद्धार, गाथा— 1/638)

20— आहारगुत्ते अविभूसियप्पा इत्थिं न निज्झाइ न संथविज्जा।
बुद्धे मुणी खुड्डकहं न कुज्जा धम्माणुपेहि सेवए बंभचेरं॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 749)

आहारगुत्ते अविभूसियप्पा इत्थिं न निज्झाय न संथवेज्जा।
बुद्धे मुणी खुड्डकहं न कुज्जा, धम्माणुपेही संधए बंभचेरं॥

(प्रवचनसारोद्धार, गाथा— 1/639)

आराधना—पताका की श्वेताम्बर एवं दिगम्बर—ग्रन्थों से गाथागत तुलना

(1) मूलाचार

दिगम्बर—परम्परा में मुनि के आचार की विवेचना करने वाला यदि कोई प्राचीन ग्रन्थ है, तो वह मूलाचार है। डॉ. सागरमल जैन ने इस ग्रन्थ को दिगम्बर—परम्परा का ग्रन्थ न मानकर अचेलयापनीय—परम्परा का ग्रन्थ माना है। इस ग्रन्थ में श्वेताम्बर—परम्परा के अनेक ग्रन्थों की गाथाएं समान रूप से मिलती हैं। विशेष रूप से आवश्यकनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति तथा आतुर—प्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, चन्द्रवेध्यक आदि की अनेक गाथाएं अपने शौरसेनी रूपान्तरण में इस ग्रन्थ में भी पाई जाती हैं। इस सन्दर्भ में विशेष चर्चा तो डॉ. सागरमल जैन ने अपने शोधमूलक ग्रन्थ यापनीय—परम्परा में विस्तार से की है। यहाँ हम विस्तार से उस चर्चा में न जाते हुए केवल आराधना—पताका से उसका तुलनात्मक—विवेचन प्रस्तुत करेंगे। विशेष रूप से आराधना—पताका में, आलोचना किस प्रकार से करना चाहिए, इसकी चर्चा करते हुए जो गाथाएं कही गई हैं, वे गाथाएं दो—तीन शब्दों के भेद से मूलाचार में भी यथावत् पाई जाती हैं। इसी प्रकार, प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका में ज्ञानातिचार की आलोचना में जो गाथाएं कही गई हैं, वे भी मूलाचार में यथावत् मिलती हैं। इस प्रकार, पंच महाव्रतों के परिग्रहण सम्बन्धी गाथा भी मूलाचार और आराधना—पताका में समान रूप से पाई जाती है। इसी क्रम में, आगे स्वाध्याय के परिणामों की चर्चा करते हुए जो गाथाएं आराधना—पताका में कही गई हैं, वे ही गाथाएं मूलचार में भी यथावत् मिलती हैं। इसी प्रकार, चार कषायों के त्याग के सम्बन्ध में भी प्राचीनाचार्यकृत आराधना—पताका और मूलाचार की गाथाएं भी दोनों में समान रूप से मिलती हैं, कुछ शाब्दिक—भिन्नता के साथ यथावत् पाई जाती हैं। तुलनात्मक—अध्ययन के लिए हम दोनों की गाथाओं को यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

1— जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुयं भणदि।

तह आलोचेयव्वं माया मोसं च मोत्तूण॥

(मूलाचार, गाथा 1/56)

जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।

तं तह आलोएज्जा माया—मयविप्पमुक्को य॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 172)

2— काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे।

वंजण अत्थ तदुभए णाणाचारो दु अट्ठविहो॥

(मूलाचार, गाथा 1/269)

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे।

वंजण अत्थतदुभयं विणओ णाणमिह अट्ठविहो॥

(मूलाचार, गाथा 1/367)

काले विणए बहुमाणे उवहाणे तहा अनिन्हवणे ।

वंजण अत्थ तदुभए सुयनाणविराहणं वियडे ।

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 176)

3— सत्वं पाणारंभं पच्चक्खामि त्ति अलियवयणं च ।

सत्वमदत्तादाणं मेहुण परिग्गंह चेव ॥

(मूलाचार, गाथा 41)

सवं पाणारंभं पच्चक्खामि त्ति अलियवयणं च ।

सत्वमदित्तादाणं मेहुणय परिग्गंह चेव ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 563)

4— सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदियसंवुडो तिगुत्तो य ।

हवदि य एअग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ॥

(मूलाचार, गाथा 1/410)

सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदियसंवुडो तिगुत्तो य ।

भवइ य एअग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 591)

5— कोहो माणो माया लोहोणंताणुबंधिसण्णा य ।

अप्पच्चखाण तहा पच्चक्खाणो य संजलणो ॥

(मूलाचार, गाथा 1/234)

कोहो माणो माया लोभो चउरो वि हुंति चउभेया ।

अण— अप्पच्चक्खाणा पच्चक्खाणा य संजलणा ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 651)

आराधनापताका और भगवती—आराधना

प्राचीनाचार्यकृत आराधनापताका की दिगम्बर—परम्परा में उपलब्ध भगवतीआराधना से तुलना करने पर हम देखते हैं कि उसकी इन दोनों ग्रन्थों से बहुत कुछ समानताएं पाई जाती हैं। सर्वप्रथम तो हम यह देखते हैं कि जहां समाधिमरण—सम्बन्धी श्वेताम्बर—परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों का नामकरण आराधना के रूप में नहीं हुआ है, उन्हें संस्तरक, मरणसमाधि, मरणविभक्ति आदि नामों से ही जाना जाता है, किन्तु दिगम्बर—परम्परा में भगवतीआराधना के नामकरण में और श्वेताम्बर—परम्परा में आराधनापताका के नामकरण में आराधना शब्द का प्रयोग समान रूप से हुआ है, इससे ऐसा लगता है कि समाधिमरण और संलेखना को ही कालान्तर में 'आराधना' या 'पर्यन्त—आराधना' के नाम से जाना जाता रहा¹ और इसी कारण इन दोनों ग्रन्थों में 'आराधना' शब्द का प्रयोग हुआ। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर—परम्परा में 'पर्यन्त आराधना' नामक एक अन्य कृति भी उपलब्ध होने से कालान्तर में इसे आराधना—पताका के नाम से जाना जाता रहा है। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि 'आराधनापताका' नामक अन्य कृति भी है, जो वीरभद्रकृत है और लगभग

¹ सम्मं नरिंद—देविंदविंदियं वंदिउं जिणं वीरं ।

भीमभवणवहणं पज्जंताराहणं वोच्छं ॥

दसवीं शती की रचना है, अतः यह आराधना-पताका प्राचीन आचार्यकृत आराधना-पताका के नाम से जानी जाती है।

आराधना-पताका और भगवती-आराधना- दोनों की भाषा में ही अन्तर है। जहाँ भगवती-आराधना शौरसेनी-प्राकृत में लिखी गई है, वहीं आराधना-पताका की भाषा सामान्यतया अर्द्धमागधी है। यद्यपि कहीं-कहीं महाराष्ट्री-प्राकृत का प्रभाव देखा जा सकता है, किन्तु फिर भी उसमें 'य' श्रुति प्रायः कम ही पाई जाती है, किन्तु लोप के स्थान पर अवशिष्ट स्वर ही देखा जाता है, यथा- होई, लभई, खवओ, खवगो जैसे पाठ ही मिलते हैं। इससे हम यह तो निष्कर्ष निकाल ही सकते हैं कि कुछ परिस्थितियों में तो आराधना-पताका की भाषा भी श्वेताम्बर-परम्परा के परवर्तीकालीन आगमों की अपेक्षा भी प्राचीन प्रतीत होती है। भाषा की दृष्टि से भगवती-आराधना और आराधना-पताका- दोनों ग्रन्थों का अध्ययन करने पर ऐसा लगता है कि अर्द्धमागधी और शौरसेनी का भेद होते हुए भी दोनों में बहुत कुछ समानताएँ देखने को मिलती हैं। भगवती-आराधना में यद्यपि आराधना-पताका के पूर्व भगवती शब्द का प्रयोग देखा जाता है, जो शौरसेनी प्राकृत का रूप न होकर अर्द्धमागधी का ही रूप है, साथ ही भगवती-आराधना की प्रथम मंगल गाथा को देखें, तो उसमें मात्र आराधना शब्द का ही प्रयोग हुआ है,¹ उसके साथ वहाँ भगवती शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि दिगम्बर-परम्परा में इस ग्रन्थ के दो नाम प्रचलित हैं- भगवती-आराधना और मूल आराधना, किन्तु भगवती या मूल- ये दोनों विशेषण उसके साथ परवर्तीकाल में ही जोड़े गए हैं। मात्र भगवती-आराधना की अन्तिम प्रशस्ति के अन्त में आराधनाभगवती- ऐसा पाठ है। भगवती-आराधना की तीसरी प्रारम्भ की गाथा में भी 'भणिया आराहणा समासेण'² कहकर इसका नाम आराहणा ही बताया गया है। जहाँ तक आराधना-पताका के नाम का प्रश्न है, उसकी भी प्रथम मंगल-गाथा में इसे 'पज्जंताराहणं', अर्थात् पर्यन्ताराधना ही कहा गया है,³ यद्यपि इसकी अन्तिम प्रशस्ति-गाथा में उसका आराधना-पताका- ऐसा नाम अवश्य मिलता है।⁴ इस प्रकार, इसके अन्तिम बत्तीसवें द्वार में भी 'आराहणापडागं'- यह नाम दिया गया है,⁵ किन्तु इसी बत्तीसवें द्वार के अन्त में इसमें 'पज्जंताराहणा'- यह नाम भी मिलता है। इसी प्रसंग में एक महत्वपूर्ण सूचना यह है कि इसकी उपसंहार-गाथाओं में क्रमांक 928वीं गाथा में इसके लिए 'आराहणा भगवई'- यह नाम भी मिलता है। इससे ऐसा लगता है कि

¹ सम्मं नरिद-देविदवंदियं वंदिउं जिणं वीरं।

भीमभवणवहणं पज्जंताराहणं वोच्छं।।

² दुविहा पुण जिणवयणे, भणिया आराहणा समासेण।

सम्मत्तमि य पढया विदिया य हवे चरित्तमि।।

³ सम्मं नरिद-देविदवंदियं वंदिउं जिणं वीरं।

भीमभवणवहणं पज्जंताराहणं वोच्छं।। आराधना-पताका- गाथा- 1

⁴ आराहणापडागं एयं, जो सम्ममायरइ धन्नो।

सो लहइ सुद्धसद्धो, तिलोयसुद्धलं कितिं।। गाथा- 931

⁵ एवं तु भावियप्पा पसत्थज्जाणो सिबुद्धलेसागो।

आराहणापडागं हरइ अदिग्घेण सो खवओ।। गाथा- 913

इस प्रकार दोनों में किसी सीमा तक नाम की भी समानता है और अन्त में भगवती या पताका शब्द मात्र विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।¹

यह भी स्पष्ट है कि जैन-परम्परा में ग्रन्थों के आदि में मंगल करने की परम्परा किंचित् परवर्तीकालीन ही है, क्योंकि श्वेताम्बर-परम्परा के आगमों में भगवती और प्रज्ञापना आदि के कुछ अपवादों को छोड़कर आदि-मंगल नहीं किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों में भी आदि-मंगल के रूप में मात्र नमस्कार-मन्त्र का पाठ ही मिलता है² और विद्वानों की तो यहाँ तक मान्यता है कि यह पाठ भी परवर्तीकाल में उन ग्रन्थों में प्रक्षिप्त हुआ है, जबकि भगवती-आराधना और आराधना-पताका- दोनों ही ग्रन्थों में आदि मंगल स्पष्ट रूप से मिलता है, जो उनकी समानता का सूचक है, फिर भी दोनों ग्रन्थों की अन्तिम प्रशस्ति देखने पर दोनों में एक अन्तर भी दिखाई देता है। प्राचीनाचार्यकृत इस आराधना-पताका में ग्रन्थकर्ता ने कहीं भी स्पष्ट रूप से अपने नाम का निर्देश नहीं किया है, मात्र आराधना-पताका के महत्व की ही स्थापना की गई है,³ जबकि इसके विपरीत, भगवती-आराधना की अन्तिम ग्रन्थप्रशस्ति में आराधना के महत्व को बताने के साथ-साथ ही ग्रन्थकार ने अपनी परम्परा भी स्पष्ट रूप से दी है। उन्होंने यह लिखा है कि आर्यजिनन्दीगणी, सर्वगुप्तगणी और आर्यमित्रनन्दी के पादमूल में सम्यक् रूप से श्रुत और अर्थ को जानकर पूर्व आचार्यों के द्वारा निबद्ध आराधना को आधार बनाकर 'पानीतलभोजी शिवार्य' ने इस आराधना की रचना की।⁴

भगवती-आराधना की इस अन्तिम प्रशस्ति-गाथा से दो बातें और भी सिद्ध होती हैं। प्रथम तो यह कि जहाँ आराधना-पताका में अन्तिम प्रशस्ति में भी लेखक अपने नाम का निर्देश नहीं करता है, वहाँ भगवती-आराधना में यह निर्देश ही ही नहीं, अपितु अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख भी ग्रन्थकार करता है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि ग्रन्थों के अन्त में ग्रन्थकार का नाम, उसकी गुरु-परम्परा आदि का उल्लेख एक परवर्तीकालीन घटना है। इस आधार पर कहीं ऐसा तो नहीं है कि प्राचीनाचार्यकृत आराधना-पताका भगवती-आराधना से भी पूर्ववर्ती हो।

दूसरे यह कि भगवती-आराधना की इन प्रशस्ति-गाथाओं में यह स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि शिवार्य ने पूर्व आचार्यों द्वारा निबद्ध आराधना नामक ग्रन्थ को उपजीव्य बनाकर ही इस ग्रन्थ की रचना की। जहाँ तक हमें ज्ञात है⁵ कि श्वेताम्बर तथा दिगम्बर-परम्परा में भी आराधना नामक किसी ग्रन्थ का अस्तित्व इस प्राचीनाचार्यकृत आराधना-पताका के पूर्व नहीं रहा है, क्योंकि उसके पूर्व की रचनाएँ मरणसमाधि, मरणविभक्ति आदि के नामों से ही प्रचलित रही हैं। इस आधार पर यह

¹ साइमणतं कालं तथ सिविमि गओ विगयवाहो।

जीवो सुहिओ चिट्ठअ पज्जंताऽराहणपभावा ॥ गाथा- 925

² (अ) भगवतीसूत्र - 1/1 (ब) प्रज्ञापनासूत्र - 1/1

³ आराहणापडागं एयं जो सम्ममायरइ धन्नो।

सो लहइ सुद्धसद्धो तिलोयचंदुज्जलं किंत्ति ॥ आराधनापताका 931 ॥

कम्माऽमयप्पसमणं लच्छिनिवासण्णभूयमिहविवुहा।

अजरामरपयहेउं सेवह आराहणा अमयं ॥ आराधनापताका 932 ॥

⁴ अज्जजिणभंदिगणिं - सव्वगुत्तगणि-अज्जमित्तणदीणं।

अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥ भगवती-आराधना - 2159, 2160.

⁵ पुव्वायरियणिबद्धा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए।

आराधणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥ भगवती आराधना 2160 ॥

भी कहा जा सकता है कि प्राचीनाचार्यकृत आराधना-पताका को आधार बनाकर ही भगवती-आराधना की रचना हुई होगी।

सामान्यतया, विद्वानों की यह अवधारणा है कि प्राचीन ग्रन्थ आकार में सक्षिप्त होते थे और परवर्ती काल में ही विस्तृत ग्रन्थों के लेखन की परम्परा प्रारम्भ हुई। इस बात को लक्ष्य में रखकर यदि हम विचार करते हैं, तो यह स्पष्ट है कि जहाँ प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका में मात्र 932 गाथाएं हैं, वहाँ भगवती-आराधना में 2164 गाथाएं हैं। इस प्रकार, आराधना-पताका से भगवती-आराधना की गाथाएं द्विगुणित हैं। इन्हीं कुछ आधारों पर डॉ. सागरमल जैन का यह मानना है कि प्राचीनाचार्यकृत आराधना-पताका भगवती-आराधना से पूर्ववर्ती अवश्य है और भगवती-आराधना के लिए वही उपजीव्य ग्रन्थ रहा है।¹

आराधना-पताका और भगवती-आराधना में कौन प्राचीन है ? इसके लिए डॉ० सागरमल जैन ने एक अन्य तर्क भी दिया है। उनका कहना है कि जहाँ भगवती-आराधना में स्पष्ट रूप से गुणस्थान-सिद्धान्त की चर्चा मिलती है,² वहाँ प्राचीनाचार्यकृत आराधना-पताका में कहीं भी गुणस्थानों की कोई चर्चा नहीं मिलती है। उनकी अपनी मान्यता है कि गुणस्थान-सिद्धान्त की अवधारणा परवर्तीकालीन है। वह लगभग पांचवीं-छठवीं शताब्दी में अस्तित्व में आई, अतः इस आधार पर भी वे ऐसा मानते हैं कि आराधना-पताका भगवती-आराधना की अपेक्षा एक पूर्ववर्ती ग्रन्थ है।

सर्वप्रथम यदि आराधना-पताका और भगवती-आराधना के प्रतिपाद्य विषयों की दृष्टि से तुलना करें, तो हम यह पाते हैं कि आराधना-पताका में निम्न बत्तीस द्वारों का वर्णन है— 1. संलेखना 2. परीक्षा 3. निर्यामक 4. योग्यता 5. अंगीतार्थ 6. असंविज्ञतया 7. निर्जरा 8. स्थान 9. प्रशस्तवसति 10. संस्तारक 11. चरम द्रव्यदापना 12. समाधिपान 13. गणपतिक्षपक का गणनिसर्ग 14. चैत्यवन्दन 15. आलोचना 16. व्रतोच्चारण 17. चतुःशरण 18. दुष्कृतगर्हा 19. सुकृतानुमोदना 20. जीवक्षमापना 21. स्वजनक्षमापना 22. संघक्षमापना 23. जिनवरादिक्षमापना 24. आशातना-प्रतिक्रमण 25. कायोत्सर्ग 26. शक्रस्तव 27. पापस्थानों का त्याग 28. अनशन 29. अनुशिष्टि (शिक्षा) 30. सार-कवच 31. नमस्कार तथा 32. आराधनाफल, किन्तु भगवती-आराधना में इस प्रकार के द्वारों की कोई चर्चा नहीं की गई, लेकिन क्रमिक रूप से विषय का विवेचन अवश्य किया गया है। प्रारम्भ में आराधना का स्वरूप और उसके तीन भेदों की चर्चा की है, जबकि आराधना-पताका के प्रथम द्वार में आराधना के दो और तीन भेद बताए गए हैं। दो भेदों की चर्चा करते हुए उसमें संलेखना के आभ्यन्तर और बाह्य— ऐसे दो भेद कहे गए हैं।³ पुनः, आभ्यन्तर-संलेखना को कषाय-संलेखना के रूप में स्वीकार किया गया है। भगवती-आराधना में भी उसकी तीसरी गाथा में आराधना के दो भेद किए गए हैं⁴, किन्तु यहाँ पर उन भेदों के नाम सम्यक्त्व-आराधना और चारित्र-आराधना— इन दो रूपों में बताए गए हैं, किन्तु भगवती-आराधना में अन्यत्र शरीर-संलेखना और कषाय-संलेखना का

¹ डॉ. सागरमल जैन से व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर.

² गुणस्थान सिद्धान्त : एकविरिलेखणात्मक अध्ययन — डॉ. सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

³ संलेखणा उ दुविहा अभिंतरिया 1 य बाहिरा 2 चव ।

अभिंतरा कसाएसु, बाहिरा होइ हु सरीरे ।। आराधनापताका— 8.

⁴ दुविहा पुण जिणवयणे भणिया आराहणा समासेण ।

सम्मत्तामि य पढमा विदिया य हवे चरित्तमि ।। भगवतीआराधना— 3.

उल्लेख है और उसमें भी शरीर—संलेखना को बाह्य और कषाय—संलेखना को आभ्यन्तर—संलेखना कहा गया है। इस प्रकार, आराधना के दो भेदों की चर्चा दोनों रूपों में समान रूप से मिलती है,¹ किन्तु प्रारम्भ की गाथाओं में दोनों के स्वरूपों में भेद है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि भगवती—आराधना में ज्ञान और दर्शन का सार चारित्र कहा गया है और चारित्र का सार निर्वाण की प्राप्ति बताया गया है। यह बात श्वेताम्बर—परम्परा में आवश्यकनिर्युक्ति में भी यथावत् मिलती है।⁴

इसी क्रम में भगवती—आराधना में आराधना की टीका में भी आराधना के तीन और चार भेद कहे गए हैं, किन्तु संख्या सामने होने पर भी यहाँ दोनों में अन्तर है। आराधना—पताका में तीन भेद उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के रूप में किए गए हैं, जबकि भगवती—आराधना में ऐसी कोई चर्चा इस प्रसंग में नहीं की गई है।

इस चर्चा के पश्चात् भगवती—आराधना¹ में मरण के बालमरण, बालपण्डितमरण और पण्डितमरण—ऐसे तीन भेदों के प्रसंगान्तर से मरण के 17 भेदों की चर्चा की गई है।⁴ यद्यपि आराधना—पताका में इस प्रकार की कोई चर्चा नहीं की गई है, किन्तु श्वेताम्बर—परम्परा के उत्तराध्ययनसूत्र के पाँचवें अध्याय में बालमरण, बालपण्डितमरण और पण्डितमरण—ऐसे तीन भेदों की चर्चा मिलती है,⁵ साथ ही समवायांगसूत्र में भगवती—आराधना के समान ही मरण के 17 भेदों की चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त, भगवती—आराधना में पण्डितमरण के तीन भेदों—भक्तपरिज्ञामरण, इंगिनीमरण और पादपोगमनमरण की चर्चा है।⁶ यह चर्चा श्वेताम्बर—परम्परा आचारांगसूत्र⁷ के आठवें विमोक्ष नामक अध्ययन में भी मिलती है और श्वेताम्बर—परम्परा के अनेक परवर्ती ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख हुआ है। यद्यपि आराधना—पताका के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य— इस प्रकार की तीन संलेखनाओं की स्पष्ट चर्चा भगवती—आराधना में न होते हुए भी भगवती—आराधना में काल की अपेक्षा से आराधना—पताका के समान ही संलेखना का उत्कृष्ट काल 12 वर्ष माना गया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जो उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य काल की चर्चा आराधना—पताका में है, वैसी ही चर्चा भगवती—आराधना की गाथा 254, 255, 256 में भी है।⁸

¹ एवं सरीरसल्लेहणाविहिं बहुविहा व फासंतो।

अज्झवसाण सिवुद्धिं खणमवि खवओ न मुचेज्ज।। भगवतीआराधना— 258.

² अज्झवसाणविसुद्धि कसायकलुसीकदस्स णत्थित्ति।

अज्झवसाणसिवुद्धि कसायसल्लेहणा भणिदा।। भगवतीआराधना— 261.

³ मरणाणि सत्तरस दोसिदाणि तित्थंकरेहि जिणवयणे।

तत्थ वि य पंच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि।। भगवतीआराधना— 25.

⁴ समवायांग, समवाय — 17 गाथा

⁵ उत्तराध्ययन — 5 गाथा

⁶ भगवती—आराधना — पृ. — 28 गाथा

⁷ आचारांग सूत्र प्रथम श्रुतस्कंध — अध्ययन— 8 — विमोक्ष.

⁸ 1- उक्कस्सएण भत्तपइण्णाकालो जिणेहिं णिदिट्ठो।

कालमि संपहुते बारसवरिसाणि पुण्णाणि।। भगवतीआराधना—' 254.

2— जोगेहिं विचित्तेहिं दु खवेइ, संवच्छराणि चत्तारि।

वियडी णिज्जूहिंत्ता चत्तारि पुणो वि सोसेदि।। वही गाथा— 255

3— आयंबिलणिवियीहिं दोण्णि आयबिलेख एक्कं च।

अद्ध णादिविगट्ठेहिं अदो अद्धं विगट्ठेहिं।। वही गाथा— 256.

आराधना—पताका में द्वितीय परीक्षा—द्वार, तृतीय निर्यापक—द्वार, चतुर्थ योग्यता—द्वार और पंचम गीतार्थ—द्वार में जो विवेचन उपलब्ध होता है, वह विवेचन हमें भगवती—आराधना में भी मिलता है। उसमें गणत्याग, गीतार्थ की खोज, क्षपक की परीक्षा, निर्यापक का स्वरूप आदि की चर्चा है। ये भगवती—आराधना और आराधना—पताका में समान रूप से देखी जाती हैं। आराधना—पताका के उन्तीसवें अनुशिष्टि—द्वार के सोलहवें प्रतिद्वार में बारह भावनाओं का उल्लेख हुआ है।¹ भगवती—आराधना में भी न केवल बारह भावनाओं का नामोल्लेख किया गया है, बल्कि गाथा क्रमांक 1710 में इन बारह भावनाओं का नामोल्लेख संक्षेप में किया गया है, किन्तु गाथा क्रमांक 1711 से लेकर 1862 तक लगभग 151 गाथाओं में इन बारह भावनाओं का विस्तार से वर्णन मिलता है,² जबकि आराधना—पताका में बारह भावनाओं का यह विवेचन गाथा क्रमांक 729 से लेकर 744 तक मात्र सोलह गाथाओं में किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवती—आराधना में जो विषय विस्तार से है, वह मूल आधारभूत अवधारणाओं को लेकर नहीं है, अपितु उनके विस्तृत विवेचन को लेकर ही है।

भगवती—आराधना में समाधिमरण की यह चर्चा दर्शन, ज्ञान और चारित्र—तप को लेकर की गई है। इन चारों का उल्लेख तो आराधना—पताका में है, फिर भी विस्तृत चर्चा नहीं है। आराधना—पताका में इनकी चर्चा आलोचना—द्वार में ज्ञानाचारालोचना, दर्शनाचारालोचना, चारित्राचारालोचना, तपाचारालोचना, वीर्याचारालोचना के रूप में मिलती है। यहाँ भी यह स्पष्ट है कि जहाँ भगवती—आराधना में ज्ञान, दर्शन और चारित्र—तप की चर्चा हुई है, वहीं आराधना—पताका में ज्ञान, दर्शन और चारित्र—तप के साथ—साथ वीर्याचार की भी चर्चा की गई है। यह ज्ञातव्य है कि परवर्तीकाल में यह वीर्याचार की चर्चा गौण हो गई है और आगे चलकर तप का भी अन्तर्भाव चारित्र में कर लिया गया। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि यह समग्र विवेचन भी भगवती—आराधना में आराधना—पताका की अपेक्षा विस्तृत ही है।

समाधिमरण की साधना में निर्यापक, अर्थात् सहयोगियों का विशेष महत्व होता है। निर्यापकों की संख्या को लेकर आराधना—पताका और भगवती—आराधना—दोनों में समानता पाई जाती है। आराधना—पताका के तीसरे निर्यापक—द्वार में निर्यापकों की संख्या और उनके कार्य आदि का लगभग 14 गाथाओं में विस्तार से विवेचन हुआ है। भगवती—आराधना में भी निर्यापकों के स्वरूप, उनकी संख्या, उनके कार्य, सेवा के हेतु उनकी तत्परता आदि की चर्चा गाथा क्रमांक 645 से लेकर 678 तक, लगभग 32 गाथाओं में निर्यापकों की यह विवेचना है। निर्यापकों की संख्या को लेकर दोनों में एक मत से यह स्वीकार किया गया है कि अधिकतम निर्यापक 48 हो सकते हैं, लेकिन कम से कम दो निर्यापक तो होना जरूरी है।³ यद्यपि एक निर्यापक के होने पर अनेक प्रकार की

¹ आराधनापताका - 29/16/729-742.

² आराधनापताका - गाथा- 1711-1862.

³ जो जारिसओ कालो, भरहेवएसु होइ वासेसु।

ते तारिसया तइया अडयालीसं तु निज्जवगा।।

एए उक्कसोणं परिहाणीए जहन्तओ दोन्नि।

एगो परिन्निपासे, बीओ पाणाइ गच्छिज्जा।।

एक्कम्मि उ निज्जवए विराहणा होइ कज्जहाणी य।

ओ सेहा वि य चत्ता पावयणं चव उड्डाहो।। - आराधनापताका 39-41

जो कठिनाइयाँ आती हैं, उसकी चर्चा भगवती-आराधना की गाथा 672 और 673 में की गई है।¹ यही चर्चा आराधना-पताका की गाथा क्रमांक 40 और 41 में भी है। चार-चार निर्यापक किस-किस प्रकार कार्य करते हैं, इस प्रकार की चर्चा भी भगवती-आराधना और आराधना-पताका में समान रूप से मिलती हैं। दोनों ग्रन्थों में निर्यापक की खोज के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि बारह वर्ष तक सात सौ योजन क्षेत्र में योग्य निर्यापकों की खोज करता रहे। भगवती-आराधना और आराधना-पताका- दोनों ही इस सन्दर्भ में एकमत हैं। निर्यापक के गुणों को लेकर भी दोनों में समान रूप से ही चर्चा की गई है। इसी प्रकार, गीतार्थ की चर्चा भी भगवती-आराधना और आराधना-पताका में समान रूप से मिलती है। भगवती-आराधना में तो यहाँ तक कहा गया है कि गीतार्थ सुयोग्य आचार्य की खोज करते हुए यदि मार्ग में भी क्षपक का देहपात हो जाता है, तो वह आराधक की कोटि में ही माना जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विषय-विवेचना की अपेक्षा से भगवती-आराधना और आराधना-पताका में बहुत कुछ साम्य देखा जा सकता है। पंचमहाव्रत, षट् आवश्यक, 12 प्रकार के तप आदि की चर्चा दोनों में समान रूप से मिलती है। पंचमहाव्रत और उनकी पच्चीस भावनाओं की चर्चा भगवती-आराधना और आराधना-पताका में समान रूप से पाई जाती है। भगवती-आराधना में भी छठवें रात्रिभोजन का त्याग का उल्लेख भी समान रूप से पाया जाता है और उसे पंचमहाव्रतों के पालन में सहायक रूप से माना गया है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि दोनों ग्रन्थों में विषय-साम्य तो पर्याप्त मात्रा में है। दोनों ग्रन्थों में क्षामणा-द्वार भी समान रूप से ही पाया जाता है। विशेष रूप से एक अन्तर जो हमें ज्ञात होता है, वह यह है कि आराधना-पताका में विजहणा-द्वार की कोई चर्चा देखने में नहीं आई, जबकि भगवती-आराधना में विजहणा की विधि की भी विस्तार से चर्चा उपलब्ध होती है। इस विधि की चर्चा प्राचीनाचार्यकृत आराधना-पताका में तो नहीं है, किन्तु उसके पूर्ववर्ती मरणविभक्ति, मरणसमाधि आदि में मिल जाती है। साथ ही संबेगरंगशाला में भी इस विधि की चर्चा विस्तार से हुई है।² यद्यपि तुलनात्मक-अध्ययन के अभाव में इस विधि की चर्चा करते हुए अनुवाद में दिग्म्बर विद्वानों में कहीं-कहीं अस्पष्टता देखी जाती है, किन्तु जब हम श्वेताम्बर-परम्परा के संलेखना सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थों से उसकी तुलना करते हैं, तो स्पष्ट रूप से उसका बोध हो जाता है।

इसी प्रकार, प्राचीनाचार्यकृत आराधना-पताका में क्षपक-श्रेणी- आरोहण के क्रम आदि में भी कहीं भी गुणस्थानों की कोई चर्चा नहीं की गई है, किन्तु भगवती-आराधना की गाथा संख्या 2087 से लेकर 2098 तक गुणस्थानों की और उनके क्रमिक आरोहण की चर्चा मिलती है, जबकि आराधना-पताका में ऐसी कोई चर्चा नहीं है। इसी आधार पर डॉ. सागरमल जैन ने भगवती-आराधना को प्राचीनाचार्यकृत इस आराधना-पताका से किञ्चित् परवर्ती माना है। यदि हम भगवती-आराधना को आराधना-पताका से किञ्चित् पूर्ववर्ती सिद्ध करना चाहते हैं, तो हमें इतना तो अवश्य मानना होगा कि भगवती-आराधना की ये अंतिम गाथाएँ बाद में प्रक्षिप्त हुईं।

भगवती-आराधना और आराधना-पताका की विषय-वस्तु की इस तुलनात्मक-चर्चा के पश्चात् दोनों ग्रन्थों की गाथाओं का भी तुलनात्मक-अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है। इस

¹ गिज्जावयाा य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा ।

एक्को गिज्जावयओ ण होइ कइया विजिणसुत्ते ।। भगवतीआराधना- 672.

² संबेगरंगशाला - गाथा, 9796, 9812 से 9818

तुलनात्मक अध्ययन में मैंने यह पाया है कि प्राचीनाचार्यकृत इस आराधना—पताका की अनेक गाथाएँ आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, चन्द्रवेध्यक, आवश्यकनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, निशीथभाष्य आदि पूर्ववर्ती एवं समकालीन ग्रन्थों में तथा प्रवचनसारोद्धार, संवेगरंगशाला तथा वीरभद्रकृत आराधना—पताका में भी समान रूप से पाई जाती है, किन्तु हमने इस तुलना में यह पाया कि प्राचीनाचार्यकृत आराधना—पताका की सर्वाधिक गाथाएँ भगवती—आराधना में यथावत् मिलती हैं। इससे ऐसा लगता है कि भगवती—आराधना के शिवार्य प्राचीनाचार्यकृत आराधना—पताका से विशेष रूप से परिचित थे। नीचे, हम दोनों ग्रन्थों की गाथाओं का तुलनात्मक—विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं—

- 1— खवयस्स इच्छसंपायणेण, देहपरिकम्म करणेण ।
अन्नेहिं वा उवाएहिं सो, समाहिं कुणइ तस्स ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 60)

खवयस्स इच्छसंपादणेण, देहपडिकम्म करणेण ।
अण्णेहिं वा उवाएहिं, सो हु समाहिं कुणइ तस्स ॥

(भगवती—आराधना, गाथा 449)

- 2— संखिता वि य पव (? मु) हे जह वड्डइ वित्थरेण पवहंती ।
उदहिं तेण वरनई तह सीलगुणेहिं वड्डाहिं ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा 117)

संखिता वि य पवहे जह वच्चई वित्थरेण वड्डंती ।
उदधिं तेण वरणदी तह सीलगुणेहिं बुड्डाहिं ॥

(भगवती—आराधना, गाथा, 287)

- 3— जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोएज्जा माया—मयविप्पमुक्को य ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा, 172)

जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं व उज्जुयं भणइ ।
तह आलाचेदव्वं मायामोसं च मोत्तूण ॥

(भगवती—आराधना, गाथा, 549)

- 4— सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदिय संवुडो तिगुत्तो य ।
भवइ य एगगमणो विण्णएण समाहिओ भिक्खू ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका, गाथा, 591)

सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदिय संवुडो तिगुत्तो य ।
हवदि य एयगमणो विण्णएण समाहिदो भिक्खू ॥

(भगवती—आराधना, गाथा, 6)

- 5— सज्जायभावणाए य भाविया हुन्ति सव्वगुत्तिओ ।
गुत्तीहि भावियाहि य मरणे आराहओ होइ ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 593)
सज्जाय भावणाए य भविदा होंति सव्व गुत्तिओ ।
गुत्तीहिं भाविदाहि य मरणे आराधओ होदि ॥
(भगवती—आराधना, गाथा, 12)
- 6— अजसमणत्थं दुक्खं इह लोए, दुग्गई य परलोए ।
संसारं च अपारं न मुणइ, विसयाऽऽमिसे गिद्धो ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 620)
अजसमणत्थं दुक्खं इहलोए, दुग्गदी य परलोए ।
संसारं च अणंतं न मुणदि, विसयामिसे गिद्धो ॥
(भगवती—आराधना, गाथा, 906)
- 7— सव्वे वि कोहदोसा माणवसायस्स हुंति नायव्वा ।
माणेण चेव मेहुण—हिंसा—डलिय—चुज्जमायरइ ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 658)
सव्वे वि कोहदोसा माणकसायस्स होंति णादव्वा ।
माणेण चेव मिधुणं हिंसालियचोज्जमाचरदि ॥
(भगवती—आराधना, गाथा, 1379)
- 8— सयणस्स जणस्स पिओ नरो अमाणी सया हवइ लोए ।
णाणं जसं च अत्थं लभइ सकज्जं च साहेइ ॥
(प्राचीनाचार्य विरचित आराधना—पताका, गाथा, 659)
सयणस्स जणस्स पिऊ णरो अमाणी सदा हवदि लोए ।
णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि ॥
(भगवती—आराधना, गाथा, 1380)
- 9— इह य परत्तय तवसा अइसय पूयाओ लभइ सुकएण ।
आकंपिज्जंति तहा देवा वि सइदया तवसा ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 694)
इह य परत्त य लोए अदिसय पूयाउ लहइ सुतवेण ।
आयपियंति वि तहा देवा वि सइदया तवसा ॥
(भगवती—आराधना, गाथा, 1458)
- 10— किं जंपिएण बहुणा ? देवा हु सइदया वि मम विग्घं ।
तुब्भं पाओवग्गह गुणेण काउं न तरिहंति ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 756)
किं जंपिएण बहुणा देवा वि सइदया महं विग्घं ।
तुह्य पादेवग्गह गुणेण कादुं न अरिहंति ॥
(भगवती—आराधना, गाथा, 1486)

- 11— किं पुण छुहा व तण्हा परीसहा वाइयाइ रोगा वा ।
 काहिति ज्ञाणविग्घं ? इंदिय विसया कसाया वा ? ॥
 (प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका, गाथा, 757)
 किं पुण छुहा व तण्हा परिसम्मो वादियादिरोगा वा ।
 काहिति ज्ञाणविग्घं इंदियविसया कसाया वा ॥
 (भगवती—आराधना, गाथा, 1487)
- 12— तो तस्स तिगिच्छाजाणगेण खवयस्स सब्वसत्तीए ।
 विज्जाऽऽएसेण व से पडिकम्मं होइ कायव्वं ॥
 (प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 763)
 तो तस्स तिगिच्छाजाणएण खवयस्स सब्वसत्तीए ।
 विज्जादेसवसेण य पडिकम्मं होइ कायव्वं ॥
 (भगवती—आराधना, गाथा, 1497)
- 13— को सि तुमं ? किं नामो ? कत्थाऽसी ? को वा संपईकालो ?
 किं कुणसि तुमं ? किह वा अच्छसि ? किं नाम को वा हं ॥
 (प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 767)
 को सि तुमं ? किं नामो ? कत्थ वससि ? को वा संपदीकालो ।
 किं कुणसि तुमं कह व लच्छसि किं नाम को वा हं ? ॥
 (भगवती—आराधना, गाथा, 1505)
- 14— एवं सारिज्जंतो कोई कम्मवसमेण लहइ सइं ।
 को वि हु न लभिज्ज सइं तिव्वे कम्मं उइन्नम्मि ॥
 (प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 769)
 एवं सारिज्जंतो कोई कम्मवसमेण लभदि सदिं ।
 तह य ण लभिज्ज सदिं कोई कम्मे उदिण्णम्मि ॥
 (भगवती—आराधना, गाथा, 1507)
- 15— गाढटपहार संताविया वि सूरा रणे अरिसमक्खं ।
 न मुहं भंजंति सयं, मरंति भिउडीमुहा चेव ॥
 (प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 778)
 गाढटपहासंता विंदा वि सूरे अरिसमक्खं ।
 ण मुहं भंजंति सयं मरंति भिउडीमुहा चेव ॥
 (भगवती—आराधना, गाथा, 1526)
- 16— जं कूडसामलीए दुक्खं पत्तोसि जं च सूलम्मि ।
 जं असिपत्तवणम्मी जं च कयं गिद्ध—ककेहिं ॥
 (प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 848)
 जं कूडसामलीहि य दुक्खं पत्तो सि जं च सूलम्मि ।
 जं असिपत्तवणम्मि य जं जं च कयं गिद्ध ककेहिं ॥
 (भगवती—आराधना, गाथा, 1567)

- 17— तण्हा अणंतखुत्तो संसारे तारिसी तुमं आसी ।
जं पसमेउं सव्वादहीणमुदयं न तीरिज्जा ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 879)
तण्हा अणंतखुत्तो संसारे तारिसी तुमं आसी ।
जं पसमेदुं सववो दधीणमुदयं वि न तीरेज्ज ॥
(भगवती—आराधना, गाथा, 1605)
- 18— आसी अणंतखुत्तो संसारे ते छुहा वि तारिसिया ।
जं पसमेउं सव्वो पुग्गलकाओ वि न तरिज्जा ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 880)
आसी अणंतखुत्तो संसारे ते छुआ वि तारिसिया ।
जं पसमेदुं सव्वो पुग्गलकाऊ वि न तीरिज्ज ॥
(भगवती—आराधना, गाथा, 1606)
- 19— जइ तारिसिया तण्हा छुहा य अवसेण सा तए सोढा ।
धम्मो ति इमा सवसेण कहं सोदुं न तीरिज्ज ? ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 881)
जइ तारिसिया तण्हा छुहा य अवसेण ते तदा सोढा ।
धम्मु ति इमा सवसेण कहं सोदुं न तीरिज्ज ॥
(भगवती—आराधना, गाथा, 1607)
- 20— सुइपाणएण अणुसिट्ठिभोयणेण य उवग्गहीएण ।
झाणोसहेण तिव्वा वि वेयणा तीरए सहिउं ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 882)
सुइपाणएण अणुसिट्ठिभोयणेण य पुणो वगहिएण ।
झाणोसहेण तिव्वा वि वेदना तीर दे सहिदुं ॥
(भगवती—आराधना, गाथा, 1608)
- 21— इय ज्ञायंतो खवओ जइया परिहीणवायिओ होज्जा ।
आराधणाए तइया इमाणि लिंगाणी दंसेई ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 910)
इय ज्ञायंतो खवऊ जइया परिहीणवायिऊ होई ।
आराधणाइं तइया इमाणि लिंगाणी दंसइ ॥
(भगवती—आराधना, गाथा, 1901)
- 22— तेलोक्कसव्वसारं चउगइ संसार दुक्खनासणयं ।
आराहणं पवन्नो सो भयवं मुक्ख सोक्खत्थी ॥
(प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 914)
तेलोक्कसव्वसारं चउगइसंसारदुक्खणासयरं ।
आराहणं पण्णो सो भयवं मुक्खपडिमुल्लं ॥
(भगवती—आराधना, गाथा, 1923)

23— किं जंपिण बहुणा ? जो सारो केवलस्स लोयस्स ।
तं अचिरेण लहंती फासिताऽऽराहणं सयलं ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 919)

किं जंपिण बहुणा ? जो सारो केवलस्स लोयस्स ।
तं अचिरेण लहंते फासित्तराहणं णिहिलं ॥

(भगवती—आराधना, गाथा, 1939)

आंशिक भिन्नता

1— किं पुण अणगारसहायगेण अन्नोन्न संगंहबलेण ।
परलोइये न सक्का साहेउं अट्पणो अट्ठं ? ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 90)

किं पुण अणयारसहायगेण कीरयंत पडिकम्मो ।
संघे ओलग्गंते आराधेदु ण सक्केज्ज ? ॥

(भगवती—आराधना, गाथा, 1554)

2— जिणवयणमट्पमेयं म्हुं कन्नामयं सुणितेणं ।
सक्का हु साहु मज्झे संसार महोयहिं तरिउं ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 91)

जिणवयणममिद मूढं म्हुं कण्णहुदिं सुणंतेणं ।
सक्का हु साहु मज्झे साहेदुं उत्तमं अट्ठं ॥

(भगवती—आराधना, गाथा, 1555)

3— सयणं मित्तं असयमल्लीणं आवईए महईए ।
पाडेइ चोरियाए अज से दुक्खम्मि य महल्ले ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 614)

सयणं मित्तं आसयमल्लीणं, पि य महल्ले दोसे ।
पाडेदि चोरियाए अयसे दुक्खम्मि य महल्ले ॥

(भगवती—आराधना, गाथा, 865)

4— कामदुहा वरधेणू नरस्स चिंतामणी व होई तवो ।
होइ य तवो सुत्तित्थं सव्वासुह—दोस—मलहरणं ॥

(प्राचीनाचार्य विरचित आराधना—पताका, गाथा, 695)

कामदुहा वरधेणू नरस्स चिंतामणीव्व होई तवो ।
तिलउ व नरस्स तवो माणस्स विहूसणं सुत्तवो ॥

(भगवती—आराधना, गाथा, 1465)

5— कुट्टा—कुट्टिं चुण्णाचुन्निं मोग्गरघणेहिं मुट्टीहिं ।
जं च सि खंडा खंडीकओ तुमं नरयपालेहिं ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 851)

कुट्टाकुट्टिं चुण्णाचुण्णिं मुग्गर सुंढिहत्थेहिं ।

जं विस खंडा खंडी कऊ तुमं जण समुहेण ॥

(भगवती—आराधना, गाथा, 1571)

6— संखिज्जमसंखिज्जं कालं ताइं अवीसमंतेण ।
दुक्खाइं सोढाइं किं पुण अइअट्पकालमिणं ? ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 877)

संखिज्जमसंखिज्ज गुणं वा संसारमणु सरित्तूण ।
दुक्खक्खयं करंते जे सम्मत्तेणणुसरंति ॥

(भगवती—आराधना, गाथा, 55)

7— हुंकारंजलि— भमुहंगलीहिं दिट्ठीहिं करपायारेहिं ।
सिर चालणेण य तहा सन्नं दाएइ सो खवओ ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 911)

हुंकारंजलि—भमुहंगलिहि अच्छीहि वीरमुट्ठीहिं ।
सिर चालणेण य तहा सण्णं दावेइ सो खवऊ ॥

(भगवती—आराधना, गाथा, 1902)

रयणसार

रयणसार दिगम्बर—परम्परा का एक ग्रन्थ है। परम्परा की दृष्टि से यह ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द का माना जाता है, किन्तु विद्वानों में इस सम्बन्ध में मतभेद हैं। इस ग्रन्थ में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र रूप— त्रिरत्नों का वर्णन है। इसकी भी एक गाथा आराधना—पताका में समान रूप से मिलती है—

1— कोहो माणो माया लोहो वि य चउविहं कसायं खु ।
मणवचिकाएण पुणो जोगो, तिवियप्पमिदि जाणे ॥

(रयणसार, गाथा, 49.)

कोहो माणो माया लोभो, चउरो वि हुंति चउभेया ।
अण अप्पच्चक्खाणा पच्चक्खाणा य संजलणा ॥

(प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका, गाथा, 651)

अध्याय - 4

आराधना-पताका में समाधिमरण की अवधारणा एवं प्रक्रिया

समाधिमरण—समाधिमरण शब्द समाधि + मरण— इन दो शब्दों से मिलकर बना है। समाधि का अर्थ है— चित्त या मन की शान्त अवस्था और मरण का अर्थ है— देह का त्याग। मन में उत्पन्न होने वाले राग—द्वेष, मोह, भय, शोक आदि विकारी—भावों को मन से दूर करके अत्यन्त समताभाव से और सहजता के साथ प्राणों का त्याग करना ही समाधिमरण है। महापुराण में कहा गया है कि— “अपने मन के परिणामों एवं चित्त को स्थिर रखना ही समाधि है।”¹

समाधिमरण की साधना में अनुक्रम से कषायों एवं देह को कृश करके देहत्याग किया जाता है। उस अवस्था में व्यक्ति को अपने चित्त को शुभ या शुद्ध परिणामों पर स्थिर रखना ही पड़ता है, अन्यथा मन में विक्षोभ आ सकता है, अथवा मन में राग—द्वेष की भावना उत्पन्न हो सकती है। राग—द्वेष, या कषाय—भाव से युक्त देहत्याग करना समाधिमरण नहीं हो सकता।

समाधिमरण का स्वरूप—जीवन क्या है ? इसे कैसे आनन्दमय बनाया जाए, ताकि मनुष्य सुखों के साधनों का सम्यक् उपभोग कर सके। इसकी शिक्षा देने वाले अनेक ग्रन्थ आज हमारे समक्ष हैं, विभिन्न प्रकार की तकनीक तथा कई प्रकार की सामग्रियों का आविष्कार भी हो रहा है, फिर भी मनुष्य रात—दिन उलझनों में उलझता ही रहता है कि वह कैसे सुखपूर्वक जीवन बिताए ? इस सन्दर्भ में, वह सभी तरह से परिश्रम करता है, किन्तु वह जीवन के उस अन्तिम चरण से अनभिज्ञ रहता है, जिसका नाम मृत्यु है। मानव ने आनन्दपूर्वक जीवन जीने की कला तो सीख ली, लेकिन आनन्दपूर्वक मरण को स्वीकार करने की कला से वह अपरिचित ही रहा है। बहुत कम लोगों ने इस विषय पर चिन्तन किया है कि जीवन को सुखपूर्वक जीने के बाद प्राणों को सुखपूर्वक कैसे छोड़ा जाए ? जिस प्रकार बचपन, जवानी, बुढ़ापा सुखपूर्वक बीता है, वैसे ही मृत्यु भी सुखपूर्वक या आनन्दपूर्वक आनी चाहिए। इस विषय पर व्यक्ति को गहराई से चिन्तन करना चाहिए। जीवन जीने की कला तभी सार्थक होगी, जब मृत्यु की कला भी सीख ली जाए।

मनुष्य जीवनभर आनन्द के क्षणों में जीता है, खाने—पीने, भोग—विलास में, राग—रंग, हंसी—खुशी में समय व्यतीत करता है, चिन्ता, शोक, आपत्ति क्या होती है ? इसका नाम भी नहीं जानता, अर्थात् हर दृष्टि से सुख में ही निःमग्न रहता है, किन्तु जब अंत समय आ जाता है, तब व्यक्ति कांपने लगता है, अशान्त हो जाता है और वह अपने मन में सोचता है कि अब मेरा धन, वैभव, मित्र—परिवार सब छूट जाएंगे। इस प्रकार, पीड़ा का भाव उसके मन में आता है और इसी

¹ (अ) यतसम्यक् परिणामेषु चित्तस्याधनमज्जसा — महापुराण— 21 / 226.

(ब) उत्तराध्ययनसूत्र — 5 / 2

पीड़ा से व्यथित होता हुआ वह संसार से प्रयाण कर जाता है। इस प्रकार, अशान्त चित्त से प्रयाण कर जाना मरण की कला नहीं कही जा सकती, क्योंकि मृत्यु का भय सम्पूर्ण जीवन के आनन्द को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार ओलावृष्टि का तेज प्रहार खेतों की उत्पन्न फसलों को चौपट कर देता है। मृत्यु का भयावह दृश्य हमारे जीवन के सारे आनन्द को मिट्टी में मिला देता है, इसलिए जीवन की कला के साथ-साथ मृत्यु की कला भी सीखना चाहिए। भारतीय-मनीषियों ने जितना जीवन के बारे में चिन्तन किया है, उतना ही मृत्यु के बारे में भी सोचा है। चिन्तन-मनन के बाद उन्होंने इस रहस्य को जान लिया कि मृत्यु के समय हम किस प्रकार हँसते-हँसते देह का त्याग कर सकते हैं। शरीर को त्यागते समय मन में किसी प्रकार का उद्वेग या चिन्ता नहीं होना चाहिए।

जब हमारे वस्त्र जीर्णशीर्ण तथा मलिन हो जाते हैं, तब हम उन वस्त्रों को उतारकर नवीन वस्त्र धारण कर लेते हैं, उसी प्रकार की अनुभूति देहत्याग के समय प्राणी के मन में होना चाहिए। जब जीवन जीने की यह दृष्टि सम्यक् हो जाती है, तब हम मृत्यु की कला को जान लेते हैं। मृत्यु की इस कला को सिखाने का प्रयत्न जैन-मनीषियों ने किया है, जिससे समाधिमरण, संलेखना, संथारा आदि नामों से जाना जाता है।

जैनधर्म मुख्य रूप से त्याग-प्रधान धर्म है। त्याग की प्रमुखता होने के कारण इसमें सांसारिक-सुख व भौतिक-सुख को नगण्य मानकर उनकी उपेक्षा की गई है तथा मानव-जीवन का लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण माना गया है। आगमविदों के अनुसार मोक्ष की अगर प्राप्ति करना है, तो नवीन कर्मबन्ध को रोकना, साथ-ही-साथ पूर्व संचित कर्मों का क्षय भी करना होता है। इन्हें क्रमशः संवर व निर्जरा के द्वारा क्षीण किया जाता है।

आत्म-साधना के लिए ज्ञानियों ने चतुर्विध-मार्ग का प्रतिपादन किया है, जिसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप का वर्णन किया गया है। कहा गया है कि ज्ञान के द्वारा हेय उपादेय को जानना चाहिए। चारित्र के द्वारा नवीन कर्मों का निग्रह करना चाहिए। तप-संयम के द्वारा व्यक्ति पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करके सर्व दुःखों का अन्त कर देता है, अर्थात् निर्वाण या मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

निर्ग्रन्थ-परम्परा की कठोर तप-साधना प्रसिद्ध है। एक बार भगवान् बुद्ध ने कुछ निर्ग्रन्थों को उग्र तपश्चर्या करते देखा, तो उन्होंने उनसे पूछा कि तुम यह कठोर तप क्यों कर रहे हो ? निर्ग्रन्थों ने उत्तर दिया कि हम पूर्वकर्मों या पापों का प्रक्षालन करने के लिए कठोर तप कर रहे हैं।¹ इस तप-प्रक्रिया का विस्तार से विवेचन उत्तराध्ययनसूत्र के तपोमार्ग नामक अध्ययन में किया गया है।² इसमें बारह प्रकार के तपों का विवेचन मिलता है, जिनमें छः आंतरिक एवं छः बाह्यतप हैं।³ बाह्यतपों में अनशन का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें अनशन के दो रूप हैं— 1. इत्थिरकालिक, अर्थात् निश्चित समय के लिए और 2. यावत्कथित, अर्थात् जीवन-पर्यन्त के लिए। जीवन-पर्यन्त अनशन को समाधिमरण की प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग माना गया है।⁴ इससे ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि समाधिमरण केवल बाह्यतप है। यद्यपि यह बाह्यतप का एक अंग

¹ उत्तराध्ययन - 28/35, 30/1, 5.

² उत्तराध्ययन - अध्ययन 30.

³ उत्तराध्ययन - 30/7.

⁴ उत्तराध्ययन - 30/9-10.

⁵ उत्तराध्ययन -

तो है, किन्तु इसके साथ कषाय-त्याग के रूप में आंतरिक-तप है, क्योंकि समाधिमरण की प्रक्रिया में अनशन के द्वारा जहाँ देह के कृशीकरण की प्रक्रिया अपनाई जाती है, वहीं ध्यान आदि की साधना के द्वारा चतुर्विध-कषायों को क्षीण करने की प्रक्रिया भी अपनाई जाती है।

समाधिमरण की प्रक्रिया न केवल शरीर-त्याग की प्रक्रिया है, बल्कि कषाय-त्याग की भी प्रक्रिया है। इसमें आत्मनिरीक्षण एवं चित्त की शुद्धि की ही प्रमुखता है। जैन-परम्परा में समाधिमरण की साधना को मुख्य रूप में देह के प्रति मोह का त्याग एवं देह के प्रति जो आसक्ति है, उससे ऊपर उठने के साथ-ही-साथ आत्मशोधन या आत्मानुभूति की प्राप्ति माना गया है। यह मरणकाल में उपस्थित होने वाली बाधाओं से साधक को दूर रखती है, जिससे कि साधक के मन में आकुलता-व्याकुलता का भाव उत्पन्न नहीं होता। यह चेतना के अन्तर्मुखीकरण की प्रक्रिया है, जो व्यक्ति में समत्व का भाव जगाती है, जिससे वह जीवन और मृत्यु-दोनों ही परिस्थितियों में 'सम' बना रहता है। वह मृत्यु को भी जीवन की तरह ही एक आवश्यक प्रक्रिया समझता है। यही कारण है कि समाधिकरण को मृत्युबोध के रूप में जाना जाता है।

जैनधर्म में श्रमण-साधकों एवं गृहस्थ-उपासकों-दोनों के लिए समाधिमरण ग्रहण करने के निर्देश मिलते हैं। जैन-आगमों में समाधिमरण ग्रहण करने के अनेकों सन्दर्भ हैं। अन्तकृतदशांग एवं अणुत्तरोपपातिक में ऐसे अनेक श्रमण-साधकों और उपासकदशांग में ऐसे गृहस्थों की जीवन-गाथाएँ मिलती हैं, जिन्होंने जीवन के अन्तिम समय में समाधिमरण ग्रहण किया है।¹

उत्तराध्ययनसूत्र के पाँचवें अध्याय में समाधिमरण को पण्डितमरण अथवा सकाममरण भी कहा है। पण्डितमरण ज्ञानीजनों का मरण है। ज्ञानी पुरुष मृत्यु उपस्थित होने पर आसक्ति से परे होकर इस पण्डितमरण का वरण करते हैं। वे अनासक्त-निर्लिप्त रहते हैं, अतः देहत्याग में भी आवेकल रहते हैं। जो व्यक्ति मृत्यु से भागता है, उससे डरता है, वह सच्चे अर्थ में अनासक्त-जीवन जीने की कला से भी अनभिज्ञ है। अनासक्तभाव से मृत्युवरण करने की कला को समाधिमरण कहा जाता है।

आहार, उपधि आदि को व्यक्ति देह की रक्षा के लिए ही धारण करता है, क्योंकि शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाए रखने के लिए आहारा आवश्यक है। सर्दी-गर्मी आदि से शरीर को बचाने के लिए वस्त्र, उपकरण आदि का प्रयोग उपधि कहलाता है, लेकिन यहाँ तो जिस देह के रक्षण के लिए आहार, उपधि को ग्रहण किया जाता है, उसी को त्यागने की बात कही जा रही है, अतः समाधिमरण की भावना एक बहुत ही उदात्त भावना की परिचायक मानी जा सकती है। तीनों ही योगों से आहार-उपधि और देह के त्याग का भाव होना चाहिए, क्योंकि व्यक्ति अगर वचन और काय से देहत्याग की बात करता है और मन से नहीं करता है, तो उसका यह देहत्याग समाधिमरण न होकर एक तरह से आत्महत्या ही कहलाएगी, जबकि समाधिमरण आत्महत्या नहीं है। सामान्य रूप से हर प्राणी इस संसार में राग-द्वेष से ग्रसित रहता है, वह देह के प्रति मोहभाव रखता है। फलतः, वह नाना प्रकार के दुःखों को सहता है, क्योंकि देह के प्रति द्वेषभाव होने से वह समभाव को प्राप्त नहीं कर पाता है। वह अपने प्रियजनों की मृत्यु एवं स्वयं की मृत्यु की सम्भावना से सदैव भयभीत रहता है। लेकिन जो ज्ञानी ऐसा नहीं समझते हैं, उनके अनुसार तो मृत्यु ज़ीर्ण-शीर्ण शरीररूपी पिंजरे से आत्मा का छुटकारा दिलाती है, अतः यह तो कल्याणकारी मित्र है। ऐसी आकांक्षा-रहित मृत्यु को मृत्यु-महोत्सव (समाधिमरण) कहा गया है।

¹ नोट - इन तीनों ग्रन्थों में उन्हीं श्रमण एवं गृहस्थ साधकों का उल्लेख है, जिन्होंने समाधिमरण किया था।

मृत्यु अवश्यम्भावी है, इससे बचा नहीं जा सकता है, अतः तप, संयम, समाधि आदि से जीवन को लाभान्वित करना चाहिए। तप, संयम आदि क्रियाओं का अनुष्ठान करते हुए जो शान्तिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त करता है, वही समाधिमरण को प्राप्त करता है। महर्षि मृगापुत्र ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य एवं तप आदि शुद्ध भावनाओं के द्वारा श्रामण्य-धर्म का पालन करते हुए इस अनुत्तरसिद्धि को प्राप्त किया था।¹

समाधिमरण ग्रहण करने वाला व्यक्ति मृत्यु से घबराता नहीं है। मृत्यु का समय जब निकट होता है, तब वह प्रसन्नचित्त होकर यह कह उठता है— "अहिंसा, सत्य, क्षमा, संतोष की धर्म-साधना के मार्ग पर मैं एक साधक के रूप में चला हूँ और मानव-जीवन के इस स्वर्णिम अवसर का मैंने पूरा-पूरा लाभ उठाया है। आत्म-साधना के नाम पर बहुत कुछ कर लिया है। अब शेष कार्य आगे सम्पन्न करूँगा। जीवनकाल का तो हमने पूरा-पूरा लाभ उठाया है। जीवन के अन्तिम क्षणों में भी झुकेंगे नहीं। हे मृत्यु ! तेरा स्वागत है, तू मेरे इस अनित्य देह को अपने साथ ले जा और मेरी अमर आत्मा को इससे मुक्त कर दे।" यहाँ व्यक्ति का यह मनोभाव उसकी ज्ञान-भावना तथा मृत्यु और जीवन के प्रति तटस्थता के भाव प्रदर्शित कर रहा है। एकरूपता की यह भावना ही समाधिमरण है।

समाधिमरण लेने वाले क्षपक की योग्यता का निर्धारण

समाधिमरण जैनधर्म में वर्णित समस्त तपों में श्रेष्ठतम और कठिन तप है। समाधिमरण के इस व्रत को हर व्यक्ति ग्रहण नहीं कर सकता। यह देहासक्ति से मुक्त होने की कठोरतम साधना है। आत्मबल मजबूत होने पर ही व्यक्ति इस दुस्सह मार्ग पर मुस्तैदी से कदम बढ़ा सकता है। इसके लिए कुछ योग्यताएँ निर्धारित की गई हैं। जिनमें निम्न योग्यताएँ रहती हैं, वे ही महान् आत्माएँ समाधिमरण ग्रहण कर सकती हैं।

समाधिमरण की आराधना करने वाले साधक की योग्यता का परीक्षण करने के कुछ निर्देश प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका के द्वितीय परीक्षाद्वार में वर्णित हैं। उसमें कहा गया है कि गुरु को समाधिमरण के इच्छुक साधक की संसार-सागर से पार जाने की क्षमता का परीक्षण करके ही उसे समाधिमरण करवाना चाहिए। जिस साधक में संसार-सागर से पार होना की इच्छा न हो, जो मृत्यु से भयभीत हो और जिसके मन में शरीर और इन्द्रिय-भोगों की आसक्ति रही हुई हो, उसे समाधिमरण के योग्य नहीं मानना चाहिए, अतः समाधिमरण के इच्छुक साधक का परीक्षण आवश्यक है।²

इसी क्रम में, प्रस्तुत कृति के योग्यता-द्वार में यह भी बताया गया है कि समाधिमरण के इच्छुक साधक में क्या-क्या योग्यताएँ होना चाहिए। उन योग्यताओं का निर्देश निम्न रूप में है³—

जो निर्वाण-सुख चाहता हो, जो विषय-विकारों का त्यागी हो, पारिवारिक-परिजनों से निर्मोही हो, अनेक प्रकार के तप द्वारा शरीर को तपाने वाला हो, इहलोक और परलोक की आकांक्षा

¹ उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन 19

² तह संलिहियतणुस्स वि खवगस्स परिच्छणं तओ गुरुणा।

कायव्वं आराहण महसागर पारगमणत्थं ॥ —आराधनापताका— द्वितीय द्वार— गाथा— 25

³ निब्बाणसुहाभिमुहो विसएसु परम्महो विगयमोहो।

परिचत्तसयणनेहो विविहतवोविहिखवियदेहो ॥ आराधनापताका— द्वार चतुर्थ, गाथा, 44

से रहित हो, शरीर की शुश्रूषा से रहित हो, मरणभय से उपरत और विवेक से युक्त हो, मुक्ति की तीव्र अभिलाषा वाला हो, ऐसा क्षपक मुनि या श्रावक ही समाधिमरण की आराधना के योग्य होता है।¹

इस प्रकार, हम देखते हैं कि प्रस्तुत कृति के अनुसार आराधना करने वाले व्यक्ति को सम्यक्श्रद्धा, (साम्यदर्शन), सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से युक्त होना चाहिए, वही व्यक्ति आराधना के योग्य होता है।

आराधना-पताका के अतिरिक्त जैन-आगमों में भी समाधिमरण ग्रहण करने वाले की योग्यता पर भी प्रकाश डाला गया है, जो निम्न हैं—

उत्तराध्ययनसूत्र में समाधिमरण ग्रहण करने वाले की योग्यता पर बल देते हुए लिखा है कि जो संयमशील हो, जिसने पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली हो, जिसका जीवन चारित्र की सौरभ से महक रहा हो, जो सकाममरण और अकाममरण के स्वरूप का ज्ञाता हो; तथा जिसने मृत्यु की अनिवार्यता को जान लिया हो, जो मृत्यु से भयभीत नहीं होता हो, वही व्यक्ति समाधिमरण ग्रहण करने की योग्यता रखता है।²

मूलाचार के अनुसार सांसारिक-मोहमाया व आकांक्षा से जो रहित हो, जिसने कषायों पर विजय प्राप्त कर ली हो, जिसके जीवन में सम्यग्दर्शन का प्रकाश हो, पाँचों इन्द्रियों को जिसने वश में कर लिया हो, अल्पकषाय वाला एवं संसार के दुःखों को जानकर उन बन्धनों को समझकर उन राग या आसवित्तजन्य बन्धनों से मुक्त रहने वाला व्यक्ति समाधिमरण को अंगीकार कर सकता है।³

'मरणविभक्ति' के अनुसार अपने देह व कषायों को कृश करने वाला व्यक्ति समाधि-भाव ग्रहण करने की योग्यता रखता है, अर्थात् जिस व्यक्ति ने अपनी रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त कर ली और जो साधक विविध प्रकार के तप व अनशन की सहायता से शरीर को भी कृश कर लेता है और जो सम्पूर्ण राग-द्वेष से विरत हो गया हो, वही व्यक्ति समाधिमरण की उपासना में संलग्न हो जाता है।⁴

'उपासकशांग' आगम में समाधिमरण लेने वाले साधकों का वर्णन कथाओं के द्वारा किया गया है। इन कथानकों में मुख्य दस श्रमणोपासक-श्रावकों के जीवन का दिग्दर्शन कराया गया है।⁵ इस ग्रन्थ में आनन्द, कामदेव, चुलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकौलिक, सकडालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता, सालिहिपिता आदि के द्वारा समाधिमरण स्वीकार करने का उल्लेख है। ये श्रावक अनेकों उपासर्ग आने पर भी अपनी उस साधना से विचलित नहीं हुए, तिलभर भी टस से मस न हुए, देवताओं ने उनकी परीक्षा ली, आकाश से जमीन पर डाल दिया, प्रियजनों के शरीर के

¹ इहलोए परलोए निरासओ चत्तकायपडिकम्मो ।

मरणभयं अगणितो संभावियआउपज्जंतो ॥ आराधनापताका— द्वार चतुर्थ— गाथा, 45.

² तेसिं सोच्चा संपुज्जाणं संजयाण वुसीमओ ।

न संतसन्ति मरणन्ते सीलवन्ता बहुस्सुया ॥ उत्तराध्ययन— 5/29.

³ णिम्मो णिरहंकारो णिककसाओ जिदिदिओ धीरो ।

अणिदाणो दिठिसंण्णो मरंतो आराहओ होइ ॥ मूलाचार (पूर्वाद्ध), गाथा 103

⁴ एयं सराग संलेणविहिं जइ जइ जई समायरइ ।

अज्झप्पसंजुयमइ णो पावइ केवलं सुद्धिं ॥ मरणविभक्ति— 187, 189, 199, 176.

⁵ उवासगदसाओ के प्रथम अध्ययन के आधार पर.

खण्ड-खण्ड कर मार देने की धमकी भी दी, परन्तु उन्होंने अपनी समाधि के भाव को बनाए रखा और समतापूर्वक समाधिमरण ग्रहण कर शरीर से ममत्व का त्याग कर देहत्याग किया।

आराधना का सामान्य अर्थ वीतराग परमात्मा के आदेशों के अनुसार उन परमात्मा के वचनों के प्रति श्रद्धाभाव से बनाए हुए जीवन जीने का प्रयत्न करना है। इस सम्बन्ध में 'संवेगरंगशाला' में भी यह कहा गया है कि जिस व्यक्ति में गुणों एवं गुणीजनों के प्रति आदर का भाव हो, जो विनम्र हो तथा जिसके हृदय में आराधक-जीवों के प्रति वात्सल्य का भाव हो, अहोभाव हो, वह व्यक्ति आराधना करने, अर्थात् जिनधर्म के परिपालन के योग्य है।¹

समाधिमरण ग्रहण करने वाले साधक को अपने मन एवं अपनी भावनाओं पर संयम रखते हुए सदाचार-व्रत का जीवन-पर्यन्त पालन करना चाहिए। समाधिमरण ग्रहण करने वाले व्यक्ति का मन वासना से निर्लिप्त होना चाहिए, उसके मन में किसी भी प्रकार का लोभ नहीं होना चाहिए, सांसारिक-भोग, आकांक्षा व आसक्ति का पूर्णतः त्याग कर देना चाहिए, साथ ही समाधिमरण ग्रहण करने वाले साधक को अपने किसी बन्धु-बान्धव, परिवार, इष्टमित्र, पुत्र-पत्नी तथा अन्य स्नेहीजनों के सुख-दुःख से पूरी तरह कमलवत् विलग रहने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसे कमल कीचड़ में पैदा होता है, परन्तु उस कीचड़ में लिप्त नहीं होता, वह उस कीचड़ से उपरत, अर्थात् ऊपर उठ जाता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि साधक संसार में रहते हुए भी आसक्ति के बन्धन में बन्धकर न रहे, उनसे विलग हो जाए, कषायों को अल्प करे तथा इसके लिए विविध प्रकार की तपाराधना में संलग्न रहे।²

डॉ. रज्जनकुमार भी अपनी पुस्तक में लिखते हैं जो व्यक्ति सांसारिक-आकांक्षाओं से मुक्त हो, इन्द्रिय-विजेता हो, राग-द्वेष से अपनी आत्मा को दूर रखने वाला हो तथा जिसका मन क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों से रहित हो, जिसे अपने गृहीत व्रतों के प्रति सजगता व सावधानी हो तथा जो जीवन और मृत्यु-दोनों ही अवस्था में समता-भाव रखता हो, जो साक्षी-भाव में जीता हो, जो ज्ञाता, दृष्टा-भाव में रहता हो, वही व्यक्ति समाधिमरण को ग्रहण करने की योग्यता रखता है।³ समाधिमरण ग्रहण करने वाले व्यक्ति के मन में प्रतिष्ठार्जित करने की इच्छा, अर्थात् लोकैषणा का भाव नहीं होना चाहिए। बहुधा यह देखने में आता है कि व्यक्ति जीवन भर सांसारिक-भोगों एवं वासनाओं, इच्छाओं को पूरा करने में लगा रहता है और जब मृत्युकाल सन्निकट आता है, तो वह यह घोषणा कर देता है कि "मैं समाधिमरण का व्रत अंगीकार कर रहा हूँ," परन्तु इस तरह से समाधिमरण-व्रत ग्रहण करना उचित नहीं है। ऐसे भावावेश में किया गया समाधिमरण वस्तुतः समाधिमरण नहीं है। साधक का मन वासना से शून्य होना चाहिए, भोग की आकांक्षा व आसक्ति का त्यागी होना चाहिए, तभी वह समाधिमरण ग्रहण कर सकता है।⁴

¹ संवेगरंगशाला- गाथा- 810-816.

² समाधिमरण, डॉ. रज्जनकुमार- पृ. - 134.

³ वही - पृ. - 135.

⁴ समाधिमरण - डॉ. रज्जनकुमार - पृ. - 134.

⁵ संवेगरंगशाला - गाथा- 820-821.

⁶ वही- गाथा- 810-816.

⁷ भगवती-आराधना- गाथा- 208, 264.

संवेगरंगशाला में यह भी कहा गया है कि जिसमें अनन्त गुणों से अलंकृत अरिहन्त परमात्मा के प्रति पूजा और सत्कार के भाव हों, देव, गुरु, धर्म के प्रति जिसकी श्रद्धा मजबूत हो, वही व्यक्ति आराधना करने के योग्य होता है। जो व्यक्ति ज्ञानी हो, ज्ञान की ही चर्चा करता रहता हो, जिसके मन में ज्ञानीजनों के प्रति अहोभाव हो, सम्मान-भाव हो, वही व्यक्ति ज्ञान के क्षेत्र में उत्तरोत्तर गति को प्राप्त करता है, वही आराधक बन सकता है, मुनि-जीवन को स्वीकार कर सकता है।¹

आराधक होने के लिए जाति, कुल, वर्ण, पद आदि का कोई बन्धन नहीं है। आराधक तो वही बन सकता है, जो जाति, कुल, वर्ण, पद आदि के अहंकार से ऊपर उठ चुका है। समाधिमरण का इच्छुक जाति के व्यामोह में नहीं फंसता।²

जो व्यक्ति मायाशल्य, निदानशल्य, मिथ्यादर्शनशल्य से मुक्त हो गया है, वही समाधिमरण को धारण कर सकता है। जो क्षमाशील हो, सब जीवों के प्रति मैत्री-कारुण्य का अमृत बरसाता हो, वही व्यक्ति इस समत्वभाव की साधना में अपने जीवन को लगा सकता है, वही समभाव की साधना कर सकता है। 'भगवती-आराधना' के अनुसार चारों प्रकार के कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) को कृश करने वाला व्यक्ति समाधिमरण करने के योग्य है।⁴

समाधिमरण ग्रहण करने के काल का निर्धारण

प्राचीनाचार्यविरचित आराधना-पताका में संलेखना कब ग्रहण की जाना चाहिए, इसके सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं दिया गया है। यद्यपि इस ग्रन्थ में, कौन व्यक्ति संलेखना ग्रहण कर सकता है, इसकी विस्तार से चर्चा की गई है, लेकिन कहीं भी यह नहीं बताया गया है कि संलेखना कब ग्रहण की जा सकती है, किन्तु इसके प्रथम संलेखना-द्वार में संलेखना के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य- ऐसे तीन प्रकार के विधानों का उल्लेख हुआ है। उसमें यह बताया गया है कि उत्कृष्ट संलेखना बारह वर्ष की है, मध्यम संलेखना बारह मास की और जघन्य संलेखना बारह पक्ष की होती है,¹ साथ ही, उसमें यह भी कहा गया है कि संलेखना कराने वाले निर्यापक-आचार्य की खोज भी बारह वर्ष तक की जा सकती है। इससे यह फलित होता है कि सामान्यतया संलेखना वृद्धावस्था में ही ग्रहण की जा सकती है, क्योंकि आगम-साहित्य में एवं संलेखना-सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों में संलेखना ग्रहण करने के लिए वृद्धावस्था को ही उचित काल माना गया है।

इस ग्रन्थ के दूसरे परीक्षा-द्वार में भी यह उल्लेख है कि गुरु क्षपक से पूछे- "तुम्हारी अंगुली कैसे टूटी?" इसी द्वार में क्षपक की कृश काया का भी उल्लेख आया है। इससे यह अनुमान लगता है कि शारीरिक-शक्ति के क्षीण होने पर ही और मृत्यु की निकटता को जानकर ही संलेखना ग्रहण की जाती है।² सामान्य स्वस्थ मुनि को संलेखना ग्रहण करने की कोई अनुमति नहीं थी। जब व्यक्ति का शरीर क्षीण हो जाए, तभी वह संलेखना ग्रहण कर सकता है।

¹ तणुसंलेहा ति विहा उक्कोसा 1 मज्झिमा 2 जहण्णा 3 य।

बारस वासा 1 बारस मासा 2 पक्खा वि बारस उ 3।। - आराधनापताका- द्वार- 1 गाथा- 9.

² अज्जो ! किं संलेहो कओ ? उ न कओ ? ति एवमट्टियम्मि ।

आराधना—पताका के प्रथम, द्वितीय, तृतीय द्वारों के आधार पर हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि संलेखना जीवन की अंतिम अवस्था में ही की जाती थी, यद्यपि उसकी साधना पूर्व से ही प्रारम्भ कर दी जाती थी।

बारह वर्ष की उत्कृष्ट संलेखना का निर्देश भी यही बताता है कि जब क्षपक का शरीर वृद्धावस्था से आकान्त हो जाए और मृत्यु सन्निकट ही प्रतीत होने लगे, तो उसे कषायों और शरीर को कृश करते हुए संलेखना ग्रहण कर लेना चाहिए।

इसके द्वितीय द्वार में यह भी बताया गया है कि संलेखना विधिपूर्वक और कमशः ही की जानी चाहिए। केवल विषम परिस्थितियों को छोड़कर एक साथ चारों आहारों का त्याग कर देना उचित नहीं है। आराधनापताका में कहा गया है कि यदि पूर्व अभ्यास एवं साधना के बिना तात्कालिक विशेष परिस्थिति को छोड़कर संलेखना ग्रहण की जाती है, तो क्षपक के शरीर में व्याधि उत्पन्न होने से उसका समाधिभाव टूट जाएगा, अतः शरीर को कमशः ही क्षीण करते हुए इस स्थिति में पहुंचाना चाहिए कि अंतिम समय में असमाधि—भाव उत्पन्न न हो। चाहे आराधनापताका में समाधिमरण के उचित काल का कोई निर्देश न हो, किन्तु भगवतीसूत्र, औपपातिकसूत्र, आचारांगसूत्र आदि में स्पष्ट रूप से एवं विस्तारपूर्वक यह उल्लेख मिलता है कि व्यक्ति कब और किन परिस्थितियों में, किस प्रकार से समाधिमरण स्वीकार करे।

समाधिमरण वस्तुतः मृत्यु को निमंत्रण देना न होकर निकट आती हुई मृत्यु के स्वागत का ही एक अवसर है। चाहे आराधनापताका में समाधिमरण के उचित काल और विशेष परिस्थिति की चर्चा न हो, किन्तु उसके पूर्ववर्ती आगम—ग्रन्थों में, विशेष रूप से आचारांगसूत्र¹, भगवतीसूत्र², अंतकृतदशासूत्र³, उत्तराध्ययनसूत्र⁴ आदि में उन परिस्थितियों का विस्तृत विवेचन है, जिनमें समाधिमरण स्वीकार किया जा सकता है। अग्रिम पृष्ठों में हम उन्हीं ग्रन्थों के आधार पर समाधिमरण के उचित काल और परिस्थिति की चर्चा करेंगे।

जैनधर्म में समाधिमरण की साधना कठोरतम साधना है। जैन तप—साधना के विविध प्रकारों की पद्धतियों में समाधिमरण का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः समाधिमरण मरण की कला सिखाने वाला है। जैन—आगमों में एवं आगमेत्तर ग्रन्थों में भी समाधिमरण—व्रत ग्रहण करने के योग्य परिस्थितियों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। समाधिमरण को ग्रहण करने के लिए सर्वप्रथम तो व्यक्ति का मनोबल दृढ होना चाहिए। इस व्रत को ग्रहण करना वीरों का काम है। इस व्रत को ग्रहण करने वाला व्यक्ति योग्य परिस्थितियों में ही इसे ग्रहण करता है। समाधिमरण की साधना पर बढ़ने वाले व्यक्ति की मन, वचन, काया की प्रवृत्ति में एकरूपता होकर जब अन्तरात्मा से आवाज आने लगे, जब मन स्वीकार करने लगे कि मृत्यु जीवन के दरवाजे पर उपस्थित होकर दस्तक दे रही है, तब वह अपने मृत्यु—समय को निकटस्थ जानकर समत्व की साधना के लिए समाधिमरण—व्रत ग्रहण करने को उद्यत हो जाए, उपयुक्त समय को जानकर इस व्रत की आराधना में संलग्न हो जाए।

भंतुं अंगुलि दावे, पिच्छह ता, किं कओ ? न कओ ? ॥ — वही— द्वार द्वितीय — गाथा— 26.

¹ आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुत स्कन्ध, अध्ययन 8

² भगवतीसूत्र, (घासीलालजी) पृ. 438, 442

³ अंतकृतदशासूत्र, वर्ग 8 अध्ययन 1, (काली आर्या)

⁴ उत्तराध्ययनसूत्र 5/32

‘भगवती—सूत्र’ में समाधिमरण के लिए उचित अवसर को समझाने के लिए स्कन्दक मुनि का कथानक प्रस्तुत किया गया है, जिसका वर्णन निम्न प्रकार से है¹—

स्कन्दक मुनि विभिन्न प्रकार की आराधना करते हुए एकदम दुर्बल हो गए, मांसरहित हो गए, चलने पर उनके शरीर की हड्डियाँ आपस में टकराने लगीं। हड्डियों के आपस में टकराने से खड़खड़ की आवाज होती थी। वे इतने कृशकाय और दुर्बल हो गए कि उनकी समस्त नाड़ियाँ सामने दिखाई पड़ने लगीं। चलने—फिरने की उनमें शारीरिक—शक्ति नहीं थी। कुछ समय के अनन्तर एक दिन भगवान् महावीर राजगृह पधारे। प्रभु वीर ने अपनी अमृतमय वाणी बरसाई। जिनवाणी श्रवण कर समस्त भक्तजन अपने—अपने घर को लौट गए, लेकिन स्कन्दक मुनि के अन्तर्मन में इस प्रकार विशुद्ध परिणाम उत्पन्न हुए कि उग्र तप के कारण मेरा देह सूख गया, काया कृश हो गई, मैं शारीरिक—बल से अविकल हो गया, अब तो मैं सिर्फ आत्मबल के आधार पर ही गमनागमन कर पाता हूँ, बोलते हुए और बोलने के बाद भी मुझे भयंकर कष्ट होता है, अतः अभी तक मेरा जो भी शारीरिक—बल, उत्थान—कर्मबल, वीर्य—पुरस्कार पराक्रम है और जब तक मेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी यहाँ हैं, मुझे उनसे आज्ञा ग्रहण करके उनकी उपस्थिति में ही विपुलगिरि पर्वत पर डाभ (एक तरह की घास) का संथारा बिछाकर आत्मा को संलेखना को भावित करते हुए अन्न—जल का त्याग कर पादपोषण (समाधिमरण की तीनों कोटियों में से एक) ग्रहण कर मृत्यु की आकांक्षा से विरत होकर मन को स्थिर और शान्त करके मृत्यु के आगमन की प्रतीक्षा करना चाहिए।

वृद्धावस्था एवं शरीर के जीर्ण हो जाने के अतिरिक्त आकस्मिक रूप से मृत्यु उपस्थित होने पर भी समाधिमरण किया जाता है। इसी सन्दर्भ में अन्तकृतदशा में समाधिमरण ग्रहण करने के यथायोग्य अवसर पर प्रकाश डाला गया है। ‘अन्तकृतदशा’ के अनुसार सुदर्शन श्रमणोपासक प्रभु महावीर से मिलने के लिए राजमार्ग से जा रहा था। उस सुदर्शन सेठ को मार्ग में आता हुआ देखकर अर्जुन मालाकार, जिसके शरीर में मुद्गरपाणी यक्ष ने प्रवेश कर रखा था और जो उस यक्ष के वशीभूत बना हुआ था, इस कारण अर्जुन माली छः पुरुष, एक स्त्री की रोज हत्या किया करता था, कृपित एवं रुष्ट होकर लोहे का मुद्गर उठाकर सुदर्शन सेठ पर प्रहार करने को उद्यत हुआ। उस समय मुद्गरपाणि यक्ष को अपनी ओर आते देखकर सुदर्शन सेठ को अपनी मृत्यु की सम्भावना निकट दिखाई दी, फिर भी उसके मन में किंचित् मात्र भी भय, त्रास अथवा उद्वेग उत्पन्न नहीं हुआ। उस सुदर्शन सेठ का हृदय तनिक भी विचलित न हुआ, अथवा भयाक्रान्त नहीं हुआ। उसने निर्भय होकर अपने वस्त्र के अंचल से भूमि का प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन किया। फिर पूर्व दिशा को सम्मुख करके बैठ गया।² इसके बाद वह इस प्रकार बोला— “मैं उन सभी अरिहन्त भगवन्तों को, जिन्होंने अतीत काल में मोक्ष प्राप्त कर लिया है एवं जो धर्ममार्ग की आदि करने वाले हैं, उन्हें वन्दन करता हूँ। मेरे धर्मगुरु तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर को, जो भविष्य में मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं, उनको भी वन्दन—नमस्कार करता हूँ। मैंने पूर्व में परमात्मा प्रभु महावीर के चरणों में स्थूल—हिंसा का प्रत्याख्यान किया था, इसी प्रकार— स्थूल—मृषावाद, स्थूल—अदत्तादान का भी त्याग

¹ भगवती—सूत्र (घासीलालजी १०) — पृ. — 438—442.

² तए णं से मोग्गरपाणी जक्खे सुदंसणं समणोवासयं अदूरसमंतेणं वीईवयमाणं वीईवथमाणं पासइ, पासित्ता आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चंडिकिए मिसिमिसमाणे तं पलसहस्सणिफ्फणं अओमयं मोग्गरं उल्लालेमाणे—उल्लालेमाणे जेणेव सुदंसणे समणोवासए तेणेव पहारेत्थ गमणाए। — अंतकृतदशा (मधुकर मुनि) —तृतीय अध्यायन—षष्ठ वर्ग, पृ. —121

किया था तथा स्वदार-सन्तोष इच्छा-परिणामरूप व्रत यावत् जीवन के लिए अंगीकार किया था। अब उन्हीं प्रभु परमात्मा की साक्षी से सर्वथा-प्राणातिपाता, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और सम्पूर्ण परिग्रह का भी त्याग करता हूँ। मैं सर्वथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशून्य, परपरिवाद, रति, अरति, माया-मृषावाद और मिथ्या-दर्शनशल्य आदि अठारह पापों का भी त्याग करता हूँ। इसी प्रकार से अशन, पान, खादिम और स्वादिम- इन चारों प्रकार के आहार का भी त्याग करता हूँ। यदि मैं इस प्रकार समीपस्थ मृत्यु-उपसर्ग से बच गया, तो मुझे आहारादि ग्रहण की छूट है, किन्तु यदि इस उपसर्ग से मुक्त न हो पाया, तो मुझे इस सबका जीवन-पर्यन्त के लिए त्याग हो।

ऐसा दृढ़ निश्चय करके सुदर्शन ने उपर्युक्त प्रकार से सागारी-प्रतिमा-अनशन-व्रत धारण कर लिया, अर्थात् उन्होंने दृढ़तापूर्वक मन बनाकर सापवाद-समाधिमरण का निश्चय किया।¹

इस प्रकार, समाधिमरण के योग्य अवसर के सम्बन्ध में भगवती-सूत्र और अन्तकृतदशा से जो कथानक लिया गया है, उसमें कुछ अन्तर है। भगवती-सूत्र में जहाँ स्कन्दक आराधना करते हुए काय और कषाय दोनों को क्षीण करके समाधिमरण करता है, वहीं अन्तकृतदशा में सुदर्शन आकस्मिक रूप से मृत्यु का कारण उपस्थित हो जाने पर समाधिमरण का व्रत लेता है। इन दोनों कथानकों से यही निष्कर्ष निकलता है कि जब व्यक्ति का शरीर इतना क्षीण हो जाए कि संयम-साधना के आवश्यक कार्यों के सम्पादन करने में भी कोई कठिनाई होने लगे, अथवा जब अनायास मृत्यु का प्रसंग उपस्थित हो जाए, तो यह अवसर समाधिमरण के लिए उपयुक्त होता है।

'धर्माऽमृत-सागार के अनुसार' बुढ़ापा जब घिरकर आ जाए, मृत्यु निकट दिखाई दे रही हो, कोई ऐसा उपसर्ग आ जाए और व्यक्ति को लगे कि इस उपसर्ग से बच पाना कठिन है, अथवा शरीर में मृत्यु की समीपता के ऐसे कोई चिह्न नजर आने लगे, अर्थात् असाध्य बीमारी आ जाए और निकट भविष्य में मरण का निश्चय होने पर व्यक्ति को समाधिमरण ग्रहण कर लेना चाहिए।² 'श्रावकाचार-संग्रह' के अनुसार, शीघ्रमरण-सूचक शरीर के कुछ विकार या किसी और कारण से शीघ्रमरण की सम्भावना दिखाई देने लगे एवं आयु के नाश की सम्भावना दिखाई देने लगे, तो ऐसे समय में समाधिमरण कर लेना चाहिए।³

'समाधिमरणोत्साह दीपक'⁴ के अनुसार, अचानक आप सोए, रात्रि में आकर सांप काट जाए और इस प्रकार का उपसर्ग आ जाने पर और आपको लगे कि गारुडी के द्वारा मन्त्रोच्चारण करने से मैं बच भी सकता हूँ और नहीं भी, उस समय मरण में संदेह उपस्थित होने पर जो विज्ञ समझदार है, उसे इस प्रकार अनशन ग्रहण करना चाहिए कि यदि इस उपसर्ग आदि से मेरे प्राणों का नाश होता है, तो मेरे जीवन-पर्यन्त चारों प्रकार के आहार का त्याग है। यदि कदाचित् किसी

¹ अन्तकृतदशा - तृतीय अध्ययन, षष्ठ वर्ग - पृ. - 121-122.

² कालेन वोपसर्गेण निश्चत्यायुः क्षयोन्मुखम्।

कृत्वा यथाविधिप्रायः, तास्ताः सफलयेत् क्रियाः।। धर्माऽमृत (सागार) - 8/9.

³ श्रावकाचार-संग्रह (भाग- 2) 8/9, 10 - अनुवादक, पण्डित हीरालाल सिद्धान्तालंकार- श्री जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर।

⁴ समाधिमरणोत्साहदीपक - 19-21.

भी प्रकार से मेरे पुण्य प्रबल हों और इस उपसर्ग से यदि मैं जीवित बच जाऊँ, तो आगम के अनुसार इसका पारणा कर आहार आदि ग्रहण करूंगा।

आचारांग की शीलांक-टीका¹ के अनुसार, समाधिमरण करने के उचित अवसर निम्नलिखित हैं—

1. रुखा-सूखा नीरस भोजन करने से, अथवा तपस्या से शरीर अत्यन्त ग्लान हो गया हो।
2. शरीर आवश्यक-क्रिया करने में अत्यन्त असमर्थ हो गया हो।
3. उठने, बैठने, करवट बदलने आदि नित्य क्रियाएँ करने में शरीर असमर्थ हो गया हो।

इस प्रकार, जब शरीर अत्यन्त ग्लान क्षीण हो जाए, तभी भिक्षु को अपनी परिस्थिति के आधार पर त्रिविध रूप में, अर्थात् भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनीमरण या प्रायोपगमन में से अपनी योग्यता, क्षमता और शारीरिक-शक्ति के अनुसार किसी एक प्रकार के समाधिमरण का चुनाव कर लेना चाहिए।

'आराधना सार' में समाधिमरण के योग्य अवसर पर प्रकाश डालते हुए लिखा गया है² — जब बुढ़ापा घिरकर आ जाए, शरीर में बुढ़ापे के पूर्व लक्षण दिखाई देने लगें, स्पर्श, गन्ध, वर्ण, शब्द को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से विमुख हो जाए, आयुष्यरूपी जल समाप्त होने की स्थिति हो, हड्डियों के जोड़ शिथिल हो जाएं, अर्थात् शरीर इतना कृशकाय हो जाए कि वह स्वयं कांपने लगे आदि अवस्थाएँ ही समाधिमरण के लिए उचित हैं।

'तत्त्वार्थसूत्र की टीका' में पण्डित सुखलाल संघवी ने लिखा है— व्यक्ति को जब अपना अंत समय निकटस्थ जान पड़ता हो तथा वह अपनी धर्म-क्रियाएँ और आवश्यक कर्तव्यों का प्रतिपालन ठीक ढंग से न कर पाए, तो ऐसे व्यक्ति को समाधिमरण ग्रहण कर लेना चाहिए।³

आचार्य तुलसी ने आयारों की अपनी व्याख्या में लिखा है— व्यक्ति को जब अपना शरीर बोझ, अर्थात् भारभूत लगने लगे, वृद्धावस्था, रोग, उपसर्ग आदि के कारण जिन्दगी भारभूत महसूस होने लगे तथा अपनी दैनिक क्रिया-कलापों का सम्पादन ठीक ढंग से नहीं कर पाता हो, तो उस व्यक्ति को समाधिमरण ग्रहण कर लेना चाहिए।⁴

न्यायविद् टी. के. तुकोल के अनुसार— समाधिमरण ग्रहण करने का उचित अवसर जीवन की अंतिम वेला है, अर्थात् मृत्यु के आगमन का समय जब अत्यन्त समीप होता है, उस समय व्यक्ति समाधिमरण कर सकता है।⁵

जैन धर्म-दर्शन के मर्मज्ञ डॉ. सागरमल जैन के अनुसार अनिवार्य मृत्यु के कारण उपस्थित होने पर समाधिमरण किया जा सकता है। मृत्यु के अनिवार्य कारण इस प्रकार हो सकते हैं— अकस्मात् कोई विपत्ति आ जाना, जिससे प्राणरक्षा सम्भव न हो, जैसे आग में घिर जाना, जल में डूबने जैसी स्थिति हो जाना, हिंसक पशु या किसी दुष्ट व्यक्ति के चंगुल में फंस जाना, जिससे

¹ आचारांग शीलांक टीका, पत्रांक 284, आचारांगसूत्र (मधुकर मुनि) - पृ. 279.

² जरवग्धिणी ण चंपई जाव ण वियलाइ हुंति अक्खाई।

बुद्धि जाव ण णासइ आउजलं जाव ण परिगलई।। आराधनासार - 25.

³ तत्त्वार्थसूत्र -- अनुवादक- पण्डित सुखलाल संघवी - पृ.- 183.

⁴ आयारो, आचार्य तुलसी - पृ. - 293.

⁵ Sallekhana is not suicide - page- 6.

बचकर निकलना संभव न हो। इसके अलावा, सामान्य और प्राकृतिक-अवस्थाओं में मृत्यु को सन्निकट जानकर समाधिमरण कर सकता है।¹ ये अवस्थाएँ इस प्रकार हैं— जब व्यक्ति की समस्त इन्द्रियाँ शिथिल हो जाएँ, अपने कार्य को पूरा करने में असमर्थ हो जाएँ, शरीर रूखकर अस्थिपंजर, अर्थात् हड्डियों का ढाँचा-मात्र रह जाए, पचन-पाचन की शक्ति मन्द पड़ जाए, आहार-विहार आदि क्रियाएँ करना मुश्किल हो जाए, इसके कारण साधना या संयम पालन करने में विघ्न-बाधा उपस्थित होने लगे, तब व्यक्ति समाधिमरण ग्रहण कर सकता है।

'मूलाराधना' में संलेखना के अधिकारी का वर्णन करते हुए निम्न छः मुख्य कारण बताए गए हैं² -

1. दुर्चिकित्स्यव्याधि- संयम का परित्याग किए बिना व्याधि का उपचार सम्भव नहीं हो, ऐसी स्थिति समुत्पन्न होने पर।
2. वृद्धावस्था - जो श्रमण-जीवन की साधना करने में बाधक हो।
3. मानव, देव, तिर्यच-सम्बन्धी कठिन उपसर्ग उपस्थित हों, चारित्रविनाश के लिए उपसर्ग दिए जाते हों।
4. भयंकर दुष्काल में शुद्ध भिक्षा प्राप्त होना कठिन हो रहा हो।
5. भयंकर अटवी में दिग्विमूढ होकर पथ-भ्रष्ट हो जाए।
6. देखने, श्रवण करने और पैर से चलने की शक्ति क्षीण हो जाए।

इसी तरह के अन्य कारण भी उपस्थित हो जाने पर साधक अनशन का अधिकारी होता है।

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार- प्रतिकाररहित असाध्य रोग को प्राप्त मारणान्तिक-उपसर्ग, दुर्भिक्ष, रुग्णता की स्थिति में, अथवा अन्य किसी कारण के उपस्थित होने पर निकट भविष्य में मृत्यु के अपरिहार्य बनने पर साधक संलेखना कर सकता है।³

'भगवती-आराधना' में कुछ कथानकों के आधार पर समाधिमरण के उचित अवसर के संदर्भ में प्रकाश डाला गया है। ये कथानक जरा, रोग, वृद्धावस्था आदि के कारण समाधिमरण करने वाले व्यक्तियों के न होकर उन व्यक्तियों के हैं, जिन्होंने किसी बाह्य-उपसर्ग के कारण अपने धर्म या जीवन की पवित्रता की रक्षा करने के निमित्त से अपना देह-त्याग किया था।

भगवती-आराधना में विषम परिस्थिति में समाधिमरण स्वीकार करने वालों के कथानक इस प्रकार हैं-

अयोध्या नाम की नगरी में⁴ धर्मसिंह नाम का राजा था। उसकी पत्नी का नाम चन्द्रशीला था। उसने पत्नी को त्यागकर मुनि-दीक्षा धारण की और अपने श्वसुर के भय से कोल्लगिरि नगर में हाथी के कलेवर में प्रवेश करके समाधिमरण की साधना की।

¹ जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (भाग- 2) - पृ. - 436.

² मूलाराधना 2 - पृ. - 71-74

³ उपसर्गें दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निः प्रतीकारे।

धर्माय तनुविमोचनमाहुः संलेखनामार्याः।। सागारधर्माऽमृत - पृ. - 160.

⁴ कोसलय धम्मसीहो अट्ठं साधेदि गिद्धपुट्ठण।

णयरम्मि य कोल्लगिरे चंदसिरि विप्पजहिदूण ।। - भगवतीआराधना , 2067

पाटलीपुत्र नगर में ऋषभसेन नामक श्रेष्ठी ने पत्नी को त्यागकर दीक्षा ली। अपनी पुत्री के प्रेम-राग के होने के कारण श्वसुर द्वारा उपसर्ग दिए जाने पर ऋषभसेन ने श्वास रोककर समाधिमरण की साधना की।¹

श्रावस्ती नगर के राजा जयसेन ने बौद्धधर्म त्यागकर जैनधर्म धारण किया था। उससे कुपित होकर अहिमारक नामक बौद्ध ने उसे उस समय मार डाला, जब वह आचार्य यतिवृषभ को नमस्कार कर रहा था। तब, आचार्य ने अपना अपवाद दूर करने के लिए शस्त्र से अपना घात करते हुए समाधिमरण की साधना की।²

पाटलीपुत्र में नन्दराजा का मंत्री शकडाल था। उसने महापद्मसूरि से जिन-दीक्षा ग्रहण की।³ उसके विरोधी वररुचि ने राजा महापद्म को रुष्ट करके शकडाल को मारने का प्रयत्न किया, तो शकडाल मुनि ने पांच नमस्कार-मन्त्र का ध्यान करते हुए छुरी से अपना पेट फाड़ डाला और इस प्रकार समाधिमरण की साधना की। (अन्यत्र यह कथा भिन्न रूप में भी मिलती है।)

उपर्युक्त समस्त कथाओं में यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि यहां साधकों ने मृत्यु-वरण के लिए बाह्य-विधियों का भी आश्रय लिया है। उन्हें ऐसा इस कारण करना पड़ा कि व्यक्ति के धर्म से भ्रष्ट हो जाने की अपेक्षा बाह्य-विधियों या साधनों के आधार पर अपने शरीर का त्याग श्रेष्ठ माना गया है। वस्तुतः, व्यक्ति की यह भावना मरण को दूषित नहीं करती है, अपितु इसे पण्डितमरण की कोटि में ले जाती है, अतः यह स्थिति भी समाधिमरण की ही पर्यायवाची है।

इसी तरह, 'आराधना सार' में भी कुछ अन्य कथानकों के आधार पर उपसर्गादि के कारण समाधिमरण करने वाले व्यक्तियों के उदाहरण मिलते हैं, जो निम्न हैं—

शिवभूति ने जैनदीक्षा ग्रहण की। ध्यान तथा कठोर साधना करने के लिए वह जंगल (बासों के जंगल) में चला गया। तेज हवा के चलने के फलस्वरूप बांस के पेड़ों के आपस में टकराने से अग्नि पैदा हुई। इस अग्नि के कारण समस्त जंगल में आग लग गई। शिवभूति भी चारों तरफ से अग्नि से घिर गया। इस संकट से बचने का कोई उपाय दिखाई न देने के कारण उसने समाधिमरण किया।⁴

इसी प्रकार, श्रीदत्त नामक साधक अपनी कठोर साधना में लीन था। उस समय भयंकर ठण्ड थी। किसी ने द्वेष के वशीभूत होकर उन पर ठण्डा पानी डाल दिया। अत्यधिक ठण्ड के कारण शरीर कांपने लगा, तो श्रीदत्त मुनि को मृत्यु का आभास होने लगा, तब उन्होंने समाधिमरण ग्रहण कर प्राणों का उत्सर्ग कर दिया।⁵

¹ पाडलिपुत्ते धूदाहेदुं मामयकदम्मि उवसग्गे।

साधेदि उसभसेणो अट्ठं विक्खाणसं किच्चा ॥ - वहीं - 2069

² अहिमारण गिवदिम्मि मारिदे गहिदसमणलिंगेण।

अटठाहपसमणत्थं सत्थग्गहणं अकासि गणी । - भगवती-आराधना-2069

³ सगडालएण वि तथा सत्तग्गहणेण साधिदो अत्थो।

वररुइपओगहेदुं रुट्ठे णंदे महापउमे ॥ - वहीं - 2070

⁴ तस्थौ तरोस्तते यस्य ज्वलितो वह्नि तत्।

निपेतवदफभिरालातैः प्रत्यंगं स कदर्थितः ॥ - आराधनासार - पृ.- 89.

⁵ शुकचरेण व्यंतरदेवेन तेन पूर्ववैमनुस्मृत्य शीतलवारिणा सिक्तः तथा

शीतलवातेन कदर्थितः सहजशुद्धं परमात्मानमाराध्य केवलारख्यं च ज्योतिरूत्पाद्य निर्वाणं प्राप्तवान् श्री दत्तो मुनिः । - वही - पृ. - 109.

‘अन्तकृतदशा’ में गज सुखमाल के सिर पर सोमिल द्विज ने मिट्टी की पाल बांधकर धधकते अंगारे सिर पर लाकर रख दिए, परन्तु उस क्षमा के सागर गज सुखमाल ने उफ़फ तक नहीं किया और इस दारुण पीड़ा को सहते हुए गज सुखमाल ने समत्त्व-भाव से समाधिमरण किया ।¹

इसके आलावा, वृद्धावस्था के कारण अथवा रोग या व्याधि के कारण आत्मशुद्धि के लिए समाधिमरण करने के भी अनेक उदाहरण जैनागमों में मिलते हैं। वस्तुतः, जब शरीर इतना दुर्बल या क्षीण हो गया हो कि व्यक्ति को अपना जीवन दूसरे के लिए भारस्वरूप लगने लग गया हो, या व्यक्ति स्वयं के कार्यों को भी ढंग से नहीं कर पाता हो और अपने कार्य के लिए भी दूसरे व्यक्ति का आलम्बन लेना पड़े, दुर्बलता के कारण इंद्रियां अपने विषयों को ग्रहण नहीं कर पाती हो, तो ऐसी परिस्थिति में समाधिमरण ग्रहण करना उचित ही है। इसके अतिरिक्त, प्राकृतिक एवं प्राणीकृत संकट-विपदा आने पर भी व्यक्ति समाधिमरण ग्रहण कर सकता है। अकालजन्य भुखमरी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि प्राकृतिक-विपदाएं हैं। आग में जलना, पानी में डूबना, ऊँचाई से गिरना— ये प्राकृतिक एवं प्राणीकृत-दोनों विपदाएं हैं। कभी-कभी नदी में बाढ़ आ जाती है, जिससे डूबने से मृत्यु हो जाती है। इन परिस्थितियों में व्यक्ति को अगर स्पष्ट रूप से मृत्यु की संभावना लगने लगे, तो वह परिस्थिति समाधिमरण करने हेतु उचित अवसर है।

प्राकृतिक एवं प्राणीकृत विपदाओं के कारण व्यक्ति की मृत्यु होने की संभावना हो, तो उसे समाधिमरण (सागारी-संधारा) कर लेना चाहिए।

समाधिमरण-ग्रहण की प्रक्रिया-

आराधना-पताका में, समाधिमरण किस प्रकार से ग्रहण किया जाता है ? इस साधना को सम्यक् किस प्रकार से बनाया जाता है ? इसकी विस्तृत चर्चा की गई है। इसमें यह बताया गया है कि किस-किस रूप में किस-किस प्रकार से समाधिमरण की साधना की जाती है। उसके पश्चात्, आराधना-पताका में समाधिमरण के दो रूपों, अर्थात् आभ्यन्तर और बाह्य रूपों की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि कषाय की संलेखना करना, अर्थात् अन्तर में निहित कषायों को देखकर उनके निरसन का प्रयास करना आभ्यन्तर-संलेखना है,² जबकि मृत्यु-पर्यन्त आहार आदि का त्याग करते हुए शारीरिक-आवेगों को कृश करना, यह बाह्य-संलेखना है। इसके पश्चात्, प्रस्तुत कृति में उत्कृष्ट, मध्यम और जपन्य के भेद से शरीर-संलेखना के तीन प्रकारों की चर्चा हुई है।

उत्कृष्ट शरीर-संलेखना, अर्थात् शरीर और इंद्रिय को कृश करने की प्रक्रिया बारह वर्ष की बताई गई है। मध्यम संलेखना बारह मास या एक वर्ष की तथा जघन्य संलेखना बारह पक्ष, अर्थात् छः माह की बताई गई है।³ इसके पश्चात्, उत्कृष्ट संलेखना में तप आदि की विधि किस प्रकार की होना चाहिए, इसका निर्देश करते हुए कहा गया है कि प्रथम चार वर्षों में विगयरहित, अर्थात् घी, तेल, दूध-दही, मिठाई आदि से रहित रुक्ष भोजन करना चाहिए। उसके पश्चात्, दो वर्ष तक

¹ अन्तकृतदशा - अष्टम अध्ययन, तृतीय वर्ग, पृ. 78-80

² संलेखना उ दुविहा अभिंतरिया 1 य बाहिरा 2 चेव ।

अभिंतरा कसाएसु, बाहिरा होइ हु सरिरे ।। -आराधनापताका, गाथा 8

³ तपुसंलेहा तिविहा उक्कोसा 1 मज्झिमा 2 जहण्णा 3 य ।

बारस वासा 1 बारस मासा 2 पक्खा वि बारस उ 3 ।। -आराधनापताका, गाथा 9

एकान्तर—तप करना चाहिए।¹ उसके पश्चात्, दूसरे चार वर्षों में विगयरहित भोजन करते हुए अगले दो वर्षों में एकान्तर—तप करना चाहिए। इस प्रकार दस वर्ष की अवधि पूर्ण होने पर ग्यारहवें वर्ष में छः मास—पर्यन्त कठोर तप—साधना करना चाहिए। फिर, ग्यारहवें वर्ष के अंतिम छः मास, बारहवें वर्ष के प्रथम छः मास में निरन्तर आयम्बिल करके, अन्त के छः मास में भक्त—परिज्ञा के माध्यम से आहार आदि में धीरे—धीरे कमी करना चाहिए।² इसी प्रसंग में यह बताया गया है कि शरीर को कृश किए बिना सहसा ही चतुर्विध आहार का त्याग कर लेने से शरीर में असमाधि उत्पन्न होती है और उसके परिणामस्वरूप आर्तध्यान उत्पन्न होता है, जबकि संलेखना का मुख्य लक्ष्य समाधि या शान्तिपूर्वक शरीर का त्याग होता है,³ अतः शरीर—संलेखना इस प्रकार से करना चाहिए कि जिससे शरीर में असमाधि न हो और समभावपूर्वक देहत्याग सम्भव हो। इसी क्रम में आगे आभ्यन्तर—संलेखना के लिए कषायों के कलुष के त्याग और अध्यवसायों की शुद्धि को आवश्यक कहा गया है, क्योंकि जब तक कषायरूपी अग्नि शान्त नहीं होती, तब तक संक्लेश के भाव समाप्त नहीं होते और संक्लेशयुक्त मरण जन्म—मरण की परम्परा को आगे बढ़ाता है, तब तक समाधिमरण की साधना नहीं होती, अतः समाधिमरण की साधना में मिथ्या दुष्कृत्यरूपी जल से कषाय—अग्नि को शान्त करना आवश्यक है,⁴ इसलिए आराधना—पताका के प्रथम द्वार के अन्त में⁵ यह कहा गया है कि सोलह प्रकार की कषाय, नौ नौ कषाय, ऐन्द्रिक—विषयों की आकांक्षा, अशुभ ध्यान, अशुभ लेश्या, राग—द्वेष तथा आठ प्रकार के मदस्थानों, सात प्रकार के भयस्थानों का त्याग आवश्यक है। चूंकि ये समाधिभाव में शल्यरूप हैं, अतः साधक को समाधिमरण की साधना में कषायों का कृशीकरण ही आवश्यक है।⁶ समाधिमरण की अधिकतम अवधि बारह वर्ष की मानी गई है। यह द्वादश वर्ष का समय किस रूप में बिताया जाना चाहिए, जिससे कि व्यक्ति के काय और कषाय—दोनों ही अल्प हों। इस विषय पर श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्य जैनग्रन्थों में पर्याप्त चिन्तन हुआ है। इस हेतु हमने आचारांग, उत्तराध्ययन, मरणविभक्ति—प्रकीर्णक, मूलाचार और भगवती—आराधना जैसे प्राचीन जैन—ग्रन्थों को अपना आधार बनाया है।

आचारांगसूत्र में समाधिमरण लेने की विधि पर प्रकाश डालते हुए निम्नलिखित तीन क्रियाओं को अपनाए जाने का निर्देश दिया गया है⁷ —

1. आहार को क्रमशः संक्षेप, अर्थात् कम करना।

¹ चत्तारि विचित्ताइं विगईनिज्जूहियाइं चत्तारि।
संवच्छरे य दुण्णि उ एगंतरियं च आयामं ॥ —आराधनापताका, गाथा 10

² नाइविगिट्ठो य तवो छम्मासे परिमियं च आयामं।
अण्णे वि य छम्मासे होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥ —वही,, गाथा

³ देहम्मि अंसलिहिए सहसा धाऊहिं खिज्जमाणाहिं।
जायइ अट्टज्झाणं सरीरिणो चरिमकालम्मि ॥ —वही,, गाथा

⁴ तम्हा हु कसायगिं पढमं उप्पज्जमाणयं चेव।
इच्छा—मिच्छादुक्कउचंदणसलिलेण झंपिज्जा ॥ —वही,, गाथा

⁵ तह चेव नोकसाया संलिहियत्वा परेणुवसमेण।
सन्नाओ गारवाणि य इंदिय विकहाओ विसया य ॥ —वही,, गाथा

⁶ असुहाइं साणाइं असुहा लेसाओ राग—दोसा य।
मयठाण भयट्ठाणा तित्ति य सल्ला महल्ला य ॥ —आराधनापताका, गाथा 22

⁷ आचारांगसूत्र (मधुकर मुनि) — 1/8/6/224..

2. कषायों को अल्प करना एवं शान्त करना।

3. शरीर को समाधि में स्थिर रखना, शान्त एवं स्थिर रखने का प्रयास करना।

समाधिमरण लेने की विधि में साधक को इसी क्रम का पालन करना चाहिए। समाधिमरण लेने वाला साधक अपने शारीरिक—सामर्थ्य के अनुसार शरीर को कृश करने के लिए आहारादि की मात्रा को अल्प करता है। क्रोध, मान, माया तथा लोभ आदि कषायों को अत्यन्त क्षीण एवं शान्त करता है। इसके साथ ही शरीर, मन तथा वचन की प्रवृत्तियों को स्थिर कर आत्मीय—गुणों को प्रकाशित करने के लिए शुभध्यान का चिन्तन करता है।

आचारांगसूत्र में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस भिक्षु के मन में इस प्रकार का मनोभाव उत्पन्न हो जाए कि सचमुच मैं इस समय (साधुजीवन की आवश्यक क्रियाएँ करने के लिए) इस (अत्यन्त जीर्ण एवं अशक्त) शरीर को वहन करने में क्रमशः ग्लान एवं असमर्थ हो रहा हूँ, (ऐसी स्थिति में) वह भिक्षु क्रमशः तप आदि के द्वारा आहार को अल्प करे, फिर कषायों को स्वल्प करे और कषायों को स्वल्प करके समाधियुक्त हो, लेश्या अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति को शुद्ध करे।¹ शरीर, कषाय दोनों से कृश बना हुआ भिक्षु समाधिमरण के लिए समुपस्थित होकर शरीर के सन्तोष के सन्ताप को शान्त कर लें।

श्री मधुकर मुनिजी ने आचारांग की अपनी व्याख्या में समाधिमरण के काल को आगम के अनुसार विभाजित करते हुए इसे जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट कहा है।² उनके अनुसार, जघन्य समाधिमरण बारह पक्ष का, मध्यम बारह मास का तथा उत्कृष्ट बारह वर्ष के काल—परिमाण का होता है। इसकी न्यूनतम समयावधि बारह पक्ष की होती है। बाहर पक्ष का समय अत्यन्त अल्प होता है, जबकि बारह वर्ष की समयावधि काफी लम्बी होती है। इस लम्बे काल में साधक के समक्ष विभिन्न प्रकार की बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं। इस कारण, साधक को इन सबसे अपने आप को मुक्त रखकर संयम की आराधना करने का निर्देश दिया गया है।

समाधिमरण का पूर्ण काल बारह वर्ष का माना गया है। इन बारह वर्षों में साधक शरीर और कषाय को कृश करने के लिए विभिन्न प्रकार के तपों का अभ्यास करता है। पूज्य मधुकरजी इसका विवेचन करते हुए लिखते हैं³— प्रथम चार वर्ष तक कभी उपवास, कभी बेला, कभी तेला, चोला, पंचोला— इस प्रकार, चार वर्ष तक तप किया जाता है। तत्पश्चात्, फिर चार वर्ष तक उसी तरह विचित्र तप किया जाता है। पारणा के दिन विगयरहित (रस—रहित) आहार लिया जाता है। उसके बाद, दो वर्ष तक एकान्तर—तप किया जाता है। पारणा के दिन आयम्बिल—तप किया जाता है। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छः मास तक उपवास या बेला आदि तप किया जाता है, द्वितीय छः मास में विकृष्ट तप तेला, चोला आदि किया जाता है। पारणे में कुछ ऊनोदरीयुक्त आयम्बिल किया जाता है। उसके पश्चात्, बारह वर्ष में कोटि सहित लगातार आयम्बिल किया जाता है, पारणे के दिन भी आयम्बिल किया जाता है। अन्त में साधक भोजन में प्रतिदिन एक—एक ग्रास कम करत—करते एक ग्रास (सक्थ) भोजन पर आ जाता है। इस कालावधि में जो भी संकट अथवा उपसर्ग साधक के

¹ जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति से गिलामि च खलु अहं इमंसि समए इमं सरीरगं अणुपुब्बेण।

परिवहित्तए' से 'आणुपुब्बेण आहारं संवटेज्जा, आणुपुब्बेण आहारं संवट्टेत्ता कसाए पत्तणुए किच्चा समाहियच्चे — आचारांगसूत्र (मधुकर मुनि) — 8/6/पृ. 224

² वही — पृ. — 294.

³ वही — पृ. — 294.

समक्ष उपस्थित होते हैं, उनके निदान के लिए आचारांगसूत्र में उल्लेख मिलता है। इन बारह वर्षों में साधक कषायों को कृश (अल्प) करके अल्पाहारी बनकर परीषहों एवं दुर्वचनों को सहन करता है। यदि भिक्षु को आहार की आसक्ति छूट गई, तो वह आहार के पास जाता भी नहीं है और आहार का सेवन भी नहीं करता है।¹ अनशन-व्रत में स्थिर साधक जीने-मरने की आकांक्षा से उपरत रहता है।² सुख-दुःख में समत्व का भाव बनाए रखकर कर्मों की निर्जरा करने वाले पथ की साधना करता है तथा राग-द्वेष, कषाय आदि आन्तरिक और शरीर, उपकरण आदि बाह्य-पदार्थों का त्याग करके शुद्ध अध्यात्म-मार्ग की खोज करता है।³ समाधिमरण लेने के समय यदि व्यक्ति को अपने जीवनकाल में किसी भी तरह से आतंक आदि का उत्पात दिखाई देने लगे, तो उस समाधिमरण-काल के बीच में ही व्यक्ति भक्त-प्रत्याख्यान कर पण्डितमरण अपना लेता है, तब साधक या व्यक्ति ग्राम या वन में जाकर स्थण्डिल-भूमि का अवलोकन करता है और जहाँ जीव-जन्तु से रहित स्थान होता है, वहीं संथारा बिछा लेता है।⁴ संथारा के लिए वह घास, कुश आदि, अथवा लकड़ी के पट्टे आदि का उपयोग भी कर सकता है, किन्तु कभी-कभी तो वह संथारे के लिए सिर्फ जमीन या शिलापट्ट का ही उपयोग करता है। व्यक्ति संस्तारक पर चतुर्विध-आहार का त्याग कर समाधिभाव से लेट जाता है। उस समय परीषह-उपसर्ग भी आ जाए, तो समभावपूर्वक सहज भाव से साधना में लीन रहता है। मनुष्य द्वारा अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग उपस्थित होने पर भी वह अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता है।⁵ रेंगने वाले जन्तु, जैसे-चींटी आदि प्राणी या आकाश में ऊपर उड़ने वाले जीव जैसे- गिद्ध आदि जीव या जमीन पर रहने वाले जन्तु, जैसे- सर्प आदि यदि उसे नोंच-नोंच कर खाते हैं, तो भी वह साधक उन्हें हटाता नहीं, बल्कि मारता नहीं, समताभाव से इस उपसर्ग को सहन करता है।⁶ साथ ही, उस साधक के मन में यह चिन्तन-धारा चलती है कि ये मेरे देह का ही तो नाश कर रहे हैं, मेरे आत्मगुणों का घात नहीं कर रहे हैं। इस प्रकार, शुभभावों की निर्मल धारा में अवगाहन करते हुए वह साधक उन कष्टों को शान्त चित्त से सहन करता है।⁷ इस तरह के साधक शरीर, उपकरण आदि बाह्य-गन्धियों तथा

¹ कसाए पयणुए किच्चा अप्पाहारो तित्तिक्खए।

अह भिक्षु गिलाएज्जा आहारस्सेव अंतियं॥ -आचारांगसूत्र (आत्मारामजी म.) 1/8/7/3.

² जीवियं णाभिकंखेज्जा मरणं णो वि पत्थए॥

दुहतो वि ण सज्जेज्जा जीविते मरणे तथा॥ - वही - 1/8/8/4.

³ मज्झत्थो निज्जरापेही समाहिमणुपालए।

अंतो बहिं वियोसज्ज अज्झत्थं सुद्धमेसए॥ - वही - 1/8/8/5.

⁴ जं किचुवक्कमं जाणे आउखेमस्स अप्पणो।

तस्सेव अंतरद्वाए खिप्पं सिक्खेज्ज पंडिते॥ - वही - 1/8/8/6.

⁵ अणाहारो तुवट्टेज्जा पुट्ठो तत्थ हियासए।

णातिवेलं उवचरे माणुस्सेहिं वि पुट्ठवं॥ - आचारांगसूत्र (आत्मारामजी) - 1/8/8/8.

⁶ संसप्पगा य जे पाणा जे य उड्ढमहेचरा।

भुंजंते मंससोणियं ण छणे णपमज्जए॥ - वही - 1/3/8/9.

⁷ गंथेहिं विवित्तेहिं आयुकालस्स पारए।

पग्गहिततरगं चेत्तं दवियस्स वियाणतो॥ - वही - 1/8/8/11.

रागादि अन्तरंग-ग्रन्थिर्गों से विप्रमुक्त होकर समाधिमरण के द्वारा देहत्याग तो करते हैं और मुक्ति का वरण करते हैं।¹

समाधिमरण हेतु योग्य आचार्यों एवं निर्यापकों की खोज की आवश्यकता—

आराधना-पताका में, क्षपक जब आराधना के लिए उद्यत होता है, तब उसे किसी-न-किसी का आश्रय लेना ही पड़ता है। वह आचार्य या गुरु, जिसके सान्निध्य में वह समाधिमरण ग्रहण करता है, वे गुरु या निर्यापक किस प्रकार के होना चाहिए, इसका वर्णन आराधना-पताका के पाँचवें अगीतार्थ-द्वार में बताया गया है। इसके अनुसार अगीतार्थ गुरु या आचार्य के सान्निध्य में समाधिमरण ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो गीतार्थ नहीं है, जो देश, काल, परिस्थितियों का ज्ञाता नहीं है, वह सम्यक् प्रकार से समाधिमरण करवाने में समर्थ नहीं होता है।⁵ गीतार्थ के लिए आवश्यक है कि उसके मन में मानवता का निवास हो। जिसके दिल में देव, गुरु, धर्म के प्रति श्रद्धा का भाव हो तथा जो तप, संयम एवं पुरुषार्थ में अग्रणी होता है, वही गीतार्थ-निर्यापक होता है², जबकि अगीतार्थ में ये योग्यताएँ नहीं होती हैं। अगीतार्थ-निर्यापक क्षपक-साधक को क्षुधा-पिपासा से पीड़ित होने पर जब वह रात्रि में जल आदि की याचना करता है, तो अनुचित बोलता है और फिर उसे बीच में ही छोड़कर वापस चला जाता है,³ फलतः वह क्षपक-साधक की पीड़ा से वशार्त्त होकर तथा दीक्षा त्यागकर पुनः गृहस्थ होने की सोचता है, फलतः आर्त्तध्यान से युक्त होने पर वह क्षपक मरकर नरक, तिर्यच आदि गतियों में जन्म लेता है।⁴ सत्य तो यह है कि किस परिस्थिति-विशेष में किस प्रकार का आचरण या व्यवहार क्षपक-साधक के साथ करना चाहिए, इस बात से अज्ञात होने के कारण अगीतार्थ-निर्यापक क्षपक का अहित ही करता है। इसके विपरीत, जो गीतार्थ-निर्यापक होता है, वह विशिष्ट परिस्थिति में धर्म और शास्त्र का आधार लेकर योग्य मार्ग निकाल लेता है, जिससे न तो क्षपक का अहित होता है और न क्षपक को कोई पीड़ा होती है, न ही धर्मसंघ की निन्दा होती है, इसलिए आराधना-पताका में यह बताया गया है कि समाधिमरण ग्रहण करने वाले क्षपक को गीतार्थ-गुरु, आचार्य व निर्यापक की खोज में क्षेत्र की अपेक्षा से छः सौ या सात सौ योजन तक एवं काल की अपेक्षा से बारह वर्ष तक भी योग्य निर्यापक-आचार्य की खोज करनी पड़े, तो भी करे,⁵ परन्तु अगीतार्थ के पास समाधिमरण की साधना न करे। गीतार्थ वह व्यक्ति होता है, जो क्षपक की इच्छा को पूर्ण करके और उसका देह-परिकर्म करके, अथवा अन्य उपायों के द्वारा उसकी असमाधि व बैचेनी को दूर कर समाधिमरण में सहायक होता है।⁶

⁵ अणसणपडिवत्ति पुण अगिअत्थाणं न चेव पामूले।

कायव्वा खवगेणं किं कारण ? जेणि मे दोसा ॥ आराधनापताका, गाथा- 48

² किं पुण तं चउरंगं जनट्ठं दुल्लहं पुणो होइ ?।

माणुस्सं 1 धम्मसुई 2 सद्धा 3 तवसंजमे विरियं 4 ॥ - आराधनापताका- 51

³ किह नासिज्ज अगीओ खूहा- पिवासाहिं पीडिओ सो उ।

ओहासइ रयणीए तो निद्धम्मो त्ति छडिज्जा ॥ -वही, 51

⁴ अंतो वा बाहिं वा दिया व राओ व सो परिच्चत्तो।

अट्टदुहट्टवसट्टो उन्निक्खमणाइ कुज्जा ही ॥ -वही,, 52

⁵ एक्कं व दो व तित्ति उ उक्कोसं बारसेव वासाइं।

गीयत्थपायमूलं परिमग्गिज्जा अपरितंतो ॥ -वही,, 56

⁶ खवयस्स इच्छसंपायणेण देह पडिकम्मकरणेण।

गीतार्थ—निर्यापक प्रासुक—द्रव्य, क्षपक का हित, उसके उदय में आए हुए कर्म तथा वात—पित्त और कफ के उपचार को जानकर विशिष्ट परिस्थिति में उचित शिक्षा अथवा उचित पान या भोजन देकर क्षपक को क्षुधा एवं पिपासा से क्लान्त नहीं होने देता¹, इसलिए प्रस्तुत कृति में यह बताया गया है कि चाहे दीर्घकाल तक योग्य निर्यापक की प्रतीक्षा करना पड़े, किन्तु कभी भी अयोग्य निर्यापक के सान्निध्य में समाधिमरण ग्रहण नहीं करना चाहिए।

आराधना—पताका के छठवें असंविग्नद्वार में यह भी बताया गया है कि समाधिमरण के इच्छुक साधक को भले ही गीतार्थ—गुरु मिल जाए, परन्तु वह गीतार्थ—मुनि असंविग्न, यानी शुद्ध आचरण न हो, तो उसके सान्निध्य में भी समाधिमरण नहीं करना चाहिए², क्योंकि उसके सान्निध्य में रहने से अंगचतुष्टय, अर्थात् मनुष्यत्व, शुद्ध श्रद्धा, संयम और सम्यक् पुरुषार्थ के नष्ट होने का भय रहता है। वह असंविग्न संयम में आधाकर्मी आदि दोष भी लगा देता है³, इसलिए आराधना—पताका में कहा गया है कि संविग्न गीतार्थ—गुरु की खोज बारह वर्षों तक तथा सात सौ योजन तक भी करना पड़े, तो करना चाहिए, परन्तु ऐसे असंविग्न—निर्यापक के सान्निध्य में कभी भी समाधिमरण धारण नहीं करना चाहिए।

भगवती—आराधना में⁵ भी आचार्य के विशेष गुणों का वर्णन करते हुए बताया गया है कि निर्यापक—आचार्य यदि आचारयुक्त है, तो उससे क्षपक को क्या लाभ होता है ? इस विषय का विवेचन किया गया है। जो आचार्य पंचाचार का पालन करता हो, जिसकी सारी क्रियाएँ सम्यक् व विवेक सहित होती हैं, वह क्षपक से भी पांच प्रकार के आचारों का पालन करवाने की कोशिश करता है। जो आचार्य आचार—गुण से युक्त नहीं होता, उसका सान्निध्य लेने से निम्न दोष उत्पन्न होने की सम्भावना होती है।

जिस आचार्य में ज्ञान का अभाव है, ज्ञानाचार नहीं है, वह आचार्य क्षपक को अनेक दोष लगा देगा। अशुद्ध स्थान, उपकरण एवं भक्तपान आदि की व्यवस्था में ऐसे भुनियों को नियुक्त

अत्रेहिं वा उवाएहिं सो समाहिं कुणइ तस्स ॥ — वही,, 60

¹ जाणइ फासुयदव्वं खवगस्स हियं च तह उइत्ताणं ।
जाणइ पडियारं वात—पित्त—सिंभाण गीयत्थो ॥ — आराधनापताका, 61

² तह य असंविग्गाणं गीयत्थाण वि न चेव पामूले ।
अणसणविही विहेया खवगेणं जेण्णि मे दोसा ॥ — वही,, 64

³ नासेइ असंविग्गो चउररं सव्वलोयसारं ।
नट्टम्मि उ चउरंगे न हु सुलहं होइ चउररं ॥ — वही —65

⁴ पंच व छ व सत्तसए अइरेगं वा वि जोयणाणं तु ।
संविग्गपायमूलं परिमग्गिज्जा अपरितंतो ॥ — वही— 68

⁵ भगवतीआराधना, 318—380

करेगा, जिनको यह भय नहीं है कि इस प्रकार असंयम का सेवन करने से महान् कर्मों का बन्ध होगा या हमारा संसार—परिवर्द्धन होगा, जो अनेक आपत्तियों का मूल—मन्त्र है।

जो आचारवान—आचार्य या निर्यापक होता है, वह इन दोषों से रहित होता है, इसलिए जो दोषों से दूर रहता है और गुणग्राही होता है, ऐसा आचारवान आचार्य ही निर्यापक होता है। क्षपक ऐसे आचारनिष्ठ आचार्य की खोज करे, फिर मिलने पर उनके चरणों में समाधि—भाव को ग्रहण करे। संवेगरंगशाला¹ में भी बताया गया है कि क्षपक किन निर्यापक—आचार्य का आश्रय लेता है। जिस तरह नगर से प्रस्थान करने से पूर्व व्यक्ति सार्थवाह (सारथी) की खोज करता है, उसी तरह परगण—संक्रमण करने से पूर्व क्षपक निर्यापक—आचार्य की खोज करता है। इसमें भी यही बताया गया है कि वह क्षपक क्षेत्र की अपेक्षा से छः सौ या सात सौ योजन तक एवं काल की अपेक्षा से बारह वर्ष तक निर्यापक की खोज करता है।

निर्यापक आचार्य (सुस्थित) — चारित्र से श्रेष्ठ, शरणागतवत्सल, स्थिर, सौम्य, गम्भीर, महासात्विक आदि, ये सामान्य गुण आचार्य में सहज (स्वभाव) ही होते हैं। इनके अतिरिक्त भी—क्षपक 1. आचारवान् 2. आधारवान् 3. व्यवहारवान् 4. लज्जा दूर करने वाला 5. शुद्धि करने वाला (प्रकुर्वी,) 6. निर्वाह करने वाला (निर्यामक,) 7. अपाय—दर्शक और 8. अपरिश्रावी— इन आठ गुणों से युक्त आचार्य की खोज करता है।

1. आचारवान्—जो आचार्य निरतिचारपूर्वक पंच—आचार का पालन करता है, दूसरों को भी पांच प्रकार के आचार—पालन में लगाता है, शास्त्रानुसार आचार—पालन का उपदेश देता है, जो दस प्रकार के कल्पों का पालन करता है तथा पांच समिति और तीन गुप्तियों से युक्त होता है, वह आचारवान् है।²

2. आधारवान्—संवेगरंगशाला में आगे निर्यापक के आधारवान् गुण का कथन किया गया है। जो चौदह पूर्व, दस पूर्व, अथवा नौ पूर्वधारी हो, महाबुद्धिशाली हो, सागर के समान गम्भीर हो, कल्प—व्यवहार आदि प्रायश्चित्त—शास्त्रों का ज्ञाता हो, वह ज्ञानी आधारवान् होता है। जैसे मकान का आधार नींव है, उसी प्रकार विकसित जीवन का आधार ज्ञान है, अतः संवेगरंगशाला में आधारवान् की विशेषता बताते हुए कहा गया है कि जो चौदह पूर्व, नौ पूर्व या दस पूर्व का धारी हो, सागर के समान गम्भीर हो, कल्प—व्यवहार आदि प्रायश्चित्त—शास्त्रों का ज्ञाता हो, ऐसा ज्ञानी व्यक्ति ही आधारवान् होता है। व्यक्ति में अनादिकाल से कुसंस्कार भरे हुए हैं। इस दुर्लभ संयम को पाकर भी यदि वैराग्यप्रद देशना प्राप्त न हो, तो कुसंस्कार जाग्रत हो जाते हैं, क्षपक संयम से पतित हो सकता है, अतः संयम में स्थिर रखने के लिए आधारवान् का ज्ञानी होना आवश्यक है। यदि क्षुधा—तृषा की पीड़ा को क्षपक सहन नहीं कर पाए, तो शुभ—भाव से च्युत हो जाता है और आर्तध्यान करने लगता है, उसको धर्म के प्रति द्वेषभाव भी हो सकता है, ऐसी परिस्थिति में गीतार्थ—आचार्य वैराग्यप्रद देशना देकर क्षपक की समाधि बनाए रखता है और रत्नत्रय में उसको स्थिर करता है, फिर भी क्षपक समाधि को प्राप्त ना हो, तो आचार्य विधिपूर्वक विवेक से उस क्षपक की इच्छा की पूर्ति करके उसको धर्म में स्थिर करता है।³

¹ संवेगरंगशाला — 4630

² संवेगरंगशाला — गाथा— 4630—4638

³ वही — गाथा — 4639—4656

व्यवहारवान्—संवैगंगशाला में जिनचन्द्रसूरि ने व्यवहारवान् का स्वरूप बताते हुए कहा है कि वही आचार्य व्यवहारवान् होता है, जिसको प्राचशित्त-शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान हो, प्राचशित्त के योग्य कर्म का विवेक तथा किस व्यक्ति को किस प्रकार का प्राचशित्त देना, इसका अच्छी तरह अनुभव हो। व्यवहार पांच प्रकार का होता है— आज्ञा, श्रुत, आगम, धारणा, जीत। जो आचार्य प्रायशित्त-शास्त्र का ज्ञाता नहीं हो, वह यदि प्रायशित्त देता है, तो वह अशुभ-कर्म का बंधन करके भव-भ्रमण को बढ़ा लेता है। व्यवहार को जानने वाला आचार्य ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, क्षपक के परिणाम, उसका उत्साह, उसके शरीर का बल आदि परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए प्राचशित्त देता है। ऐसे व्यवहारवान् आचार्य के सान्निध्य में रहने से निश्चय से दोषों की शुद्धि होकर समाधि सम्यक् प्रकार से होती है।¹

प्रभावशाली—आचार्य क्षपक के अन्तर में छुपे हुए सभी दोषों को बाहर निकलवाता है और उसे निरतिचार रत्नत्रय की आराधना से जोड़ता है, इसलिए आचार्य तेजस्वी, बलवान्, ओजस्वी वाणी का धारक तथा कुशल होना चाहिए।²

प्रकुर्वी—जो आचार्य क्षपक के वसति से निकलने, अथवा उसमें प्रवेश करने में वसति-संस्तारक कैसे बिछाना, उपकरण आदि शोधन में क्षपक के लिए कैसा आहार लाना, कैसे बैठाना, कैसे उठाना, उसके शरीर के मल का विसर्जन किस प्रकार करना, इस प्रकार पण्डितमरण करवाने में पूर्ण रूप से सहयोग करता है, वही आचार्य प्रकुर्वक होते हैं। इस प्रकार, जो आचार्य अपने शरीर की परवाह नहीं करते, ऐसे आचार्य के पास रहकर क्षपक प्रसन्नता एवं सुख का अनुभव करता है, अतः क्षपक को योग्य आचार्य के सान्निध्य में ही अपनी साधना को पूर्ण करना चाहिए।³

निर्यापक अथवा निर्वाहक—संवैगंगशाला के अनुसार निर्यापक—आचार्य अगर क्षपक की मनःस्थिति को न जाने एवं आहार आदि लाने में देरी कर दे, क्षपक की सेवा में प्रमाद कर दे, तो क्षपक का मन खिन्न हो सकता है, फिर वह क्षपक आर्त्तध्यान करता हुआ शीत, उष्ण, भूख-प्यास से पीड़ित होकर अपनी मर्यादा को भूलकर नियमों का उल्लंघन करने के लिए तत्पर हो जाता है, तब क्षमाशील मुनि एवं सरल परिणाम वाला आचार्य ही क्षपक को शान्त करने के लिए क्षपक की समाधि बनी रहे, इसलिए सनतोषप्रद वाणी का प्रयोग करता है। मर्यादा का उल्लंघन करने वाले क्षपक के चित्त को शान्त करना चाहिए। इस ग्रन्थ में आगे बताया गया है कि आचार्य किस प्रकार के क्षपक के चित्त को शान्त करते हैं— जो आचार्य आगम-रहस्य का ज्ञाता हो, विविध योगों से श्रुत-शास्त्र का निरूपण करने वाला हो, रत्नत्रय का ज्ञाता हो, इन्द्रिय-विजेता हो, वही निर्यापक—आचार्य हित, मित और प्रिय वचनों से युक्त आगम-कथानक को कहता है। उसे सुनकर क्षपक को पूर्व में अभ्यास किए श्रुत के अर्थ का स्मरण हो जाता है। इस तरह, निर्यापक—आचार्य संयम और गुणों से पूर्ण, किन्तु परीषहरूप लहरों से चंचल हुए क्षपकरूपी जहाज का मधुर एवं हितकारी उपदेशों से संरक्षण करता है। यदि वह आचार्य आर्त्तहितकारी ऐसी मधुर जिनवाणी क्षपक को न सुनाए, तो मुख-सुख को प्राप्त कराने वाली आराधना को क्षपक छोड़ देता है, अतः निर्यापक के सभी लक्षणों से युक्त आचार्य क्षपक का उपकारी होता है और उसकी कीर्ति सर्वत्र फैलती है।⁴

¹ संवैगंगशाला - गाथा- 4657-4663

² वही - गाथा- 4664-4671

³ वही - गाथा- 4672-4675

⁴ संवैगंगशाला - गाथा- 4676-4684

अपायदर्शी—अपायदर्शी गुण का विवेचन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं— यद्यपि क्षपक संसार—समुद्र के किनारे पहुँच जाता है, फिर भी उसके मन में तीव्र राग—द्वेष—कषाय की भावना उत्पन्न हो सकती है। आराधना करते—करते जब अन्त समय निकट आ जाता है, तो कर्मवशात् क्षुधा, तृषा आदि की वेदना से क्षपक के मन में आर्तध्यान हो सकता है। पूर्व में क्षपक प्रतिज्ञा करता है कि दीक्षा लेने के दिन से समाधि धारण करने के दिन तक रत्नत्रय में जो दोष लगेंगे, उन सबको वह गुरु के समक्ष निवेदन करेगा, ऐसी प्रतिज्ञा करके भी जब अपराध—निवेदन का समय आता है, तब क्षपक उस अपराध को कहने में लज्जा का अनुभव करता है। उस क्षपक के मन में यह भय बना रहता है कि उसके अपराध को जानकर सब उसकी अवज्ञा करेंगे। उसकी इच्छा रहती है कि उसकी प्रतिष्ठा बढ़े, वह चाहता है कि सब उसका मान—सम्मान करें, किन्तु अपराध जान लेने पर वे सब लोग उसका मान नहीं करेंगे, अपराधी जानकर वे उसे त्याग देंगे। इस कारण से भी वह डरता है और संकोचवश वह अपने दोषों को नहीं कह पाता है, अतः उस अपायदर्शी—आचार्य को यह बतलाना चाहिए कि जो अपने दोषों की आलोचना नहीं करता है, अथवा आलोचना करते समय भी मन में कपट, अथवा छल रखता है, अथवा अपनी गलती को स्वीकार करने को तैयार नहीं होता है, वह दोष का भागी बनता है। जैसे शरीर में लगे बाण, कांटा आदि शल्य को न निकालने पर मनुष्य कष्ट से पीड़ा को प्राप्त होता है और भय से विचलित होता है, उसी प्रकार भावशल्य से युक्त भिक्षु भी तीव्र दुःखों से पीड़ित होता है, फिर वह क्षपक मन में सोचता है कि मैं अगर शल्य को दूर नहीं करूँगा, तो पता नहीं मेरी गति क्या होगी ? इस तरह लज्जाभय से और गर्व से प्रतिबद्ध क्षपक के भावशल्य को यदि दूर न किया जाए, तो वह उसके व्रत, शील और गुणों को नष्ट करता है, दीर्घकाल तक संयम का पालन किया, बोधिलाम को प्राप्त किया, वह सब नष्ट हो जाता है, इसलिए संसार से भयभीत श्रमण को प्रमादवश एवं मुहूर्तमात्र भी शल्यसहित रत्नत्रय के साथ रहना उचित नहीं, अतः अपायदर्शी—आचार्य के समक्ष उस क्षपक को अपने शल्य के दोषों का प्रमार्जन कर लेना चाहिए।

अपरिश्रावी—संवेगरंगशाला के अन्त में अपरिश्रावी गुण का उल्लेख किया गया है। जिस प्रकार लोहे के पात्र में रखा हुआ जल बाहर नहीं निकलता है, वैसे ही जिस आचार्य के समक्ष क्षपक ने अपने दोष को प्रकट किया, वह आचार्य यदि उन दोषों को अन्य मुनियों के सामने प्रकट नहीं करता है, तो वह आचार्य अपरिश्रावी—गुण से युक्त होता है। किसी भी क्षपक के सम्यग्दर्शन में अतिचार लगना हो, तो वह क्षपक विश्वासपूर्वक अपने दोषों को आचार्य से कहता है और यदि आचार्य उसके अपराधों को सुनकर दूसरों के सामने उजागर कर देता है, तो उस आचार्य ने ऐसा करके उस क्षपक का ही त्याग कर दिया, क्योंकि उस आचार्य ने यह नहीं सोचा कि मेरे द्वारा दोष प्रकट कर देने पर यह क्षपक लज्जित होकर दुःखी होगा, अथवा आत्मघात कर लेगा, अथवा क्रुद्ध होकर रत्नत्रय को छोड़ देगा, ऐसा करके उस आचार्य ने अपनी आत्मा का त्याग किया, गण का त्याग किया, संघ का त्याग किया, इतना ही नहीं, उससे मिथ्यात्व का दोष भी लगेगा। जो आचार्य पूछने पर, अथवा बिना पूछे शिष्यों के द्वारा प्रकट किए दोषों को दूसरों से नहीं कहता है, वह रहस्य को गुप्त रखने वाला आचार्य अपरिश्रावी होता है और उसे ऊपर कहे दोष जरा भी नहीं छूते हैं।¹

¹ संवेगरंगशाला — गाथा— 4706—4714

निर्यापकों की संख्या एवं उनका दायित्व

(अ) आराधना-पताका के अनुसार—आराधना-पताका के अनुसार जिस व्यक्ति का शरीर क्षीण हो जाए, यहाँ तक कि वह स्वयं का कार्य सम्पादन करने में भी असमर्थ हो जाए— ऐसे व्यक्ति को योग्य निर्यापक के सान्निध्य में समाधिमरण ग्रहण कर लेना चाहिए।

आराधना-पताका के तृतीय निर्यापक-द्वार में यह बताया गया है कि जो व्यक्ति समाधिमरण के समय अपने पास भी रहना चाहता हो, परन्तु वह भ्रष्ट चरित्र वाला हो, कुशील सेवन करता हो, ऐसे निर्यापक के सान्निध्य में संलेखना न करें।¹

सामान्यतः समाधिमरण के साधक के सान्निध्य में आचार्य या गुरु द्वारा नियुक्त किए गए अड़तालीस निर्यापक होना चाहिए। वे निर्यापक धर्म में श्रद्धा-सम्पन्न हों, पापकर्म से डरते हों, सदगुणों से सम्पन्न हों, जो क्षपक के इंगित आकार को जानने वाले हों, समय के ज्ञाता हों, योग्य-अयोग्य स्थिति के जानकार हों,² जो क्षपक की इच्छा को जानने वाले हों, कल्पाकल्प के ज्ञाता हों और शास्त्रों के रहस्य के ज्ञाता हों, ऐसे गुरु की आज्ञा को मानने वाले अड़तालीस निर्यापक होते हैं।³

अड़तालीस निर्यापकों में से चार क्षपक को खड़ा करने वाले, चार क्षपक को करवट बदलाने वाले, चार द्वार पर खड़े रहने वाले, चार संस्तारक बिछाने वाले, चार क्षपक को धर्मकथा सुनाने वाले और शास्त्रों के ज्ञाता हों, चार निर्यापक उद्यतवचन का प्रतिवाद करने में समर्थ वादी के रूप में नियुक्त होते हैं तथा चार बाह्य-द्वार पर प्रतिकूल परिस्थितियों में रक्षा करने के लिए नियुक्त होते हैं, चार निर्यापक क्षपक के लिए अनुकूल भोजन लाने वाले तथा चार क्षपक के लिए पानी लाने वाले, चार उच्चार (मलोत्सर्ग) परठने हेतु, चार प्रस्रवण-प्रतिष्ठापना के लिए नियुक्त होते हैं, चार बाहर से आने वाले, आगन्तुकों को धर्मकथा सुनाने वाले तथा चार गीतार्थ-निर्यापक चारों दिशाओं में नियुक्त होते हैं।⁴ जब भरत ऐरावत-क्षेत्र में जैसा समय होता है, तब उस समय वैसे ही अड़तालीस निर्यापक होते हैं। यह संख्या अधिकतम कही गई है⁵, किन्तु न्यूनतम दो निर्यापक तो होना ही चाहिए, जिनमें से एक क्षपक के पास रहे तथा दूसरा आहार-पानी की गवेषणा करने जाए।⁶ एक ही निर्यापक होने पर क्षपक की आराधना में बाधा होती है एवं विराधना उत्पन्न होने की सम्भावना लगती है तथा कार्य की हानि भी हो सकती है। क्षपक जिस सिद्धि की साधना करने जा रहा है, वह साधना भी सफल नहीं होती, साथ ही क्षपक के सान्निध्य में योग्य निर्यापक न हो,

¹ पासत्थोसन्न - कुशीलठाण परिवज्जिया उ निज्जवगा।

पियधम्म वज्जभीरु गुणसंपन्ना अपरितंता ॥ - आराधनापताका - गाथा- 29

² मरणसमाहीकुसला इंगिय - पत्थियसहाववित्तारो।

ववहारविहिविहिनू अब्भुज्जयमरणसारहिणो ॥ - वही - गाथा- 30

³ कप्पाकपे कुसला समाहिकरणुज्जया सुयरहस्सा।

मुणिणो अडयालीसं गुरुदिन्नां हुंति निज्जवग्गा ॥ - वही - गाथा- 32

⁴ उव्वत्तण परियत्तण-पसारणा-SSकुंचणाइसुं चउरो।

खवगस्स समाहाणं करिति निज्जामगामुणिणो ॥ - आराधनापताका - गाथा- 34

⁵ जो जारिसओ कालो भरहेरवएसु होइ वासेसु।

ते तारिसया तइया अडयालीसं तु निज्जवग्गा ॥ - वही - गाथा- 39

⁶ एए उक्कोसेणं परिहाणीए जहन्ओ दोन्नि।

एगो परन्निपासे बीओ पाणाइ गच्छिज्जा ॥ - वही - गाथा- 40

तो जिनशासन की भी निन्दा होती है। अयोग्य निर्यापक के कारण समाधिमरण के साधक में भी असमाधि का भाव उत्पन्न हो जाता है¹, अतः निर्यापकों का परीक्षण भी आवश्यक है। जो क्षपक को समाधि नहीं दे सकते— ऐसे निर्यापकों के सान्निध्य में संलेखना स्वीकार करने पर क्षपक की समाधि खण्डित होने की सम्भावना रहती है¹, क्षपक आर्त होकर चिल्लाता है, जिनाज्ञा को त्यागकर आत्मबल की हानि करता है तथा सिद्धि के विपरीत मार्ग का अनुसरण कर समाज में अपयश को प्राप्त करता है।²

(ब) भगवती—आराधना में निर्यापकों का स्वरूप एव कार्य—

निर्यापक, अर्थात् समाधिमरण करने वाले सहायक मुनि वे हो सकते हैं, जिन्हें धर्म प्रिय हो, जो धर्म में स्थिर हों, संसार से भीरु हों, पाप से डरते हों, धैर्यवान हों, क्षपक के अभिप्राय को जानते हों, विश्वास के योग्य हों और प्रत्याख्यान के क्रम को जानते हों। निर्यापक यतियों को चारित्र प्रिय होता है। इससे वे क्षपक को भी चारित्र में प्रवृत्ति करने के लिए उत्साहित करते रहते हैं और उसकी साधना में सहायता करते हैं।³ यद्यपि सम्यग्दृष्टि होने से जो यति चारित्र में अनुराग तो रखते हों। लेकिन चारित्र—मोह का उदय होने से चारित्र में दृढ़ नहीं होते, वे समाधिमरण करवाने में सहयोगी नहीं हो सकते हैं। इसलिए निर्यापक—यतियों के लिए दृढ़—चारित्र विशेषण दिया गया है।

जिनका चारित्र दृढ़ नहीं होता, वे असंयम का पूर्ण परिहार नहीं करते हैं, मात्र पाप—भीरु होने से असंयम का परिहार करते हैं, क्योंकि वे विचित्र दुःखों की खानरूप चार गतियों में भ्रमण के भय से व्याकुल होते हैं, परीषह को सहने वाले होते हैं। जो परीषहों से हार जाता है, वह संयम का पालन नहीं करता— ऐसा माना जाता है। क्षपक के न कहने पर भी उसके संकेत—मात्र से उसका अभिप्राय जानकर वैयावृत्य में प्रवृत्त हो जाते हैं, वे निर्यापक अभिप्राय को जानने वाले होते हैं तथा गुरुओं एवं क्षपक के विश्वासयोग्य होते हैं, असंयम में प्रवृत्ति नहीं करते, क्षपक की वैयावृत्ति में तत्पर रहते हैं। वे सागार और निरागार—प्रत्याख्यान के क्रम को जानते हैं। उक्त गुणों से युक्त होने पर भी जिन्होंने पहले किसी क्षपक की समाधि नहीं देखी है, ऐसे यतियों को गुरु-क्षपक की परिचर्या में नियुक्त नहीं करते हैं।

निर्यापक, यह योग्य है और अयोग्य है— इस प्रकार भोजन और पान की परीक्षा में कुशल होते हैं। वे क्षपक के चित्त का समाधान करने में तत्पर रहते हैं। जिन्होंने प्रायश्चित्त—ग्रन्थों को पढ़ा है या सुना है, जो सूत्र के अर्थ को हृदय से स्वीकार करते हैं, अपने और दूसरों के उद्धार करने के माहात्म्य को जानते हैं— ऐसे मुनि ही निर्यापक बनने के योग्य होते हैं। शास्त्र में इन निर्यापकों की अधिकतम संख्या अड़तालीस बताई गई है।⁴ क्षपक के शरीर के एक देश के स्पर्शन करने को

¹ प्राचीनाचार्य विरचित आराधना—पताका, गाथा— 42

² वही,, गाथा— 43

³ पियधम्मा दढधम्मा संविग्गा वज्जभीरुणो धीरा।

छंदम्णू पच्चइया पच्चखाणम्मि य विदण्हू।। 7 भगवती—आराधना — गाथा— 646

⁴ कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्सा।

गीदत्था भयवंतो अडदालीसं तु निज्जवया।। — वही — गाथा— 647

आमर्शन कहते हैं और समस्त शरीर का हस्त से स्पर्शन करने को परिमर्शन कहते हैं तथा इधर-उधर जाने को चंक्रमण कहते हैं, अर्थात् निर्यापक या परिचारक-मुनि क्षपक के शरीर को अपने हाथ से सहलाते हैं, दबाते हैं, चलने-फिरने में उसकी सहायता करते हैं, सोने-बैठने या उठने में भी उसकी सहायता करते हैं, उद्वर्तन, अर्थात् एक करवट से दूसरी करवट बदलवाते हैं, हाथ-पैर फैलाने और संकोचने में सहायता करते हैं।¹ चार परिचारक-यति मुनिमार्ग के अनुसार क्षपक की ऊपर कही गई शारीरिक-क्रियाओं में प्रतिदिन लगे रहते हैं। वे क्षपक की समाधि की कामना करते हुए परिचर्या करते हैं।²

चार परिचारक-मुनि विकथा त्यागकर चार प्रकार की धर्मकथा कहते हैं। धर्मकथा के चार प्रकार हैं- आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी।³ चार परिचारक-यति उस क्षपक के लिए उसको इष्ट खान-पान बिना ग्लानि के लाते हैं। उन्हें ऐसा संक्लेश नहीं होता कि कब तक हम इसके लिए लाएं। उनके द्वारा लाया गया खान-पान आदि उद्गम आदि दोषों से रहित होता है और वात-पित्त-कफ को उत्पन्न करने वाला भी नहीं होता है। क्षपक आहार की लिप्सावश आहार करना पसंद नहीं करता है, किन्तु भूख और प्यास-परीषह को शान्त करने हेतु खान-पान की इच्छा करता है। जो यति आहार लाते हैं, वे मायावी नहीं होते, अयोग्य आहार को योग्य नहीं कहते तथा वे मोह और अन्तराय-कर्मों का क्षयोपशम होने से भिक्षालब्धि से युक्त होते हैं। उन्हें भिक्षा अवश्य मिल जाती है। अलब्धिमान मुनि भिक्षा न मिलने पर खाली हाथ लौटकर क्षपक को कष्ट पहुँचाते हैं।⁴

चार परिचारक-मुनि क्षपक के लिए बिना ग्लानि के उद्गम आदि दोषों से रहित वात-पित्त-कफ को पैदा न करने वाला पानक लाते हैं। ये पानक (पेय पदार्थ) लाने वाले मुनि भी माया-रहित और भिक्षालब्धि से सम्पन्न होते हैं। आचार्य की अनुज्ञा से दो-दो मुनि भोजन और पान अलग-अलग लाते हैं।⁵

चार यति उन मुनियों के द्वारा लाए गए खान-पान की बिना किसी प्रकार की ग्लानि के, प्रमादरहित होकर रक्षा करते हैं, ताकि उनमें त्रसादि न गिरे, अथवा कोई उसमें त्रसादि जन्तु न गिरा दे। वे सब क्षपक की समाधि के इच्छुक होते हैं कि उसकी समाधि निर्विघ्न पूर्ण हो।⁶ चार

¹ अमासण परिमासणचंक्रमणसयण - णिसीदणे ठाणे।

उव्वत्तपरियत्तणपसारणा-उटणादीसु ॥ - भगवती-आराधना - गाथा- 648

² संजदकमेण खवयस्स देहकिरियासु णिच्चमाउत्ता।

चदुरो समाधिकामा ओलग्गंता पडिचरंति ॥ - वही - गाथा- 649

³ भत्तिस्थिरायणवदकंदप्पत्थऽणटिटयकहाओ।

वज्जित्ता विकहाओ अज्झप्पविराधणकरीओ ॥ - वही - गाथा- 650

⁴ चत्तारि जणा भत्तं उवकप्पेंति अगिलाए पाओग्गं।

छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥ - वही - गाथा- 661

⁵ चत्तारि जणा पाणायमुवकप्पेंति अगिलाए पाओग्गं।

छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥ - भगवती-आराधना - गाथा- 662

⁶ चत्तारि जणा रक्खन्ति दवियमुवकप्पियं तयं तेहिं।

अगिलाए अप्पमत्ता खवयस्स समाधिमिच्छंति ॥ - वही - गाथा- 663

मुनि क्षपक के मल-मूत्र विसर्जन का कार्य करते हैं और सूर्य के उदय तथा अस्त होने के समय वसति, उपकरण और संधारे की प्रतिलेखना करते हैं।¹

चार यति सावधानीपूर्वक क्षपक के द्वार की रक्षा करते हैं। ऐसा वे निर्यापक इसलिए करते हैं कि कोई असंयमी व्यक्ति अन्दर न चला आए। चार मुनि सावधानीपूर्वक समवशरण-द्वार, अर्थात् धर्मोपदेश करने के स्थान के द्वारों की रक्षा करते हैं।²

निद्रा को जीत लेने वाले और निद्रा को जीतने के इच्छुक चार यति रात में क्षपक के पास जागते हैं और चार मुनि अपने रहने के क्षेत्र की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों की परीक्षा करते हैं, अर्थात् जिस क्षेत्र में क्षपक समाधिमरण करता है, उस देश के अच्छे-बुरे समाचारों की खबर रखकर उनकी परीक्षा करते हैं कि समाधि में कोई बाधा आने का खतरा तो नहीं है।³ क्षपक के आवास के बाहर स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्त के ज्ञाता चार मुनि क्रम से एक-एक करके सभा में धर्म सुनने के लिए आए हुए श्रोताओं को पूर्व वर्णित चार कथाएँ इस प्रकार से कहते हैं कि दूरवर्ती मनुष्य उनका शब्द न सुन सके, अर्थात् क्षपक को सुनाई न दें। इतने धीरे से बोलने से क्षपक को किसी प्रकार की बाधा नहीं होती।⁴

अनेक शास्त्रों के ज्ञाता और वाद करने में कुशल चार मुनि धर्मकथा करने वालों की रक्षा के लिए सभा में सिंह के समान विचरते हैं, अर्थात् धर्मकथा में कोई विवादी यदि विवाद खड़ा कर दे, तो वाद करने में कुशल मुनि उसका उत्तर देने के लिए तत्पर रहते हैं।⁵ इस प्रकार, माहात्म्यशाली अड़तालीस निर्यापक-यति क्षपक की समाधि में उत्कृष्ट प्रयत्नशील रहते हुए उस क्षपक को संसार-सागर से निकलने के लिए प्रेरित करते हैं।⁶

ऊपर कहे गुणवाले यति ही निर्यापक होते हैं, किन्तु भरत ऐरावत-क्षेत्र में काल का विचित्र परिवर्तन होता रहता है और काल के अनुसार प्राणियों के गुण भी बदलते रहते हैं, अतः जिस काल में जिस प्रकार के शोभनीय गुण सम्भव हैं, उस काल में उस गुण वाले मुनि ही निर्यापक के रूप में ग्राह्य होते हैं। यहाँ कहते हैं- पांच भरत और पांच ऐरावत-क्षेत्रों में जब जैसा काल हो, तब उसी काल के अनुकूल गुण वाले अड़तालीस निर्यापक न मिलें, तो चवालीस निर्यापक स्थापित करना चाहिए।⁷ इस प्रकार, ज्यों-ज्यों काल का प्रभाव बढ़ता जाए, त्यों-त्यों देश-काल और परिस्थिति के

¹ काइयमादी सत्त्वं चत्तारि पदिदठवन्ति खवयस्स।

पडिलेहंति य उवद्योकाले सेज्जुवधिसंधारं।। - वही - गाथा- 664

² खवगस्स घरदुवारं सारक्खंति जदणाए दु चत्तारि।

चत्तारि समोसरणदुवारं रक्खंति जदणाए।। - वही - गाथा- 665

³ जिदणिददा तल्लिच्छा रादो जग्गति तह य चत्तारि।

चत्तारि गवेसंति खु खेत्ते देसप्पवत्तीओ।। - वही - गाथा- 666

⁴ वाहिं असददवडियं कहंति चउरो चदुब्बिधकहाओ।

ससमयपरसमविदू परिसाए समोसदाए दु।। - भगवती-आराधना - गाथा- 667

⁵ वादी चत्तारि जणा सीहाणुग तह अण्येयसत्थविद।

धम्मकहयाण रक्खाहेदुं विहरंति परिसाए।। - वही - गाथा- 668

⁶ एवं महाणुभावा पग्गिहिदाए समाधिजदणाए।

तं णिज्जवंति खवयं अइयालीसं हि णिज्जवया।। - वही - गाथा- 669

⁷ जो जारिसओ कालो भरदेखदेसु होई वासेसु।

ते तारिसया तदिया चोददालीसं पि णिज्जवया।। - वही - गाथा- 670

अनुसार चार-चार निर्यापक कम करते रहना चाहिए। अन्त में, चार निर्यापक भी समाधिमरण-साधना को सम्पन्न कर सकते हैं। अधिक काल खराब होने पर कम-से-कम दो निर्यापक भी होते हैं, किन्तु जिनागम में किसी भी अवस्था में एक निर्यापक नहीं कहा गया है।¹

एक निर्यापक के द्वारा आत्मसाधना का भी त्याग होता है, क्षपक का भी त्याग होता है और प्रवचन का भी त्याग होता है तथा दुःख उठाना होता है। इससे क्षपक का असमाधिमरण पूर्वक मरण होता है, धर्म में दूषण लगता है और दुर्गति होती है।² एक निर्यापक के द्वारा आत्मसाधना और क्षपक इस प्रकार बाधित होते हैं। आगे इसे इस प्रकार कहते हैं—

क्षपक का कार्य करते रहने से निर्यापक स्वयं के हेतु भिक्षा-ग्रहण, निद्रा और मलमूत्र का त्याग नहीं कर सकता और शारीरिक-मल न त्यागने से निर्यापक को कष्ट होता है। यदि निर्यापक भिक्षा के लिए भ्रमण करता है तथा सोता है और मल आदि त्यागने जाता है, तो क्षपक का त्याग करता है।³ अपना, अथवा क्षपक का त्याग करने पर यतिधर्म का त्याग होता है, क्योंकि यति का धर्म वैयावृत्य करना है। क्षपक को छोड़कर जाने पर उसका त्याग होता है, ज्ञान का भी व्युच्छेद होता है। निर्यापक के अभाव में वह मर भी सकता है, ऐसा होने से प्रवचन का त्याग होता है। यहाँ प्रवचन शब्द से जिनशासन कहा है। विद्वान् तो विरल ही होते हैं। अकेला निर्यापक उपवास आदि से अतिखिन्न होकर यदि मर जाए, तो कौन शास्त्रों का उपदेश देगा और कौन शास्त्रों को याद रखेगा? अतः प्रवचन का त्याग होता है।⁴ क्षपक को त्यागने पर क्षपक को दुःख होता है, क्योंकि उसका कोई भी परिचारक नहीं होता। भोजनादि त्यागने से निर्यापक को दुःख होता है तथा क्षपक को त्यागने पर क्षपक का असमाधिमरण होता है, क्योंकि उसके समीप में चित्त को समाधान देने वाला कोई नहीं होता है। आहार आदि के अभाव में निर्यापक की असमाधि होती है, क्योंकि वह भोजन आदि के त्याग से उत्पन्न दुःख से व्याकुल होता है।⁵ यदि निर्यापक आहारादि के लिए गया हो, तो उसके अभाव में क्षपक अयोग्य का सेवन कर सकता है, अथवा मिथ्यादृष्टियों के पास जाकर याचना कर सकता है कि मैं भूख व प्यास से पीड़ित हूँ, मुझे खाने को या पीने को दो।⁶ समीप में निर्यापक न होने पर क्षपक समाधि के बिना मरण कर सकता है और उस असमाधिमरण से अशुभ ध्यानवश दुर्गति में जा सकता है।⁷ योग्य आचार वाले आचार्य के द्वारा क्षपक की संलेखना हो रही है— यह सुनकर सब मुनियों को वहाँ जाना चाहिए, किन्तु यदि निर्यापक-आचार्य मन्द चारित्र वाला

¹ निज्जावया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण काल संसयणा।

एक्को णिज्जावयओ, ण होइ कइया वि जिणसुत्ते।। - वही - गाथा- 672

² एगो जइ निज्जवओ अप्पा चत्तो परो पवयणं च।

वसणसमाधिमरणं उड्डाहो दुग्गदी चावि।। - भगवती-आराधना - गाथा- 673

³ खवगपडिजग्गणाए भिक्खग्गहणादिमकुणमाणेण।

अप्पा चत्तो तव्विवरीदो खवगो हवदि चत्तो।। - वही - गाथा- 674

⁴ खवयस्स अप्पणो वा चाए चत्तो हु होइ जइधम्मो।

ग्गाणस्स य वुच्छेदो पवयणचाओ कओ होदि।। - वही - गाथा- 675

⁵ चायम्मि कीरमाणे वसणं खवयस्स अप्पणो चावि।

खवयस्स अप्पणो वा चायम्मि हवेज्ज असमाधि।। - वही - गाथा- 676

⁶ सेवेज्ज वा अकप्पं कुज्जा वा जायणाइ उड्डाह।

तण्हाछुधादिभग्गो खवओ सुण्णम्मि णिज्जवहे !।। - भगवती-आराधना - गाथा- 677

⁷ वही - गाथा- 678

हो, तो मुनिगण चाहें, तो जा सकते हैं, न चाहें, तो न जाएं।¹ जो मुनि तीव्र भक्ति-राग से संलेखना के स्थान पर जाते हैं, वे भी देवगति का सुख भोगकर उत्तम स्थान मोक्ष को प्राप्त करते हैं।⁴ जो जीव एक भव में भी समाधिमरणपूर्वक मरण को प्राप्त करते हैं, वे सात-आठ भव से अधिक काल तक संसार में परिभ्रमण नहीं करते हैं।⁵ जिसकी समाधिमरण में भक्ति नहीं है, उसका मरते समय समाधिपूर्वक मरण नहीं होता है।⁶ वचन-गुप्ति और वचन-समिति से रहित जो हल्ला-गुल्ला करने वाले लोग हैं, उन्हें क्षपक के समीप नहीं जाने देना चाहिए। यदि वे जाएं, तो वहीं तक जाएं, जहां तक से उनके वचन क्षपक को सुनाई न दें। ऐसे अशिष्ट जनों का क्षपक के समीप जाने का निषेध करने का प्रयोजन यह है कि उनके मर्यादारहित वचनों को सुनकर क्षपक की समाधि में बाधा हो सकती है, क्योंकि कमजोर व्यक्ति ऐसे-वैसे वचन सुनकर कुद्ध हो सकता है, अर्थात् उसके परिणाम संविलिष्ट हो सकते हैं।⁷ आगम के अर्थ के ज्ञाता मुनियों को भी क्षपक के पास में भोजन आदि की कथा नहीं करना चाहिए और आलोचना-सम्बन्धी अतिचारों की भी चर्चा नहीं करनी चाहिए। यदि करना ही हो, तो बहुत से युक्त आचार वाले आचार्यों के रहते हुए प्रच्छन्न रूप से ही करना चाहिए, जिससे क्षपक उसे न सुन सके।²

प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, उपदेश, नियोग-आज्ञादान, जल के सिवाय तीन प्रकार के आहार का त्याग, प्रायश्चित्त आदि सब प्रथम स्वीकार किए आचार्य के पास ही करना चाहिए, क्योंकि जिसे उस क्षपक ने अपना निर्यापक बनाया है, वही उसके लिए प्रमाण होता है, किन्तु वह निर्यापकाचार्य ऐसा करने में असमर्थ हो, तो उसकी अनुज्ञा से अन्य भी प्रमाण होता है।² युक्त आचार वाले अनेक आचार्यों के होते हुए भी क्षपक को प्रत्याख्यान आदि प्रथम स्वीकार किए निर्यापक के पास ही करना चाहिए। तेल और कसैले द्रव आदि से क्षपक को बहुत बार कुल्ले कराना चाहिए, इससे जीभ और कानों को बल मिलता है और मुख साफ होता है।

समाधिमरण-ग्रहण की विधि-

आराधना-पताका के अनुसार जिस व्यक्ति को अपनी शारीरिक-स्थिति से मृत्यु का पूर्वाभास हो जाए, तो उसे समाधिमरण के लिए उद्यत हो जाना चाहिए। समाधिमरण ग्रहण करने से पूर्व योग्य आचार्य या गुरु की तथा योग्य निर्यापकों की खोज की जाए। निर्यापक की खोज करने के लिए उसे क्षेत्र की अपेक्षा से एक-दो नहीं, बल्कि सात सौ योजन तक भी जाना पड़े, तो जाना चाहिए और काल की अपेक्षा से, जिनके सान्निध्य में समाधिमरण की साधना करना है, उनकी खोज बारह वर्ष तक भी लगातार करना पड़े, तो करना चाहिए। फिर, अगर योग्य गुरु मिल जाए, तो ही समाधिमरण करे। सर्वप्रथम, क्षपक गुरु की खोज करे, फिर अपने लिए संस्तारक-बिछौना की

³ वही - गाथा- 679

² भगवती-आराधना - गाथा- 685

³ वही - गाथा- 676

गवेषणा करे। संस्तारक की प्रतिलेखना करे कि कहीं कोई जीव-जन्तु तो नहीं, फिर निरवद्य-स्थान की खोज करे, जहाँ पर किसी भी प्रकार का शोरगुल न हो, एकान्त, शान्त, निर्जन वन में आसन लगाए, क्योंकि जहाँ शोरगुल होगा, वहाँ मन अशान्त बना रहेगा। समाधिमरण साधनामय जीवन की चरम व परम परिणति है। जीवन-पर्यन्त आन्तरिक-शत्रुओं के साथ किए गए संग्राम में अंतिम रूप से विजय प्राप्त करने का महान् अभियान समाधिमरण है, अतः इस हेतु पूर्व कृत्यों की आलोचना के पश्चात् समाधिमरण के योग्य निरवद्य-शान्त स्थान को प्राप्त कर सर्वप्रथम वहाँ संस्तारक, अर्थात् घास आदि की मृत्युशैया तैयार की जाती है, फिर आचार्य के सम्मुख, यदि पंच महाव्रतों का मुनि हो, तो पुनः ग्रहण और श्रावक हो, तो प्रथम बार पंच-महाव्रतों का ग्रहण किया जाता है। फिर अठारह पापस्थानों का त्याग तथा क्रमशः चतुर्विध आहार का त्याग कर देह के प्रति ममत्व का विसर्जन किया जाता है।

संधारा ग्रहण करने वाला पूर्व-उत्तर या ईशान-दिशा में मुँह करके सर्वप्रथम नमस्कार-मंत्र का उच्चारण करे। तत्पश्चात्, गुरु-वन्दनसूत्र से गुरु को वन्दन करे, फिर ईयापथ-प्रतिक्रमण करे। तस्स-उत्तरी के पाठपूर्वक एक इरियावहियं, एक लोगस्स व नमस्कार-मन्त्रपूर्वक ध्यान करके प्रकट में एक नमस्कार मन्त्र बोले। कायोत्सर्ग शुद्धि का पाठ बोले, फिर लोगस्स बोले, फिर देव, गुरु, संघ तथा चौरासी लाख जीव-योनियों से क्षमायाचना करे, तत्पश्चात्, यदि श्रावक हो, तो पुनः अहिंसा आदि बारह व्रतों का पचखाण कर ले और साधु हो, तो पुनः सामायिकपूर्वक पंच-महाव्रत और रात्रिभोजन-त्यागपूर्वक नवीन दीक्षा ले। पूर्वकृत पापों की निःशल्य होकर आलोचना करे। हिंसा आदि अठारह पापस्थानों का और चारों या तीनों आहारों का तीन करण, तीन योग से त्याग करे। इसके पश्चात्, संधारे में दृढ़ता के साथ स्थिरता बनी रहे, इस हेतु आर्तध्यान व रौद्रध्यान छोड़कर पूरे घर में धार्मिक-वातावरण बनाए रखना चाहिए। संधारा पूर्ण होने तक नमस्कार-मन्त्र, लोगस्स, नमोत्थुणं, नमोचउवीसाए, बारह भावना का स्वरूप, तीन मनोरथ का चिंतन, चार शरण ग्रहण कर संधारे को दृढ़ बनाने वाले स्तवन आदि उस क्षपक-मुनि या श्रावक को सुनाना चाहिए।

समाधिमरण का प्रथम कर्त्तव्य : गणत्याग

(अ) आराधना-पताका में गण-संक्रमण-

न जन्म हमारे हाथ में है, न मृत्यु, लेकिन जीवन कैसा जीना, जीवन को कैसे ढालना, यह हमारे हाथ की बात है। जन्म किस समय होगा, किस स्थान पर होगा या किस घर में होगा ? यह भी निश्चित नहीं है, न मृत्यु की तिथि निश्चित है, परन्तु हमारे हाथ में है-सम्पूर्ण जीवन, जो जीया जाता है। उसे ही जीवनचर्या भी कहते हैं। जीवन कैसे जीना है ? इसका चिंतन-मनन कर निर्णय किया जा सकता है।

जिस व्यक्ति का चिंतन गहराई से भर गया हो, वह व्यक्ति केवल जीने के लिए जीवन नहीं जीता है, अपितु मौत पर विजय पाने के लिए जीता है और सच्चाई यह है कि जो मौत पर विजय पाने के लिए जीता है, वही सच्चे अर्थों में जीवन जीता है। उसी का जीवन सार्थक है। प्राचीनाचार्यविरचित आराधना-पताका भी समाधिमरण की साधना का, यानी मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की कला का एक ग्रन्थ है। समाधिमरण तभी सम्भव है, जब व्यक्ति अपने मनोबल को मजबूत बना ले। साधना के मार्ग पर जिसने भी कदम बढ़ाया, वही समाधि में स्थित हो सकता है। प्रस्तुत कृति आराधना-पताका के तेरहवें गणनिसर्ग-द्वार में बताया गया है कि समाधिमरण की साधना करने वाला यदि स्वयं आचार्य है, तो जब उस आचार्य को यह ज्ञात हो जाए कि मेरा आयुष्य

स्वल्प¹ है, मैंने दीर्घ संयम का पालन किया है, मैंने शिष्यों को वांचना भी दी है, मैंने योग्य शिष्य—समुदाय तैयार कर दिए हैं, अब मुझे आत्मसाधना में लग जाना चाहिए,² तब वह अपने गच्छ का संचालन सुव्यवस्थित रूप से करने के लिए अपने योग्य शिष्य को बुलाकर कहता है कि मैं तो इस गण का त्याग कर दूसरे गच्छ में अपनी साधना—आराधना करने के लिए कदम बढ़ा रहा हूँ,² मुझे मेरा समय निकटस्थ नजर आ रहा है, अतः तुम इस संघ या गच्छ का संचालन उचित ढंग से करना, स्वाध्याय में सावधान रहना, गच्छ के मुनियों के प्रति स्नेहमयी दृष्टि रखना। तुम आलसी, प्रमादी मत बनना, तुम अष्टप्रवचन—माता की विधिपूर्वक प्रतिपालना करते हुए संयम में आगे बढ़ना।³ फिर, उस प्रधान शिष्य को अपने पद पर प्रतिष्ठापित करके सकल संघ को आमन्त्रित कर वह क्षपक आबाल—वृद्ध सभी से क्षमायाचना करता है⁴ और कहता है कि स्नेह व राग के वशीभूत होकर मैंने किसी को कटुक या कठोर वचन कहा हो, तो निःशल्य व निष्कषाय होकर क्षमायाचना करता हूँ।⁵ तब, उस क्षपक या आचार्य के वे शिष्य भी अपने गुरु के वचनों को सुनकर आनन्द से अश्रुपात करते हुए भूमिगत होकर अपने धर्माचार्य से त्रिविध (मन, वचन, काया) से क्षमा—याचना करते हैं। उस समय वह आचार्य अपने गच्छ का कल्याणक हो, इसके लिए अपने शिष्य—समुदाय या श्रावक—वर्ग को मधुर वाणी से कल्याणकारी, अनुशासन से जीवन जीने का पाठ्य देते हैं।⁶ इस प्रकार, समाधिमरण की साधना करने से पूर्व क्षपक या श्रावक को अपने शिष्यों या फिर अपने पुत्रों को कार्यभार सौंपकर ही जाना चाहिए और इस प्रकार आचार्य या मुनि को गणत्याग तथा गृहस्थ को गृहत्याग अवश्य करना चाहिए।

मुनि गच्छ में रहकर या श्रावक परिवार के बीच रहकर साधना के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ सकता है। गच्छमोह और गृही—जीवन का त्याग जरूरी है। गणत्याग न करूंगा, तो शिष्यों का व्यामोह संघ या संसार में फंसा लेगा और मैं अपनी साधना से च्युत हो जाऊंगा— इस प्रकार का विचार कर अपने गच्छ का त्याग करके वह क्षपक (सूरिक्षपक) सम्यक् प्रकार से भक्तपरिज्ञा—अनशन आराधनारूढ़ होता है।⁷

¹ आराहणं करितो जइ आयरिओ हविज्ज तो तेण।

नारुण आउकालं चिंतेयव्वं नियमणम्मि ॥ — आराधनापताका — गाथाद्वार— 13/103

² अवोच्छित्तिनिमित्तं ताहे गच्छाणुपालणत्थं च।

नाउं अत्तगुणसमं ठावेईं गणहरं धीरो ॥ —आराधनापताका, गाथा— 105

³ गणहर गुण संपन्नं वामे पासम्मि ठावइत्ताणं।

चुन्नाइं छुहइइ सीसे सच्चिताईं य अणुजाणे ॥ वही,, गाथा— 106

⁴ ठावेरुण गणहरं आमंतेरुण तो गणं सयलं।

खामे सबालवुड्डं पुव्वविरुद्धे विसेसेण ॥ वही,, गाथा—107

⁵ अन्नं पि जं पमार्यां न सुत्तु भे वट्टियं मए पुब्बिं।

तं भे खामेहि अहं निसल्लो निक्कसाओ य ॥ वही,, गाथा— 109

⁶ आणंदं मंसुपोयं कुणमाणाते वि भूमिगय सीसा।

धम्मायंरियं निययं सव्वे खामेति त्तिविहेण ॥ — वही — गाथा—110

⁷ ताहे संठविय गणं विहिणा, एमेव, गणनिसग्गं च।

कारुण, सूरिखवगो सूरिखवगो आराहण मारुहे सम्मं ॥ — आराधनापताका, गाथा—144

(ब) संवेगरंगशाला में गण-संक्रमण-

संवेगरंगशाला के अनुसार भी परगणसंक्रमण-विधि में सर्वप्रथम आचार्य अपने स्थान पर नूतन आचार्य को आसीन कर देता है, फिर अपने गण (समुदाय) एवं नूतन आचार्य को बुलाकर उनसे संलेखना ग्रहण करने के लिए परगण में प्रवेश हेतु आज्ञा मांगता है। जब शिष्य गुरु के मुख से गणत्याग की बात श्रवण करते हैं, तो वे अपने आर्द्र नेत्रों से एवं गद्गद् वाणी से गुरु को कहते हैं कि हे गुरुदेव ! यह आप क्या कर रहे हैं ? क्या हममें ऐसी बुद्धि, अर्थात् गीतार्थता नहीं है ? क्या हम आपके चरणों की सेवा के योग्य भी नहीं हैं,¹ क्या हम विधिपूर्वक संलेखना कराने में अकुशल हैं ? हे भगवन् ! क्या आपश्री का हमें त्याग कर जाना उचित है ? आज भी यह गच्छ आपश्री के द्वारा शोभा को प्राप्त हो रहा है। अपने शिष्यों द्वारा ऐसे वचन सुनकर आचार्य अपनी मधुर वाणी से इस प्रकार कहते हैं- "हे महानुभावों ! तुम्हारा यह सब सोचना, बोलना व्यर्थ है, क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिशाली व्यक्ति होगा, जो उचित कार्य में बाधक बनेगा ? अथवा, क्या आगम-शास्त्रों में इस प्रकार का विधान नहीं किया गया है, अथवा पूर्व में किसी ने इस प्रकार की समाधिमरण की साधना को अंगीकार नहीं किया है ? फिर, जीवन भी तो क्षणभंगुर है जीवन को प्रतिक्षण विनष्ट होता क्या तुम नहीं देख रहे हो, जिससे तुम मर्यादा से रहित होकर, आग्रह के वशीभूत बनकर ऐसा बोल रहे हो ।³ गुरु एवं आचार्य की वाणी को श्रवण कर शिष्यादि पुनः उनसे इस प्रकार अनुनय-विनय करते हैं- "हे भगवन् ! यदि आपको साधना ही करना है, तो अन्य गच्छ में जाने का क्या प्रयोजन है ? आप अपने गच्छ में ही इच्छित उद्देश्य को पूर्ण करें, क्योंकि यहां भी आपकी साधना को सुखद बनाने वाले गीतार्थ, उत्साही, निर्भयी, क्षमावान्, विनयवान्, संवेगी आदि गुणों से युक्त अनेक श्रमण हैं। इस तरह, शिष्यों के कथन का श्रवण कर उस कथन पर चिन्तन-मनन कर अपने हिताहित व लाभहानि का अनुचिन्तन करते हुए आचार्य को परगण में संक्रमण करना चाहिए। संवेगरंगशाला में यह भी निर्देश दिया गया है कि जो क्षपक या आचार्य अपने गच्छ में संलेखना ग्रहण करता है, उसे निम्न दोष लग सकते हैं- (1) आज्ञा-दोष (2) कठोर वचन (3) कलहकरण (4) परिताप (5) स्वच्छन्दता (6) स्नेह राग (7) करुणा (8) ध्यान में विघ्न आदि असमाधि का भाव आ सकता है।¹ इस बात को आगे स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि जब आचार्य अपने ही गच्छ में अनशन स्वीकार कर ले, तो स्थविर छोटे मुनि, नूतन दीक्षित मुनि, आदि आचार्य की आज्ञा की अवहेलना करते हों, तो इससे उनके मन में असमाधि व ग्लानि के भाव उत्पन्न होने की संभावना रहती है। साधुओं को असंयम में प्रवृत्ति करते देखकर कभी आचार्य कठोर वचन भी कह दे, इस स्थिति में श्रमण-वर्ग में सहनशीलता का अभाव होने के कारण वे उनसे कलह भी कर सकते हैं, इससे संताप-दोष लगता है। इसी तरह, कभी-कभी आचार्य को शिष्यादि के प्रति ममत्व-भाव से भी असमाधि उत्पन्न हो सकती है।² आगे यह भी कहा गया है कि अपने गच्छ के साधुओं को रागादि से पीडित देखकर भी आचार्य को दुःख या स्नेह आदि के कारण असमाधि के भाव उत्पन्न हो सकते हैं। अपने गच्छ में अपने शिष्यों पर विश्वास होने के कारण जब क्षपक तृषा एवं क्षुधा न सहन कर पाए, तो अकल्पनीय वस्तु की याचना भी कर सकता है। आत्यन्तिक-वियोग,

¹ संवेगरंगशाला गाथा / 4590-4602

² वही, गाथा 4603-4607

³ संवेगरंगशाला गाथा 4608-4609

⁴ वही - गाथा 4614-4617

अर्थात् मरण के समय अपने शिष्यों, बालमुनियों एवं साध्वियों को रोते देखकर उसके ध्यान में विघ्न भी उत्पन्न हो सकता है, साथ ही शिष्य-वर्ग आहार-पानी, सेवा शुश्रुषा में यदि प्रमाद करे, तो भी साधक को साधना में असमाधि उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। इस कारण, अपने गच्छ में या अपने शिष्यों के मध्य रहकर अनशन स्वीकार करने वाले को एवं उस गच्छ के नवीन आचार्य को अप्रशम-भाव से ये दोष लगते हैं। इन्हीं दोषों से बचने के लिए तथा आराधना निर्विघ्न रूप से सम्पन्न हो, इस हेतु आचार्य या क्षपक परगण में संक्रमण करता है, अर्थात् अपने गच्छ का त्याग करता है।¹

¹ संवेगरंगशाला - गाथा 4618-4623

(स) भगवतीआराधना में गण-संक्रमण-

भगवती-आराधना¹ में जब क्षपक या आचार्य समाधिमरण धारण करने का विचार करता है, तो उसे गणत्याग आवश्यक है। वह मन में सोचता है कि यह शरीर अशुचि से युक्त है, इसलिए वह शरीर-धारण से ग्लानि करता है। उसे, शरीर-धारण में कोई हर्ष नहीं होता। दुःख या रोगों के घर इस शरीर से डरकर समाधिमरण के भाव से वह अपने शिष्य के पास जाता है। संलेखना करने वाले दो प्रकार के होते हैं- एक आचार्य, दूसरे साधु। यदि आचार्य संलेखना धारण करने का निश्चय करे, तो उसे अपने संघ के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिए कि उसके बाद में संघ की व्यवस्था कौन संभालेगा ? इस पर विचार कर उसे संघ-संचालन की व्यवस्था करना चाहिए। अपनी आयु की स्थिति का विचार कर समस्त संघ को और बालाचार्य को बुलाकर, शुभ दिन, शुभ करण, शुभ नक्षत्र और शुभ लग्न में तथा शुभ देश में विहार करना चाहिए। भगवती-आराधना में भी परगणचार्य का कथन करते हैं। इस प्रकार, अपने गण से पूछकर रत्नत्रय में उत्कृष्ट रूप से प्रवृत्ति करने में तत्पर आचार्य आराधना करने के लिए दूसरे गण में जाने का अपना मानस दृढ़ करता है। दूसरे गण में किस कारण जाते हैं ? ऐसी आशंका होने पर अपने गण में रहने के दोष कहते हैं- अपने गण में रहने पर आज्ञाकोप, कठोर-वचन, कलह, दुःख, निर्भयता, स्नेह, करुणा ध्यान में विघ्न और असमाधि- ये नौ दोष होते हैं। इन्हीं दोषों का वर्णन संवेगरंगशाला में भी किया गया है।

अपने संघ में रहने पर किसी को आज्ञा दे और वह न माने, तो परिणामों में क्रोध का भाव हो सकता है। यदि कोई गलती करे, तो उसे अपना समझकर कठोर वचन भी बोलने आ सकता है। किसी को हित की प्रेरणा करने पर भी वह न माने, तो कलह पैदा हो सकता है। किसी को दोष (गलती) करते देखकर मन में संताप पैदा हो सकता है। रोगवश अपने ही परिणाम बिगड़ जाएं, तो किसी का भय न होने से अयोग्य आचरण भी कर सकता है। मरते समय परिचित साधुओं के प्रति स्नेहभाव आ सकता है, या किसी को दुःखी देखकर करुणा-भाव हो सकता है। ध्यान में बाधा पड़ सकती है और समाधि नहीं बन सकती है। ये सारे दोष अपने गण में रहकर समाधि करने में लग सकते हैं तथा अपने गण में ही रहे, तो किसी भी बात को लेकर वृद्ध मुनि अपयश कर सकते हैं। किसी को शिक्षा देने पर क्षुद्र अज्ञानी कलह कर सकते हैं। मार्ग को नहीं जानने वाले और कठोर स्वभाव वाले मुनि आचार्य की आज्ञा न मानें, तो आचार्य को कोप उत्पन्न होने से समाधि बिगड़ सकती है।

जो आचार्य अपना गण त्यागकर दूसरे गण में रहता है, उसे वहाँ शिक्षा आदि देने का काम नहीं रहता, इससे वहाँ आज्ञा-भंग का प्रश्न भी नहीं रहता। आज्ञा-भंग होने पर भी वह मन में विचारता है कि मैंने इनका कोई उपकार तो किया नहीं, तब ये मेरी आज्ञा का पालन क्यों करेंगे ? अतः आज्ञा-भंग होने पर भी उसके असमाधि नहीं होती। गुणों से हीन क्षुद्र मुनियों, तप से वृद्ध स्थविरो और रत्नत्रयरूप मार्ग को न जानने वालों को असंयमरूप प्रवृत्ति करते हुए देखकर ये हमारे शिष्य हैं, संघ के हैं- इस प्रकार के ममत्व-भाव से उनके प्रति कठोर कहा जाए, अथवा वे क्षुद्र आदि उन्हें कठोर वचन कहे, यह दूसरा दोष है। गुरु की शिक्षा को सहन न करने से आचार्य का भी उन क्षुद्र आदि के साथ कलह हो सकता है, और उससे आचार्य, अथवा उन क्षुद्र आदि मुनियों को दुःख आदि दोष होते हैं।

¹ भगवती आराधना, 386-400

वे क्षुद्र आदि गण में कलह, परिताप आदि दोष करें, तो उसे देखकर ममत्व-भाव से आचार्य को असमाधि हो सकती है। अपने शिष्य-वर्ग के छोटी-बड़ी व्याधियों से पीड़ित होने पर आचार्य को दुःख हो सकता है, अथवा स्नेह पैदा हो सकता है, उससे आत्मसमाधि की हानि हो सकती है।

अपने गण में रहकर समाधि करने पर, प्यास आदि परीषह उत्पन्न होने पर क्षपक भय तथा लज्जा को त्यागकर शिष्य से याचना भी कर सकता है, क्योंकि वहाँ उसे कोई भय नहीं रहता, क्योंकि सब उसी के शिष्यगण हैं। वृद्ध यतियों को, जिन्हें बचपन से अपनी गोद में बैठाकर पाला है, उन बाल यतियों को, आर्यिकाओं को अनाथ होते देखकर मरते समय सर्वदा के लिए वियोग होने पर स्नेह पैदा हो सकता है। क्षुल्लक-क्षुल्लिकाएँ, अर्थात् बालमुनि और आर्यिका भी गुरु का वियोग देखकर रो पड़ते हैं, तो आचार्य के ध्यान में विघ्न और असमाधि होती है।

खानपान और सेवा-टहल में शिष्यवर्ग के प्रमाद करने पर आचार्य को असमाधि हो सकती है, अर्थात् आचार्य को यह विकल्प पैदा हो सकता है कि हमने इनका उपकार किया और यह हमारी सेवा भी नहीं करते, इससे ध्यान में विघात होने से समाधि बिगड़ सकती है।

ये दोष विशेष रूप से अपने गण में रहकर समाधि करने वाले आचार्य से होते हैं। अन्य जहाँ भी, जो उपाध्याय या प्रवर्तक अपने गण में रहकर समाधिमरण करते हैं, उनके भी प्रायः ये दोष होते हैं। ये सब दोष दूसरे गण में निवास करने वाले आचार्य को नहीं होते, इसलिए समाधिमरण का इच्छुक आचार्य अपना गण छोड़कर परगण में समाधि के लिए जाता है।

समाधिमरण की प्रक्रिया का द्वितीय कर्त्तव्य

पूर्वकृत्यों की आलोचना-

जो आचार्य या क्षपक-मुनि समाधिमरण ग्रहण करना चाहता है, उसे सर्वप्रथम यथासम्भव अपने गण का त्याग करना चाहिए। उसके बाद वह अन्य आचार्य के समक्ष पूर्वकृत्यों की आलोचना करे। प्रस्तुत कृति के पन्द्रहवें आलोचना-द्वार में यह बताया गया है कि क्षपक गीतार्थ-गुरु, अर्थात् जिसके सान्निध्य में वह समाधिमरण करना चाहता है, उन्हीं के सान्निध्य में निष्कपट हृदय से अपने पूर्वकृत्यों की आलोचना करें, क्योंकि जिनशासन में सशल्य-आराधना से आत्मशुद्धि नहीं होती है।¹

जिस प्रकार एक बालक निष्कपट भाव से या सरल हृदय से अपने कृत्य-अकृत्य कार्यों को सरलतापूर्वक कह देता है, उसी प्रकार क्षपक भी अज्ञानतावश या राग-द्वेष के वश, अथवा अन्य किसी भी कारण से जो कुछ भी अकृत्य किया हो, उनका स्मरण करके उनकी पुनरावृत्ति न करने का प्रण करे, उसका प्रतिक्रमण करे तथा मन पर उनका भार नहीं रखे।² इसी प्रकार, आगे इसी आलोचना-द्वार में बताया गया है कि भवव्याधि-विदारक वैद्य के समान ज्ञान का, ज्ञानीजनों का, ज्ञानोपकारकों का, पुस्तक, पुस्तक-पोथीरूप ज्ञान के उपकरणों के प्रति जो भी प्रदोष, निन्दा, हीलना, अविनय, उपहास किया हो, तो उसकी आलोचना करे।³

¹ सगुरुण अलामम्मि आलोएज्जाऽववायओ ।

पासस्थाणं पि गीयाणं काउं सव्वं पि तं विहिं ।। - आराधनापताका - गाथा- 169

² जह बालो जंपंतो कज्जंमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।

तं तह आलोएज्जा माया मय-विप्पमुक्को य ।। - आराधनापताका - 172

³ नाणोवगारयाणं पुत्थीणं पुत्थयाणं कवलीणं ।

पट्टीणं टिप्पणाणं पइपभिईणं अणेगाणं ।।

निंदा-पओस-हीला-अविणय-उवहास- चरणघट्टाई ।

आसायणा मए जा विहिया इण्हं तमालोए ।। - वही - 178-179

इसके पश्चात् बताया गया है कि आत्मशुद्धि का साधक क्षपक इन अतिचारों की आलोचना करे, जैसे— मैंने समकितधारी आचार्य, उपाध्याय, श्रमण—श्रमणियों, श्रावक—श्राविकाओं, अथवा देव—देवियों का एवं जिनबिम्ब आदि के प्रति जो भी अवज्ञा व प्रतिकूल कार्य किया हो, जिनमन्दिर की आशातना की हो, भोगों के प्रति आसक्ति को नहीं तोड़ा हो, तो उन सभी की आलोचना करता हूँ।³

पुनः, आगे बताया गया है कि समाधि को चाहने वाला क्षपक सोचे कि मैंने पांच समिति, तीन गुप्ति का पालन न किया हो², मूलगुण, उत्तरगुण में दोष लगा हो, राग—द्वेष के वशीभूत होकर मेरे द्वारा पृथ्वी, कायादि पाँच एकन्द्रिय जीवों, द्वीन्द्रिय³, त्रीन्द्रिय, चौरन्द्रिय, पन्चेन्द्रिय तथा समूर्च्छिम एवं गर्भज मनुष्यों को आघात लगाया हो, प्रगाढ़ परिपावना दी हो, उपद्रव किया हो, तो उस सबकी आलोचना करता हूँ।⁴

इसी प्रकार, पांचों महाव्रत एवं रात्रिभोजनविरमण—व्रत में कोई भी दोष लगा हो, तो उसकी भी मैं आलोचना करता हूँ।⁵ आगे तप के विषय में कहा गया है कि क्षपक यह भी सोचे कि मैंने प्रमाद के कारण बारह प्रकार के तप नहीं किए हों, अविधिपूर्वक किए हो, तो उसकी आलोचना करता हूँ।⁶

आगे, वीर्याचारातिचारालोचना—द्वार में यह बताया गया है कि क्षपक को अपने मन में यह चिन्तन करना चाहिए कि यदि पूर्व में जिन भगवान् द्वारा प्रतिपादित मुक्ति के मार्ग की साधना के लिए मैंने पराक्रम नहीं किया हो, तो मैं उसकी भी आलोचना करता हूँ।⁷ श्रावक भी यदि समाधिमरण ग्रहण करने का इच्छुक है, तो वह भी पांच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों एवं चार शिक्षाव्रतों में जो—जो अतिचार लगे हों, उनकी आलोचना करे। इसी प्रकार, मुनि—क्षपक भी पांच महाव्रतों एवं मूलगुणों, उत्तरगुणों में तथा रात्रिभोजनविरमण—व्रत में जो कोई दोष लगा हो, तो उनकी सम्यक् आलोचना करे।⁸ वह क्षपक आलोचना करते समय इस प्रकार कहे— मैं मूढमति हूँ, मैं छद्मस्थ हूँ,

1 तह सम्मत्तधराणं जिण—सिद्धाऽऽयरिय—वायगाणं च ।
समण—समणीणं सावय—सड्डीणं देव—देवीणं ॥ — वही— 182
सम्मत्त कारणाण य जिणहर—जिणबिंब—रहवराईणं ।
जमिह अवन्ना— पडिणीययाइ विहियं तमालोए ॥ — वही — 183

2 जं पंचसु समिईसुं तिसु गुत्तीसु पमायदोसेणं ।
वितहासेवणमिणिहं तस्स पव्वज्जामि पच्छित्तं ॥ — वही —186

3 पाणाइवाए एगिंदियाण पुढवाइयाण पंचणहं ।
किमि—जलुग—अलस—पूयरपमुहाण बिइंदियाणं तु ॥ — वही — 187

4 जलयर—थलयर—रवहयर—उर भुयसप्पाण तिरिपणिदीणं ।
सुमुच्छि—मगम्भाणं मणुयाणं वि राग दोसाओ ॥ — वही —189

5 उत्तरगुणाण पुण पिंडसोहिमाईणं कहवि जं किंचिं ।
खंडिय विराहियं वा आलोएमी तयं सव्वं ॥ — आराधनापताका — 196

6 बारसविहम्मि वि तवे पमाइयं जं मए समत्थेणं ।
अविहीए वा विहियं जं पि तवो तं पि आलोए ॥ — वही — 198

7 आराधनापताका — द्वार— 15 — गाथा— 199

8 आराधनापताका — द्वार— 15 — गाथा— 201

मैंने जो भी पाप किए हों, किन्तु यदि वे मेरी स्मृति में न हों, फिर भी मैं उनकी सम्यक् आलोचना करता हूँ।¹ आगे क्षपक इस प्रकार कहे— अरिहन्त, सिद्ध, साधु व स्व—आत्मा की साक्षी से एवं वर्तमान में विहरमान सीमंधर स्वामी आदि की साक्षी से जो—जो मुझे स्मरण है तथा जो—जो मुझे स्मरण नहीं भी है, उन सबकी मैं आलोचना करता हूँ।²

इस प्रकार, अपने पूर्वकृत पापों की आलोचना करता हुआ विशुद्ध परिणामों से युक्त आराधक मान व माया से विप्रमुक्त होकर, अर्थात् कषायों का भार उतारकर रख देने वाले भारवाहक के समान अत्यन्त हल्का हो जाता है।³ जो क्षपक लज्जा, अभिमान और ज्ञान ले मद में मदोन्मत्त होकर अपने दुष्कृत्य को गुरु के सम्मुख नहीं कहता है, वह वस्तुतः आराधक नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार, समाधिमरण का इच्छुक साधक पूर्वकृत्यों की आलोचना करके अपने पापों का प्रक्षालन करे।⁴ संसार में व्यक्ति अनेक प्रकार की गलतियां करता है। गलतियों (भूलों) के एवं कर्त्ता परिस्थितियों के अनुसार प्रायश्चित्त के भी विविध भेद किए गए हैं।

भगवती—सूत्र⁵ एवं स्थानांगसूत्र⁶ में प्रायश्चित्त के दस प्रकार बताए गए हैं, जबकि तत्त्वार्थसूत्र⁷ में पारांचिक को छोड़कर प्रायश्चित्त के नौ भेद किए गए हैं। प्रायश्चित्त के दस भेद इस प्रकार हैं— 1. आलोचनाई 2. प्रतिक्रमणार्ह 3. तदुभयार्ह 4. विवेकार्ह 5. व्युत्सगार्ह 6. तपार्ह 7. छेदार्ह 8. मूलार्ह 9. अनवस्थाप्यार्ह और 10. पारांचिकार्ह।

प्रायश्चित्त के इन दस भेदों में से प्रथम स्थान आलोचना का है।

आलोचना—

अपने दोषों को सरल एवं सहज रूप से गुरु के समक्ष प्रकट करना ही आलोचना है। आलोचना स्व—निन्दा है। परनिन्दा करना सरल है, परन्तु स्वयं के दुष्कृत्यों को प्रकट करना अति दुष्कर है। जिसका मन बच्चे की तरह निष्कपट होता है, सरल होता है, वही अपने दोषों को प्रकट कर सकता है।⁸

‘संवेगरंगशाला’ के आलोचनाविधि—द्वार⁹ में जिनचन्द्रसूरि लिखते हैं— रत्नत्रयी की साधना हेतु क्षपक परगण में अचारवान् आदि गुणों से युक्त निर्यापक की शरण को ग्रहण करता है। इस तरह, वह परगणसंक्रमण कर वहाँ आलोचना करके निःशल्य होकर अंतिम आराधना द्वारा अपनी

¹ छउमत्थो मूढमणो कितियमित्तं तु संभरइ जीवो।

जं च न सुमरामि अहं मिच्छा मे दुक्कडं तस्स॥ — वही — 208

² अरहंतसक्खियं सिद्ध—साहू—देव ऽप्पसक्खियं तह य।

सीमंधर—जुगमंधरसामीण चव सक्खीयं॥ — वही — 209

³ कयपावो वि मणुस्सो आलोइय निंदियं गुरुसगासे।

होइ अइरेगलहुओ ओहरियभरोव्व भारवहो॥ — आराधनापताका— गाथा— 212

⁴ लज्जाए गारवेण य बहुस्सुयमएणवा विदुच्चरियं।

जे न कहिंति गुरुणं न हु ते आराहगा भणिया॥ — वही — गाथा— 213

⁵ भगवतीसूत्र — 5/25

⁶ स्थानांगसूत्र — स्थान — 10

⁷ तत्त्वार्थसूत्र — 9/22

⁸ ओघनिर्युक्ति — 801

⁹ संवेगरंगशाला, गाथा, 4871—4876

आत्मा को शुद्ध करने का प्रयत्न करता है। यदि वह क्षपक निर्यापक—आचार्य के पास अपने दुष्कृत्यों की आलोचना नहीं करता है, तो अपनी आत्मा को शुद्ध नहीं कर पाता और परिणामस्वरूप संसार से भी मुक्त नहीं हो पाता।

सवेगरंगशाला¹ में आलोचना के दस द्वारों का विवरण किया गया है, जो इस प्रकार है—

1. आलोचना कब और किसके समक्ष की जाए ?
2. जिसके समक्ष आलोचना की जाए, वह कैसा हो ?
3. आलोचना करने वाले का स्वरूप कैसा हो ?
4. आलोचना के दस दोष।
5. आलोचना नहीं करने से उत्पन्न होने वाले दोष।
6. आलोचना के गुण।
7. आलोचना दूसरे की साक्षी में करें।
8. आलोचना की विधि एवं मर्यादाएं।
9. प्रायश्चित्तविधि।
10. आलोचना का प्रतिफल।

1. आलोचना कब करना चाहिए ?—

जिस प्रकार व्यक्ति यात्रा करता है, चलते समय कांटा लग न जाए, इस कारण वह अप्रमत्त व सावधान होता हुआ गमन करता है, उसी प्रकार साधक को भी अप्रमत्त होकर संयम की आराधना करना चाहिए, फिर भी किसी कारणवश मुनि—आचार अथवा व्रतों में दोष लग ही जाते हैं, तो उन दोषों की शुद्धि हेतु आलोचना करना चाहिए। यदि किसी कारणवश कोई अपराध हो गया और कहना भूल गया हो, तो उस अपराध की आलोचना या तो पाक्षिक, अथवा चातुर्मासिक या वार्षिक—प्रतिक्रमण (संवत्सरी) के दिन तो अवश्य कर लेना चाहिए। इस तरह, आलोचना का समय आने पर प्रमत्त एवं अप्रमत्त—दोनों प्रकार के साधुओं को अपने पापों का प्रायश्चित्त करना चाहिए।²

आलोचना किसकी ?—

सवेगरंगशाला में कहा गया है कि आराधना में उद्यमशील बनें। उत्तम साधक को दुर्ध्यान के अधीनस्थ होकर ऐसा चिंतन नहीं करना चाहिए कि मैंने अनेक आचार्यों के पास आलोचना कर ली है और उनके द्वारा दिए गए प्रायश्चित्त को भी मैंने स्वीकार कर लिया है और तब से मैं अपनी सभी क्रियाओं का सम्पादन सावधानीपूर्वक कर रहा हूँ, अतः अब मुझे आलोचना करने की आवश्यकता नहीं है, साथ ही गृहस्थ—उपासक को भी अपने व्रतों में लगे हुए सूक्ष्म अतिचारों की भी आलोचना करना चाहिए।

सवेगरंगशाला में आगे यह भी कहा गया है कि देशचारित्र स्वीकार करने वाले श्रावक को दोष लगते ही हैं, क्योंकि वह सर्वविरति नहीं है, जैसे— प्रथम व्रत में वह छःकाय जीवों की विराधना से विरत नहीं हो पाता है, मात्र त्रसकाय के जीवों की हिंसा से विरत होता है, एकेन्द्रिय जीवों की

¹ सवेगरंगशाला — गाथा— 4871—4876

² सवेगरंगशाला — गाथा— 4877—4883

सम्यक् यतना नहीं कर पाने से इन जीवों को परिताप या दुःख आदि देने से जो अतिचार लगा हो, उसे आचार्य के समक्ष प्रकट करे।

इसी तरह, बारह ही अन्य अणुव्रतों या व्रतों में जो-जो भी अतिचार लगे हो, उनकी आलोचना श्रावक को भी करना चाहिए।¹ जिस तरह प्राचीनाचार्यविरचित आराधना-पताका में भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र-वीर्याचार की आलोचना की है, उसी प्रकार संवेगरंगशाला में भी तप, वीर्य एवं दर्शन सम्बन्धी आलोचना का वर्णन किया गया है। श्रावक को इन सभी अतिचारों की सम्यक् आलोचना करने के पश्चात् जैन-आगमों के विरुद्ध जो भी कार्य किया हो, या करने योग्य कार्य न किया हो, अथवा करते हुए भी सम्यक् प्रकार से नहीं किया हो तथा जिनवचन में श्रद्धा नहीं की हो, इन सबकी सम्यक् रूप से आलोचना करना चाहिए। इसमें आगे श्रावक की आलोचना के पश्चात् मुनि की आलोचना का उल्लेख है। उसमें अनेक स्थानों पर अष्ट प्रवचन माता, अर्थात् पांच समिति, तीन गुप्ति का उल्लेख मिलता है, साथ ही आलोचनाविधान-द्वार में मुनि को किन-किन अतिचारों की आलोचना करनी चाहिए, इसका भी स्पष्ट उल्लेख है।²

2. आलोचना किसके समक्ष करना चाहिए ?-

जिस प्रकार रोगी पुरुष अपने रोगों को किसी कुशल चिकित्सक के सामने ही प्रकट करता है, उसी तरह साधक को भी अपने दोष कुशल आचार्य के सामने ही प्रकट करना चाहिए। प्रायश्चित्तदाता को शास्त्रों का ज्ञान होना जरूरी है। जिसकी दृष्टि सम्यक् हो, जो दीर्घदृष्टा हो, ऐसे आचार्य के समक्ष भावशल्यको निकालना चाहिए। ऐसे आचार्य के समक्ष अपने भावशल्य का प्रकटीकरण करना चाहिए।

संवेगरंगशाला में प्रायश्चित्त देने के दो आधार कहे गए हैं, आगम-व्यवहार और श्रुत-व्यवहार।³ परवर्तीकाल में आज्ञा-व्यवहार, धारणा-व्यवहार एवं जीत-व्यवहार को भी प्रायश्चित्त का आधार माना गया है।

इसी तरह, प्रवचन-सारोद्धार में भी प्रायश्चित्त के यहीं पांच आधार बताए गए हैं।⁴

उपर्युक्त पांचों प्रकार के व्यवहार को जानने वाले ही प्रायश्चित्त देने के अधिकारी हैं। इन पांचों व्यवहारों में से किसी एक व्यवहार के आधार पर गीतार्थ ही प्रायश्चित्त देने का अधिकारी है, अगीतार्थ को प्रायश्चित्त देने का सर्वथा निषेध है। प्राचीनाचार्यविरचित आराधना-पताका के पांचवें अगीतार्थ-द्वार में भी यही कहा गया है कि गीतार्थ के समक्ष ही अपनी आलोचना करें व अपने उत्तमार्थ विधि की आराधना करें।⁵

3. आलोचना करने वाले का स्वरूप-

आलोचना वही व्यक्ति कर सकता है, जो जाति, कुल एवं विनय से सम्पन्न हो, ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के गुणों से युक्त हो, क्षमादान को धारण करने वाला हो एवं मायाचार से रहित अपश्चात्तापी हो।⁶ संवेगरंगशाला की तरह स्थानांगसूत्र एवं भगवती-सूत्र में भी, दस स्थानों से सम्पन्न अणगार

¹ वही - गाथा- 3027-3046

² संवेगरंगशाला - गाथा- 5045-5062

³ वही - गाथा- 4885-4886

⁴ प्रवचनसारोद्धार गाथा- 854,

⁵ आराधनापताका - गाथा 63

⁶ संवेगरंगशाला - गाथा- 4901-4910

ही अपने दोषों की आलोचना करने के योग्य होता है— ऐसा कहा गया है,¹ इसलिए संवेगी, अपश्चात्तापी आदि गुणों से युक्त साधु को ही आलोचना देना चाहिए। प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाले के मन में ऐसा विचार आना चाहिए कि मैं धन्य हूँ कि जिस कारण इस जन्म में ही आचार्यश्री ने मुझ पर महती कृपा कर मुझे कृतार्थ कर मुझे विशुद्ध कर दिया, अन्यथा परलोक में इन दुष्कृत्यों के भयंकर परिणाम (कष्ट) सहन करने पड़ते, अतः प्रायश्चित्त लेकर मैं निर्भय बनूँ और पुनः दोष-रहित जीवन-यापन करने के लिए उद्यमी बनूँ।

4. आलोचना के दोष—

संवेगरंगशाला में आलोचना के दस दोष कहे गए हैं—

- (1) आकम्प्य—आकम्पित—दोष, (2) अनुमन्य या अनुमानित—दोष (3) दृष्ट—दोष (4) बादर—दोष (5) सूक्ष्म—दोष (6) छन्न—दोष (7) शब्दाकुलित—दोष (8) बहुजन—दोष (9) अव्यक्त—दोष एवं (10) तत्सेवी—दोष ।

संवेगरंगशाला में आलोचना के दस दोषों की प्रतिपादक जो गाथा दी गई है, वही गाथा स्थानांगसूत्र में भी मिलती है ।²

भगवती-आराधना में भी आलोचना के दस दोषों की जो गाथा मिलती है, वह इसी प्रकार की है।¹ इस प्रकार, आलोचना के दस दोष सभी परम्पराओं में एक समान ही मिलते हैं।

(1) आकम्प्य या आकम्पित दोष—

आलोचना करने वाले के मन में ऐसा चिन्तन नहीं होना चाहिए कि मैं गुरु की ऐसी सेवाभक्ति करूँ, जिससे गुरु प्रसन्न होकर मुझे अल्प प्रायश्चित्त दें। इस तरह, अल्प प्रायश्चित्त से ही सम्पूर्ण पापों का प्रक्षालन कर लूँ— ऐसी भावना से आहार, जल, उपकरण आदि की सेवा से गुरु को आधीन करके फिर आलोचना करूँ— यह विचार ही आलोचना का प्रथम दोष है। जिस प्रकार जीने की आकांक्षा से युक्त मनुष्य अहितकर को भी हितकर मानता है, वैसे ही इस दोष को भी समझना चाहिए।

(2) अनुमान्य—दोष—

इसमें शिष्य अपनी दुर्बलता प्रकट करके तदनुसार गुरु के समक्ष दोष निवेदन करता है, जिससे कि गुरु अधिक प्रायश्चित्त न दे, अर्थात् गुरु अल्प प्रायश्चित्त दे। इस भाव से वह अनुनय कर आलोचना करता है। इस दोष को, सुख की चाह से अहितकर भोजन को भी हितकारी मानकर खाने के समान कहा गया है।

¹ (क) वही — गाथा— 49¹¹ (ख) स्थानांगसूत्र, 107 (ग) भगवतीसूत्र, 25/107.

² आकंपइत्ता अणुमाइत्ता, जं दिट्ठं बायरंचसुहुमं बा ।

छण्णं सददाउलगं बहुजण अव्यक्त तत्सेवी । — स्थानांगसूत्र, दशमस्थान, पृ. — 707

³ आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च ।

छण्णं सददाउलयं बहुजण अब्बत्त तत्सेवी ॥ — भगवतीआराधना, गाथा 564

(3) दृष्ट-दोष-

इसमें गुरु आदि के द्वारा जो दोष देख लिए जाते हैं, शिष्य (साधक) उन्हीं दोषों की आलोचना करता है, अन्य अदृश्य दोषों की आलोचना नहीं करता है। इस दोष को खोदे हुए कुएं में फिर से मिट्टी भरने के समान कहा गया है।

(4) बादर-दोष-

इसमें शिष्य (साधक) केवल स्थूल या बड़े दोष की आलोचना करता है, सूक्ष्म दोष की आलोचना नहीं करता है। जिस प्रकार कांसे की थाली बाहर से उज्ज्वल तथा भीतर से श्यामवर्ण की होती है, उसी प्रकार सशल्य आत्मा बाहर से निर्दोष एवं भीतर से सदोष, अर्थात् दूषित परिणामों वाली होती है।

(5) सूक्ष्म-दोष-

इसमें शिष्य (साधक) केवल छोटे दोषों की आलोचना करता है, अर्थात् भय, माया, अभिमान आदि से जो केवल सूक्ष्म (सामान्य) दोष हैं, उन दोषों की आलोचना करता है, लेकिन स्थूल दोषों को गुप्त रखता है। आलोचना के ऐसे दोषों को पीतल पर सोने का झोल (घरत) चढ़ाने के समान कहा गया है।

उपर्युक्त दोनों दोषों में यह विचारधारा रही होती है कि जो बड़े से बड़े दोषों की आलोचना कर सकता है, वह छोटे दोषों की आलोचना क्यों न करेगा? यहां बड़े या छोटे दोषों की आलोचना कर बड़े दोषों को छिपाने की भावना रहती है। इस तरह यह मन में धूर्तता रखकर आलोचना करना है।¹

(6) छन्न-दोष-

किसी साधक के पंच महाव्रत में से कोई भी व्रत के खण्डित होने पर उसे जो प्रायश्चित्त दिया जाता है, (साधक) उसे जानकर आचार्य के समक्ष आलोचना किए बिना ही, या आचार्य को बिना बताए ही, वह (साधक) स्वयं ही उस दोष-प्रायश्चित्त को स्वीकार कर लेता है। इसी प्रकार, वह लज्जा का प्रदर्शन करता है और आचार्य को एकान्त स्थान में ले जाकर इतने धीरे और अस्पष्ट शब्दों में आलोचना करता है कि जिससे प्रायश्चित्त देने वाले एवं अन्य सुन न सकें। जो दोषों को कहे बिना शुद्धि की इच्छा रखता हो, उसे मरीचिका के जल के आभास के समान जानना चाहिए। जैसे उस मृग की इच्छा पूर्ण नहीं होती है, वैसे ही अपने दोषों को कहे बिना आत्मा की शुद्धि नहीं हो सकती है।

(7) संददउलयं या शब्दाकुलित-दोष-

इस दोष में साधक पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण के समय कोलाहलपूर्ण वातावरण में अपने दोषों को इस तरह से कहता है कि जिससे किसी को सुनाई न दे। इस दोष को फूटे घड़े के समान कहा गया है। जैसे फूटे घड़े में पानी नहीं टिकता है, वैसे ही आलोचना का फल उसे प्राप्त नहीं होता है।

'स्थानांग-सूत्र' के अनुसार, इस दोष में उच्च स्वर से बोलकर आलोचना करना जिससे कि दूसरे अगीतार्थ साधु सुन लें- ऐसा उल्लेख है।

¹ संवेगशाला गाथा- 4912-4929

(8) बहुजन-दोष-

इसमें साधक गुरु के पास आलोचना करके, फिर शंकाशील हो, उसी दोष की अन्य अनेक आचार्यों के पास जाकर आलोचना करता है। मैं कितना पापभीरू हूँ, लोग मेरी प्रशंसा करे- इस भाव से भी वह अनेक आचार्यों के पास आलोचना करता है। इसे बहुजन नामक दोष कहा गया है। जैसे अंदर शल्य रह जाने पर रोगी को भयंकर वेदना होती है, वैसे ही यह प्रायश्चित्त भी भयंकर दुःखदायी है।

(9) अव्यक्त-दोष-

शिष्य ऐसे अगीतार्थ गुरु के पास आलोचना करता है, जिसे यह भी ज्ञात नहीं कि किस दोष का क्या प्रायश्चित्त आता है। जैसे दुर्जन से की गई मैत्री अन्त में अहितकर होती है, वैसे ही इस तरह से लिया हुआ प्रायश्चित्त लाभदायक नहीं होता है।

(10) तत्सेवी-दोष-

जिस दोष की आलोचना करना है, उसी दोष का जिसने सेवन किया हो, उसके पास आलोचना करना, जिसमें गुरु एवं शिष्य- दोनों का समान अपराध हो, उसे तत्सेवी-दोष कहते हैं। इस दोष में, गुरु मुझे अधिक प्रायश्चित्त नहीं देगा- ऐसा विचार कर वह आलोचना करता है। जो मूढात्मा रक्त से सने कपड़े को रक्त से साफ करता है, वह उस वस्त्र को शुद्ध नहीं कर पाता है, उसी तरह इस आलोचना के दोष को जानना चाहिए।

आलोचक को आलोचना के इन दस दोषों से बचना चाहिए। जब स्वयं को शुद्ध करने का निश्चय कर लिया है, तब आचार्य भगवन्त कितना प्रायश्चित्त देंगे आदि के विकल्प को छोड़कर जो भी प्रायश्चित्त मिले, उसे स्वीकार करना चाहिए।¹

(4) आलोचना नहीं करने से होने वाले दोष-

लज्जा, गारव अथवा बहुश्रुतज्ञान आदि के अभिमान से जो अपना दुश्चरित्र (दोष) गुरु के सम्मुख प्रकट नहीं करता है, वह निश्चय से आराधक नहीं होता है, अतः किंचित् भी भूल हो जाए, तो साधक को गुरु के पास आकर बिना लज्जा उन दोषों को कहना चाहिए। लज्जा हमेशा अकार्य करने में होना चाहिए। इस विषय में एक युवराज का उदाहरण कहा गया है।

एक युवराज प्रतिदिन मैथुन का सेवन करता था, जिससे उसे रोग उत्पन्न हुआ, किन्तु लज्जावश वह अपना रोग वैद्य के समक्ष प्रकट नहीं करता था। इससे उसका रोग और बढ़ने लगा, जिससे वह भोग से वंचित हुआ एवं अंत में तीव्र वेदना से मृत्यु को प्राप्त हुआ। इससे यह फलित होता है कि जिस लज्जावश युवराज ने अपने प्राणों को खोया, उसी प्रकार आलोचना करते समय लज्जा रखने से साधक असंयम में वृद्धि करता हुआ अपने संयम को खो देता है।²

6. आलोचना के गुण-

स्वयं के दोषों की आलोचना करने से साधक को आठ गुण प्रकट होते हैं। वे अनुक्रम से इस प्रकार कहे गए हैं- 1. लघुता 2. प्रसन्नता 3. स्व-परदोष-निवृत्ति, 4. माया का त्याग 5. आत्मा

¹ संवेगरंगशाला गाथा- 4930-4999

² वही, गाथा- 4948-4953

की शुद्धि 6. दुष्कर-क्रिया, 7. विनय की प्राप्ति एवं निःशल्यता। जो साधक सरल हृदय से अपराधों को प्रकट करता है, वह उपर्युक्त इन आठ गुणों को प्राप्त करता है।

7. आलोचना दूसरों की साक्षी में करें-

मेरे जैसा प्रायश्चित्तदाता, अर्थात् जानकार दूसरा कोई नहीं है, अथवा मुझसे अधिक ज्ञानवान् दूसरा कौन है ? इस तरह अभिमानवश जो अपने अपराधों को प्रकट नहीं करता है, वह महात्मा प्रमादादि से रोग की औषधि नहीं करने वाले रोगी वैद्य-चिकित्सक के समान आराधनारूपी आरोग्यता को प्राप्त नहीं करता है। जैसे कोई वैद्य रोग से ग्रसित हो एवं अभिमानवश अपने रोग को अन्य वैद्य के समक्ष प्रकट नहीं करता हो, तो वह सैकड़ों औषध करने पर भी रोग की पीड़ा से मर जाता है, उसी तरह जो अपने अपराध-रूपी रोगों को आचार्य के निकट प्रकट नहीं करता है, उस ज्ञानी पुरुष का ज्ञान नष्ट होता है, क्योंकि व्यवहार में कुशल छत्तीस गुणों से सुशोभित आचार्य को भी अपनी आलोचना सदैव पर की साक्षी में ही करना चाहिए। जैसे कुशल वैद्य अपने रोग की चिकित्सा दूसरे उत्तम वैद्य से करवाता है, तो उसकी श्रेष्ठ चिकित्सा होती है, वैसे ही प्रायश्चित्तविधि में कुशल आचार्य को भी अपने दोष अथवा शल्य को अन्य उत्तम आचार्य के समक्ष ही प्रकट करना चाहिए। साधु यदि अन्य आलोचनाचार्य के समक्ष आलोचना किए बिना ही, 'वे तो आलोचना कराते नहीं हैं'- ऐसा मानकर स्वयं ही प्रायश्चित्त कर लेता है, तो वह आराधक नहीं कहलाता है, इसलिए प्रायश्चित्त लेने के लिए गीतार्थ की खोज क्षेत्र से सात सौ योजन एवं काल से बारह वर्ष तक (उत्कृष्ट) करना चाहिए।¹

8. आलोचना की विधि एवं मर्यादाएं-

साधक को आलोचना करते समय किस विधि का पालन करना चाहिए, इसका वर्णन करते हुए संवेगरंगशाला में बताया गया है कि आलोचना करते समय सात मर्यादाओं का पालन करना चाहिए, जो इस प्रकार हैं-

1. अत्याक्षिप्त 2. प्रशस्त द्रव्यादि का योग 3. प्रशस्त दिशा के सम्मुख बैठकर 4. पिनयपूर्वक 5. सरल भावपूर्वक 6. आसेवन तथा 7. छः श्रवण के मध्य आलोचना करना।²

9. प्रायश्चित्त-दान एवं ग्रहण-विधि-

पूर्व में आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय आदि प्रायश्चित्त के दस भेद कहे गए हैं, उन्हीं का यहाँ उल्लेख किया गया है। इसमें जो अतिचार जिस प्रायश्चित्त से शुद्ध होता है, उसे उसके योग्य जानना चाहिए, जैसे कोई अतिचार आलोचना-मात्र से शुद्ध होता है, तो कोई प्रतिक्रमण करने से शुद्ध होता है।

प्रायश्चित्त के अन्य रूपों की चर्चा निम्न प्रकार से करते हैं-

1. **प्रतिक्रमणार्ह**-प्रायश्चित्त का दूसरा भेद प्रतिक्रमण है। साधक जिस क्रिया के द्वारा आत्म-निरीक्षण एवं पश्चात्ताप के द्वारा अपने किए हुए पापों एवं अपराधों का प्रक्षालन करता है, वह प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण का अर्थ है- पुनः लौट आना। प्रमादवश साधक का मन यदि शुभयोग से अशुभयोगों में चला जाए, तो अशुभयोग से पुनः शुभयोगों में आना प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण से साधक पाप से निवृत्त होता है। उसके मन में पाप के प्रति घृणा होती है।

असावधानी से जो भी स्वल्पना हुई हो, उन भूलों का भी वह परिमार्जन करता है।

¹ संवेगरंगशाला - गाथा- 4976-4990

² वही - गाथा- 5018-5044

2. **तदुभयार्ह**— प्रायश्चित्त का तीसरा भेद तदुभयार्ह है, जिस दोष की आलोचना एवं प्रतिक्रमण—दोनों करने से शुद्धि होती है, वह तदुभयार्ह है। जिस प्रकार पंचेन्द्रिय आदि जीवों का स्पर्श आदि हो जाने पर उसका प्रतिक्रमण भी किया जाता है एवं आलोचना भी की जाती है।
3. **विवेकार्ह**—विवेक, यानी त्यागना अथवा छोड़ना। आधाकर्म आदि आहार आ जाने पर उस आहार को सविधि परखना पड़ता है, तभी उस पाप से मुक्त हो सकते हैं।
4. **व्युत्सर्गार्ह**—नदी आदि को पार करने में तथा मार्ग आदि में चलने से असावधानी के कारण यदि कोई दोष लग गया हो, तो कायोत्सर्ग कर उस दोष की विशुद्धि की जाती है।
5. **तपार्ह**—जिस दोष की विशुद्धि के लिए आगमोक्त—विधि के अनुसार तप किया जाता है, वह तपार्ह है। इसमें आयम्बिल आदि छः मासिक—तप का विधान है।
6. **छेदार्ह**—छेद, अर्थात् काटना या कम करना। जिस प्रायश्चित्त में दोष की विशुद्धि के लिए दीक्षा—पर्याय का छेदन किया जाता है, वह छेदार्ह है। दोष की गुरुता व लघुता के अनुसार इसमें प्रायश्चित्त दिया जाता है। प्रस्तुत प्रायश्चित्त के व्यवहार में यह परिणाम आता है कि जितने समय का छेद किया जाता है, उस अवधि में जो दीक्षित होता है, उसको वह नमन आदि करता है। इस प्रायश्चित्त में प्रायश्चित्त लेने वाले के अहं पर सीधा प्रहार होता है, इसलिए यह प्रायश्चित्त अन्य तपों में कठिन होता है।
7. **मूलार्ह**—छद्मस्थ श्रमण कभी—कभी गुरुतर दोष का सेवन कर लेता है, जिससे उसका चारित्र नष्ट हो जाता है। ऐसे दोष की शुद्धि तप और छेद से नहीं हो सकती, अतः उसके लिए पुनः महाव्रत आरोपित किए जाते हैं, दीक्षा—पर्याय का पूर्ण छेदन कर नई दीक्षा दी जाती है। महाव्रत मूल है, इसलिए इस प्रायश्चित्त को मूल—योग्य कहा गया है।
8. **अनवस्थाप्यार्ह**—जिस गुरुतर दोष की विशुद्धि के लिए अनवस्थापित होना पड़ता है, कुछ समय के लिए मुनि—जीवन से पतित होना पड़ता है, श्रमण—संघ से पृथक् होकर गृही—वेष धारण करना पड़ता है और तप द्वारा आत्मा को शुद्ध किया जाता है, तथा उसके बाद पुनः नई दीक्षा दी जाती है, वह अनवस्थाप्यार्ह प्रायश्चित्त कहलाता है।
9. **पारांचिकार्ह**—जिस महादोष की विशुद्धि हेतु साधक को श्रमणवेश का परित्याग करना होता है, वह छः महीने से बारह वर्ष तक गण, साधुवेश और अपने क्षेत्र को छोड़कर जिनकल्पित श्रमण की तरह उग्र तपस्या करता है, उस अवधि के पूर्ण होने पर नई दीक्षा लेकर श्रमण—संघ में पुनः सम्मिलित होता है, वह पारांचिकार्ह प्रायश्चित्त कहलाता है।¹ यह प्रायश्चित्त उन साधकों को आता है, जो गण (समुदाय) में फूट डालते हैं, फूट की योजना बनाते हैं, श्रमण को मारने के भाव रखते हैं, मारने की योजना बनाते हैं एवं योजना को सफल बनाने के लिए समय आदि का अन्वेषण करते हैं।

टीकाकार का अभिमत है कि दसवां प्रायश्चित्त विशेष सामर्थ्यवान् आचार्य को दिया जाता है। उपाध्याय के लिए नौवें प्रायश्चित्त तक का विधान है एवं अन्य सामान्य श्रमणों के लिए आठवें प्रायश्चित्त तक का विधान है।

प्रायश्चित्त के जो उपर्युक्त प्रकार बताए गए हैं, उनसे यह फलिभूत होता है कि प्रायश्चित्त वही साधक ग्रहण कर सकता है, जिसका हृदय सरल हो, जिसमें दोषमुक्त होने की सम्भावना हो। दोष चाहे कितना ही बड़ा या छोटा हो, अप्रमत्त—भाव से पापों की शुद्धि (प्रायश्चित्त) करने वालों

¹ संवेगरंगशाला — गाथा— 5085—5091

को दोष से मुक्त बनाया जा सकता है, क्योंकि मूलतः आत्मा दोषी नहीं है। दोष प्रमाद व कषाय के कारण होता है, इसलिए दोष से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त की आवश्यकता रहती है।

10. आलोचना का फल—

राग-द्वेष से रहित सर्वज्ञ परमात्मा ने सर्वदुःखों का क्षय होने से शाश्वत सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति को ही आलोचना का फल कहा है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान, दर्शन चारित्र और तप को मोक्षमार्ग का हेतु कहा गया है। तत्त्वार्थसूत्र में भी मोक्षमार्ग के यही हेतु बताए गए हैं।¹

चारित्र के साथ सम्यग्ज्ञान और दर्शन— दोनों अवश्य होते हैं, किन्तु चारित्रव्रत स्वीकार करके भी प्रमादवश साधक महाव्रतों एवं मुनि-आचार में दोष लगाते हुए अपने लाखों भवों के चारित्र का नाश कर लेता है, अतः साधक उन महान् दोषों की भी शुद्धि आलोचना के द्वारा कर सकता है, क्योंकि शुद्ध चारित्र का पालन करते हुए अप्रमत्त, धीर-वीर साधु अपने शेष कर्मों का क्षय करके अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त करता है। इस तरह, प्रायश्चित्त के फल जानकर क्षपक—मुनि अहंकार का त्याग कर निरभिमानी हो उत्कृष्ट आराधना-विधि के अनुसार आराधना करने की इच्छा करे।

प्रायश्चित्त योग्य आलोचनीय-दोषों का निर्देश—

साधक को ज्ञानाचार आदि पांच आचार-सम्बन्धी सभी छोटे-बड़े अतिचारों की अच्छी तरह आलोचना करना चाहिए। आचार के 1. ज्ञान 2. दर्शन 3. चारित्र 4. तप और 5. वीर्य— ये पांच भेद हैं। ज्ञानाचार के काल, विनय, बहुमान, अनिहनव, व्यंजन, अर्थ और तदुभय— ये आठ प्रकार हैं।

जैसे स्वाध्याय के समय स्वाध्याय न करके अकाल में करना, ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के उपकरण पुस्तकादि की उपचार—रूप से विनय—बहुमान नहीं करना, तपपूर्वक अध्ययन नहीं करना, श्रुत का अपलाप, अर्थात् सत्य को छिपाने का कार्य करना, सूत्र व अक्षर जिस रूप में हों, उसे उसी रूप में नहीं लिखना या पढ़ना, सूत्रादि का विपरीत अर्थ करना एवं सूत्र-अर्थ को अशुद्ध बोलना अथवा लिखना— इनमें से जो कोई भी अतिचार सूक्ष्म या स्थूल रूप से लगा हो, तो उनकी आलोचना करना चाहिए।

दर्शनाचार के निम्न आठ प्रकार—

निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपवृहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य एवं प्रभावना, जैसे कभी प्रमादवश जिन-वचनों में शंका की हो, अन्य दर्शन अथवा कर्मफल की अकांक्षा की हो, सदाचार के फल के प्रति शंका की हो, अन्य धर्मों का चमत्कार देखकर भ्रमित हुआ हो, स्वधर्म भाइयों के गुणों की प्रशंसा न की हो, साधर्मिक को धर्म में स्थिर नहीं किया हो, साधर्मिक का प्रेमपूर्वक कार्य नहीं किया हो एवं श्रुतज्ञानादि से जैनशासन की प्रभावना नहीं की हो आदि दर्शन-सम्बन्धी जो भी अतिचार लगे हों, तो उनकी आलोचना करनी चाहिए।

चारित्राचार—

महाव्रत आदि मूलगुण एवं पिण्ड-विशुद्धि आदि उत्तरगुण-रूप तथा पांच समिति, तीन गुप्ति-रूप चारित्राचार में जो अतिचार लगा हो, उनकी आलोचना करना चाहिए। साधु के मूलगुण धर्मरूपी कल्पवृक्ष के मूल (जड़) के समान हैं।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह-परिमाणव्रत में एवं रात्रि-भोजन- विरमण व्रत में जो अतिचार सेवन किया हो, उनकी सबकी सम्यक् रूप से आचार्य के पास आलोचना करना चाहिए।

¹ सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणिमोक्षमार्गः - तत्त्वार्थसूत्र - 1/1

उत्तरगुण के अतिचार—अकल्प्य भोजन को ग्रहण करना, एषणा के सिवाय चार समितियों में प्रयत्न का अभाव, महाव्रतों की रक्षा करने वाली पच्चीस भावनाओं अथवा बारह अनुप्रेक्षाओं का अनुभावन न करना। इस प्रकार रागादिवश होकर विवेक नष्ट होने से पिण्डविशुद्धि, समितिभावना, प्रतिमा—अभिग्रह और तपरूप उत्तरगुणों में लगे अतिचारों की चारित्र—विशुद्धि हेतु आलोचना करना चाहिए।

अनशन आदि छः प्रकार के बाह्यतप एवं प्रायश्चित्त आदि छः प्रकार के आभ्यन्तर—तप में शक्ति होने पर भी जो प्रमाद के कारण अनाचरण किया हो, तो उन अतिचारों की आलोचना भी करने योग्य होती है। वीर्याचार में अपने वीर्य—पराक्रम को छिपाने—रूप जिन अतिचारों का सेवन किया हो, उनकी भी आलोचना करना चाहिए।

समाधिमरण का तृतीय कर्त्तव्य : पुनः महाव्रतारोपण

पुनः महाव्रतारोपण— समाधिमरण ग्रहण करने वाले साधक को पुनः पंच महाव्रतारोपण हेतु समझाते हुए निर्यापकाचार्य कहते हैं कि यदि तुमने एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों को मन, वचन, काय से कष्ट दिया हो, तो जीवहिंसा का परित्याग करो।¹ मिथ्यादृष्टि वैसे तो जीवों की हिंसा करते हैं, फिर भी उनके द्वारा भी कई बार जीवों की रक्षा भी की जाती है, अतः साधुओं को तो सदैव जीवों की रक्षा करना चाहिए। अहिंसा शत्रुता को नष्ट करती है तथा संसार—समुद्र पार करने के लिए नौका के समान है। यह मैत्रीरूपी भावना विपुल राज्य को देने वाली है।² यह अहिंसा द्वेष के दावानल को दूर करने वाली एवं मोक्ष के शाश्वत् सुखों को देने वाली है; पुनः, जो असंयमी निरंकुश साधक छःकाय के जीवों को भी त्रास पहुंचाते हैं, वे भव—भ्रमण करते हुए दुःख सहते रहते हैं। अहिंसा का महत्व समझाते हुए निर्यापकाचार्य क्षपक साधक से पुनः कहते हैं— हे क्षपक! चाहे तू कठोर तप कर, चाहे तू गुरु की आज्ञा का अनुपालन कर, कठोर साधना भी कर ले,³ परन्तु यदि तेरे मन में जीवों के प्रति भी करुणा की भावना नहीं है, दया की भावना नहीं है, तो तेरी ये सब क्रियाएं आकाश में फूल खिलाने के समान निष्फल सिद्ध होंगी⁴, अतः यदि तुम संसार से विरक्त होकर वैराग्य—भाव को पाना चाहते हो, तो जिन भगवान् के वचनों को सुनकर एवं हिंसा के क्या—क्या दुष्परिणाम होते हैं, उन सबको समझकर अहिंसक बनने का प्रयास करो।⁵ दूसरे, मृषावाद—महाव्रत को धारण करने वाले क्षपक को समझाते हुए निर्यापकाचार्य कहते हैं— हे क्षपक ! क्रोध के वश, लोभ के वश, हास्य के वश अथवा भय के वश होकर सूक्ष्म या स्थूल रूप से असत्य भाषण का त्रिविध रूप से त्याग करो। सदैव हित, मित, प्रिय, छलरहित तथा सबको सुखकर लगे,

¹ एगिंदिएसु पंचसु तसेसु—कय—कारणा—ऽणुमइभेयं।

संघट्टण परितावण विराहणं चयसु तिविहेणं।। - आराधनापताका - 514

² 171^a जइ मिच्छदिदित्थयापं वि जत्तो केसुंघि जीव रक्खाए।

कह साहूहिं नएसो कायत्वो मुणिय सारंहे।। - वही - 595

³ विउलं रज्जंरोगेहिं वज्जियं रुवमाउयं दीहं।

अन्नं पि तं न सोक्खं जं जीवदयाए न हु सज्झं।। - वही - 598

⁴ चरउ तवं धरउ वयं, सरउ गुरुं करउ दुक्करं किरियं।

कास कुसुमं व विहलं जइ नो जियरक्खणं कुणइ।। - आराधनापताका - 600

⁵ नाऊण दुहमणंतं जिणोवएसाओ जीववहयाणं।

हुज्ज अहिंसानिरओ जइ निव्वेओ भवदुहेसु।। - वही - 601

ऐसे प्रशस्त अहिंसक वचन ही बोले।¹, क्योंकि सत्यवादी व्यक्ति सदैव माता के समान विश्वसनीय, गुरु के समान पूजनीय एवं स्वजन के समान सर्वप्रिय होता है।⁴ सत्य में तप, संयम आदि सर्वगुणों का समावेश हो जाता है। सत्यवादी पुरुष की रक्षा अग्नि, जल, देव, नदी, पर्वत आदि भी रक्षक बनकर करते हैं। सत्य से क्रूर गृहदशा भी टल जाती है,⁵ व्यक्ति का पागलपन दूर हो जाता है। सत्यवादी को देवता भी सदैव नमस्कार करते हैं एवं उसके आधीन बन जाते हैं। सत्यवादी की सर्वत्र प्रशंसा होती है और उसकी यश कीर्ति का प्रचार-प्रसार होता है, जगत् में प्रसिद्धि होती है। जो व्यक्ति मृत्यु आ जाए, फिर भी असत्य भाषण का त्याग नहीं करता है, वह भाग्यवान् पुरुष कालकसूरि के समान राजा के यज्ञफल को भी निष्फल कर महासत्ता को प्राप्त करता है।

तीसरे, अदत्तादानविरचित-महाव्रत के धारण करने वाले को निर्यापकाचार्य अचौर्य-महाव्रत के पालन हेतु प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि क्षपक-साधक को संसार की कोई भी वस्तु, चाहे सचित्त सजीव हो, या अजीव (जड़) या निर्जीव हो, अल्पमूल्य की हो या बहुमूल्य हो, उसके मालिक की आज्ञा के बिना ग्रहण नहीं करना चाहिए। अदत्तादानत्यागव्रत में मुनि को दन्त-शोधन की शलाका भी बिना दिए लेने की इच्छा नहीं करना चाहिए।⁴ प्रथम तो, मानव कभी संसार का सम्पूर्ण धन प्राप्त नहीं कर सकता है और यदि उसे सम्पूर्ण धन मिल भी जाए, तो भी वह उसका भोग नहीं कर सकता है। कदाचित्, यदि एक बार भोग भी कर लें, तो उसके मन की तृप्ति नहीं होती है। कहा भी है कि लोभ से लोभ बढ़ता है। लोभ के वशीभूत होकर मानव पर्वत, गुफा, सागर आदि में भी प्रविष्ट हो जाता है, अर्थात् असाध्य कार्य करते हुए मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।⁵ कभी धन के लिए व्यक्ति अपने प्रिय पारिवारिक-जनों का भी त्याग कर देता है। चोरी करने से जीव हिंसा का भी दोष लगता है, क्योंकि धन व्यक्ति का ग्यारहवां प्राण होता है। जो जिसके धन की चोरी करता है, वह उसके प्राणों का ही हरण करता है। व्यक्ति के पास धन होने पर ही वह सुखद जीवन जीता है, अतः कभी-कभी व्यक्ति धन के लिए अपने प्राण भी दे देता है।⁶ दूसरे के धन का हरण करना

¹ कोहेण व लोभेण व हासेण भएण वा वि तिविहेणं।

सुहुमेयरं पि अलियं वज्जसु सावज्जसयमूलं ॥ - वही - 602

² आराहिज्जइ गुरु देवयं व जणणि व्व जणइ वीसंभं।

पियबंधवुव्व तोसं अवितहणवयणो जणइ लोए ॥ - वही - 604

³ सेलपुरिसोव्वमूया खलंत वयणा अयव्व जे केइ।

तं पुव्वजम्मज्जपियमिच्छात्तायस्स फलमेयं ॥ - वही - 607

⁴ अवि दंतसोहणं पि हु परदव्वमदिन्नयं न गिण्हज्जा।

इह परलोयगयाणं मूलं बहुदुक्खलक्खाणं ॥ - आराधनापताका - 609

⁵ गिरि-गहण-विवर-सायर-समरेसु विसंति अत्थलोहिल्ला।

पियबंधू वि जियं पिय पुरिसा पयहंति धणहेउं ॥ - वही - 611

⁶ अत्थे संतम्मि सुहं जीवइ सकलत्त पुत्त संबंधी।

अत्थं हरमाणेणं हियं भवे जीवियं तेसि ॥ - वही - 612

आश्रव का द्वार है।¹ चोर की दशा का विवेचन करते हुए कहा है कि चोर चोरी करके उसे कोई पकड़ ना ले, इस शंका से सदैव भयभीत रहता है, सुख से निद्रा भी नहीं ले सकता है। वह हरिण के समान सर्वत्र देखता हुआ भय से कांपता हुआ भागता फिरता है, यहाँ तक कि चूहे के खड़-खड़ से भी कांपने लगता है, वध, बन्धन आदि पीड़ाएं सहन करता है, परभव में शोक को प्राप्त करता है।² वह इस जीवन में भी अपना आत्म-सम्मान खोकर मृत्यु को प्राप्त करता है तथा परलोक में भी नरक में अपना स्थान बनाता है।³ इस प्रकार, संसार में अनंतकाल तक परिभ्रमण करता है, अतः क्षपक को परधन-ग्रहण से या चोरी से उत्पन्न होने वाले दोषों को जानकर उनका त्याग करने के लिए तत्पर होना चाहिए।⁴

चौथे, मैथुनविरमणव्रत के धारक क्षपक को निर्यापकाचार्य कहते हैं कि ब्रह्मचर्य-महाव्रत सब व्रतों में दुर्जेय, दुस्सह एवं श्रेष्ठ है, उसका सम्यक् प्रकार से पालन करना चाहिए। हे क्षपक! स्त्री के प्रति आसक्ति से रहित होकर एवं नौ प्रकार की ब्रह्मचर्य की गुप्ति से सुविशुद्ध रहते हुए तू ब्रह्मचर्य की रक्षा करना।⁵ यह जीव ही ब्रह्म है, अतः परदेह के भोग की चिन्ता से रहित होकर जो साधु स्व में ही प्रवृत्ति करता है, उसे ब्रह्मचारी कहा जाता है। आगे, ब्रह्मचर्य की नौ वाड (रक्षकतत्त्व) का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वसतिशुद्धि, सरागकथा-त्याग, सह एवं समान आसन का त्याग, स्त्री के अंगोपांगादि को रागपूर्वक देखने का त्याग, दीवार या परदे के पास खड़े होकर स्त्री के विकारी शब्दादि सुनने का त्याग, पूर्वक्रीड़ा की स्मृति का त्याग, प्रणीत भोजन का त्याग, अतिमात्रा में आहार का त्याग और विभूषा का त्याग- इस तरह ब्रह्मचर्य-पालन हेतु ये नौ गुप्तियाँ हैं। मुनि को ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए इनका पालन करना चाहिए।⁶ इस लोक व परलोक व उभय लोक में जो भी असहनीय दुःख हैं, विषयासक्त व्यक्ति उन सभी दुःखों को सहन करता है।⁷ विषय-भोगों में आसक्ति के कारण व्यक्ति इस लोक में दुःख, अपयश एवं अनर्थ को प्राप्त करता है तथा परलोक में भी दुर्गति को प्राप्त करता है। विषय-भोगों के सेवन से व्यक्ति अनन्त संसार को बढ़ा लेता है।⁸ मदनरेखा के रूप पर आसक्त मणिरथ राजा को मरकर नरक के दुःखों को सहन करना पड़ा।⁹

¹ परदव्वहरणमेयं आसवदारं वयंति पावस्स।

सोरिय-वाह परदारिहिं चारो हु पावयरो ॥ - वही - 613

² बंध-वह-जायणाओ छायाघाओ य परिभवं सोयं।

पावइ सयमवि चोरो मरणं सव्वस्सहरणं वा ॥ - आराधनापताका - 615

³ परलोयम्मि य चोरो करेइ नरयम्मि अप्पणो वसहिं।

तिव्वाओ वेयणाओ अणुभवई तत्थ सुचिरं पि ॥ - वही - 616

⁴ परदव्व गहण विरया सुक्खं पाविंति अविरया दुक्खं।

दिट्ठंतो इह सावयसुएण तह लुद्ध नदेण ॥ - वही - 617

⁵ नवगुत्तीहिं विसुद्धं धरिज्ज बंभं विसुद्धपरिणामो।

सव्ववयाण वि पवरं सुदुद्धरं विसयलुद्धाणं ॥ - वही - 618

⁶ संवेगरंगशाला - गाथा - 7961-7964

⁷ जं किंचि दुहं लोए इह-परलोउभवं च अइदुसहं।

तं सव्वं चिय जीवो, अणुदवइ मेहुणाऽऽसत्तो ॥ - वही - 619

⁸ अजसमणत्थं दुक्खं इहलोए दुग्गई य परलोए।

संसारं च अपारं न मुणइ विसयाऽऽमिसे गिद्धी ॥ -आराधनापताका - 620

⁹ विसयाउरेहिं बहुसो सीलं मणसा वि मयालियं जेहि।

शीलवन्त व्यक्ति के लिए संसार-सागर को पार करना अत्यन्त सरल होता है। शील के प्रभाव से अग्नि भी जल के समान शीतल हो जाती है, विष अमृत बन जाता है तथा देवता भी सेवक बनकर चरणों में झुक जाते हैं;¹ जिसने अति उत्तम शीलधर्म की साधना कर ली है, उसे चिन्तामणि-रत्न की भी कोई आवश्यकता नहीं होती है। उसके घर में लगा हुआ वृक्ष भी कल्पवृक्ष के समान हो जाता है, अर्थात् शील-साधना में रत व्यक्ति को ऋद्धि-सिद्धि तो स्वतः ही प्राप्त हो जाती है।⁴

पांचवें परिग्रहविरति-महाव्रत में निर्यापकाचार्य अपरिग्रह का महत्व बताते हुए क्षपक के कहते हैं-हे ! क्षपक, तू बाह्य एवं आभ्यन्तर-परिग्रह का त्याग कर। बाह्य-परिग्रह के दस भेद और आभ्यन्तर-परिग्रह के चौदह भेद हैं।³ परिग्रह के प्रति आसक्ति के कारण व्यक्ति कलह आदि दुष्कर्म करता है।⁴ जब परिग्रह-संज्ञा का उदय होता है, तब उस लालची जीव को संग्रह करने की बुद्धि होती है। उस संचय-वृत्ति के कारण वह जीवों की हत्या करता है, झूठ बोलता है⁵, चोरी करता है, मैथुन-सेवन करता है और अपरिमित धन एकत्रित करता है।

धन-संचय के मोह में पड़कर जीव अहंकार चुगली, कलह, कठोरता आदि अनेक दोषों का सेवन करता है। जैसे ईंधन से अग्नि और नदियों से समुद्र, तृप्त नहीं होता, वैसे ही जीव को यदि तीन लोकों की सम्पत्ति भी मिल जाए, तो भी उसकी तृप्ति नहीं होती है।⁶ यदि क्षपक निर्ग्रन्थ है, तो वह किसी भी तरह का परिग्रह न रखे, क्योंकि परिग्रह रखने वाला निर्ग्रन्थ नहीं हो सकता। परिग्रह-बुद्धि से चित्त मलिन होता है तथा परिग्रह जन्म-मरण के चक्र को बढ़ाने वाला होता है, अतः संयमी व्यक्ति परिग्रह को वैर एवं कलह का कारण जानकर त्याग देते हैं। वे तो शरीर की ममता का भी त्याग कर देते हैं, अतः हे क्षपक ! तुम परिग्रह का परित्याग करो।⁷

अहिंसा आदि महाव्रतों की रक्षा के लिए रात्रि-भोजन का त्याग अनिवार्य है, अतः क्षपक को रात्रि-भोजन का भी त्याग कर देना चाहिए।

रात्रिभोजन-त्याग का उल्लेख दशवैकालिकसूत्र के चौथे अध्याय में छठवें व्रत के रूप में हुआ है।⁸ उसके पूर्व भी सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध के छठवें अध्याय में महावीर की स्तुति करते

ते नरयदुहं दुसहं सहंति जह मणिरहो राया ॥ -वही - 621

¹ जलहि वि गोपयं विय अग्गी वि जलं विसं पि अमयसमं।

शीलसहायाण सुरा वि किकरा हुंति भुवणम्मि ॥ - वही - 622

² चिन्तामणिणा किं तस्स ? किं कप्पददुमाइवत्थूहिं।

खित्तसइयफलकरं सीलं जस्सऽत्थि साहीणं ॥ - वही - 624

³ मिच्छत्तादचउददसभेए अभिंतरे चयसु गंधे।

खित्ताइ दसविहे वि य धीर ! तुमं तिविहतिविहेणं ॥ - वही - 625

⁴ गंधनिमित्तं कुद्धो कलहं बोल करिज्ज वेरं वा।

पहणिज्ज व मारिज्ज व मारिज्जिज्ज व तह परेणं ॥ - वही - 626

⁵ अहवा होज्ज विणासो गंधस्स जल-ऽग्गि-मूसियाईहिं।

नट्ठे गंधे य पुणो तिव्वं पुरिसो लहइ दुक्खं ॥ - वही - 627

⁶ जह चक्कवट्टिरिद्धिं लद्धं पि चयंति केइ पुरिसा।

को तुज्झ असतेसु वि धणेसु तुच्छेसु पडिबंधो ॥ -आराधनापताका, 630

⁷ बहुवरे-कलहमूलं नाऊण परिग्गहं पुरिससीहा।

ससरीरे ममतं चयंति चंपाउरिपहुव्व ॥ - वही - 631

⁸ इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं न्नाईभोयण-वेरमण-छट्ठाइं।

हुए यह कहा गया है कि उन्होंने साधकों को रात्रि-भोजन त्याग का निर्देश दिया है।¹ समाधिमरण-सम्बन्धी भगवती-आराधना में भी रात्रिभोजन-त्याग का छठवें व्रत के रूप में उल्लेख हुआ है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल में रात्रि-भोजन का निषेध किया गया था। हमारे समालोच्य ग्रन्थ प्राचीनाचार्यकृत आराधना-पताका में भी उसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए पांच महाव्रतों के पालन के साथ ही रात्रिभोजन-त्याग का निर्देश किया गया है। जैन-साधक के लिए रात्रिभोजन-त्याग की यह परम्परा प्राचीनकाल से लेकर आज तक जीवित है। समाधिमरण का साधक, जो अपनी साधना के अन्त में चारों प्रकार के आहारों के त्याग के लिए तत्पर बनता है, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह पूर्व से ही रात्रि-भोजन का तो त्याग कर दे, क्योंकि रात्रिभोजन के त्याग के बिना वह दिवा-भोजन का भी त्याग नहीं कर पाएगा। यही कारण है कि आराधना-पताका में क्षपक को रात्रिभोजन-त्याग का व्रत ग्रहण करने के लिए कहा गया है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि समाधिमरण के साधक को सर्वप्रथम पांच महाव्रतों के साथ-साथ रात्रि भोजन-त्याग के छठवें व्रत का भी पालन करना चाहिए। जैन-परम्परा में हिंसा, असत्य, स्तेनकर्म, काम, भोग और परिग्रह के त्याग के साथ-साथ ही रात्रिभोजन के त्याग का निर्देश मिलता ही है और जो साधक अपनी अंतिम आराधना के लिए तत्पर है, उसके लिए इन पांच महाव्रतों के साथ-साथ रात्रिभोजन-त्याग भी अवश्य करणीय माना गया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि समाधिमरण के साधक को कितनी ही विकट परिस्थिति क्यों न हो, रात्रि-भोजन से तो विरत रहना ही होता है। पंच महाव्रतों का ग्रहण और रात्रि-भोजन का त्याग— यह समाधिमरण की साधना का प्रथम चरण है।

समाधिमरण हेतु क्रमिक आहार त्याग—प्रस्तुत समाधिमरण विषयक ग्रन्थ आराधना-पताका में समाधिमरण को ग्रहण करने वाले साधक को निर्देश दिया गया है कि वह किस प्रकार से क्रमिक रूप से आहार का त्याग करें। साथ ही इस ग्रन्थ में यह भी बताया गया है कि किस-किस रूप में किस-किस प्रकार से समाधिमरण की साधना की जाती है। उसके पश्चात् आराधना-पताका में आराधनाके दो रूपों की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि कषाय की संलेखना करना, अर्थात् अन्तर में निहित कषायों को देखकर उनके निरसन का प्रयास करना आभ्यन्तर संलेखना है।

जबकि मृत्युपर्यन्त आहार आदिका त्याग करते हुए शरीर को कृश करना यह बाह्य संलेखना है।² इसके पश्चात् प्रस्तुत कृति में उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से संलेखन के तीन प्रकारों की चर्चा हुई है। उत्कृष्ट संलेखना, अर्थात् शरीर और इन्द्रियों को कृश करने की प्रक्रिया 12 वर्ष की बताई गई है। मध्यम संलेखना 12 मास या एक वर्ष तथा जघन्य संलेखना 12 पक्ष, अर्थात् छः माह की बताई गई है।³ मध्यम संलेखना 12 मास या एक वर्ष तथा जघन्य संलेखना 12 पक्ष, अर्थात् छः मास की बताई गई है। इसके पश्चात् उत्कृष्ट संलेखना में तप आदि की विधि किस

अत्तहियट्ठयाए उवंसपज्जित्ता विहरामि।। 7 दशवैकालिकसूत्र - 4/17

¹ से वारिया इत्थि-सराइभत्तं उवहाणवं दुक्खं-खयट्ठयाए।

लोगं विदित्ताआरं पारं च सब्बं पभु वारिय सत्त्व-वारं।। 7 सूत्रकृतांग, 1/6/28

² संलेहणा उ दुविहा अभिंतरिया 1 य बाहिरा 2 चेव।

अभिंतरा कसाएसु, बाहिरा होइ हु सरीरे।। आराधनापताका - गाथा - 8

³ तणुसंलेहा तिविहा उक्कोसा 1 मज्झिमा 2 जहण्णा 3 य।

बारस वासा, बारस मासा, पक्खा वि बारस उ 3।। आराधनापताका - गाथा- 9

प्रकार होनी चाहिए—इसका निर्देश करते हुए कहा गया है कि प्रथम चार वर्षों में विगयरहित, अर्थात् घी, तेल, दूध, दही, मिठाई आदि से रहित रुक्ष भोजन करना चाहिए। उसक पश्चात् दो वर्ष तक एकान्तर तप करना चाहिए, अर्थात् एक दिन उपवास एक दिन भोजन करना चाहिए। फिर चार वर्षों में उपवास, दो दिन के उपवास, तीन दिन के उपवास आदि विभिन्न प्रकृष्ट तपों को करते रहना चाहिए। अगले दो वर्षों में एकान्तर तप के पारणों में विगयरहित भोजन करना चाहिए। इस प्रकार दस वर्ष पर्यन्त कठोर तप साधना करनी चाहिए।¹ फिर ग्यारहवें वर्ष के अन्तरिम छः मास और बारहवें वर्ष के प्रथम छः मास में निरन्तर आयम्बिल करके अन्त के छः मास में भक्त-परिज्ञा के माध्यम से आहार आदि में क्रमशः धीरे-धीरे कमी करना चाहिए। इसी प्रसंग में यह भी बताया गया है कि शरीर को कृश किए बिना सहसा चतुर्विध आहार का त्याग कर लेने से शरीर में असमाधि उत्पन्न होती है और उसके परिणामस्वरूप आर्त्तध्यान उत्पन्न होता है, जबकि संलेखना का मुख्य लक्ष्य समाधि या शान्तिपूर्वक शरीर का त्याग होता है।²

अतः शरीर संलेखना भी इस प्रकार से करना चाहिए, जिससे शरीर में असमाधि न हो और समभावपूर्वक देहत्याग सम्भव हो। इसी क्रम में आगे आभ्यन्तर संलेखना के लिए कषायों के कलुष त्याग और अध्यवसायों की शुद्धि के लिए आवश्यक कहा गया है, क्योंकि जब तक कषाय रूपी अग्नि शान्त नहीं होगी, तब तक संक्लेश के भाव समाप्त नहीं होते और संक्लेशयुक्त भाव जन्म-मरण की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं, अतः समाधिमरण की साधना में मिथ्यादुष्कृत्य रूपी जल से कषाय अग्नि को शान्त करना आवश्यक है। आहारत्याग के साथ-साथ कषायों का कृशीकरण करें।³

आराधना-पताका के ग्यारहवें द्रव्य दापना द्वार⁴ में यह निर्देश दिया गया है कि क्षपक के शरीर में समाधि बनी रहे। उस क्षपक के मनोभावों को जानकर उसी प्रकार साधक की समाधि बनी रहे, वैसा ही आहार दिया जाना चाहिए।

इसी प्रकार आराधना-पताका के समाधिपान विरेचन द्वार में यह बनाया गया है कि निर्यामक यह समझे कि वह समाधिमरण ग्रहण करने वाले क्षपक को किस प्रकार से साता मिले, उसके मन में असमाधि के भाव न आ जाए, उस क्षपक साधक का पेट साफ है या नहीं— यह जानकर उदरमल के शोधन के लिए उसे समाधिपान, अर्थात् विरेचकद्रव्य भी पिलाया जाना चाहिए।⁵ शक्कर, त्रिफला, नागकेशर, तमालपत्र का दूध और शक्कर के साथ मिलाकर उसे थोड़ा सा गर्म करके पिलाया जाना चाहिए, जिससे क्षपक की पीड़ा शान्त हो जाए।

¹ चत्तारि विचिताइं, विगइनिज्जुहियाइं चत्तारि।

सवच्छरे य दुंणिण उ एगंतरियं च आयामं ॥ वही,, गाथा— 10

नाइविगिट्ठो य तवो छम्मासे परिमियं च आयामं।

अण्णे वि य छम्मासे होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥ वही,, गाथा— 11.

² देहम्मि असलिहिए सहसा धाऊहिं खिज्जमाणाहिं।

जायइ अट्टज्झाणं सरीरेणो चरिमकालम्मि ॥ वही,, गाथा— 14

³ तम्हा हु कसायगिं पढमं उप्पज्जमाणयं चव।

इच्छा-मिच्छा दुक्कडचंदणसलिलेण ज्ञपिज्जा ॥ आराधनापताका, गाथा— 20

⁴ आराधना-पताका - द्वार- 11 गाथा- 92

⁵ उयरमलसोहणट्ठा समाहिपाणं मणुन्नमेसो वि।

महुरं पज्जेयत्वो मंदं च विरेयणं खवओ ॥ वही - गाथा- 100

ज्ञातव्य है कि पुष्प, फलादि के मधुर विरेचन से वह क्षपक सुखपूर्वक समाधि को प्राप्त होता है। भक्त-प्रत्याख्यान द्वारा समाधिमरण प्राप्त करने वाले के लिए कहा गया है कि वह जघन्य (कम से कम) छः मास, मध्यम चार वर्ष और उत्कृष्ट बारह वर्ष तक तप करें।

भगवती-आराधना में भी इसे पूर्ण करने का काल बारह वर्ष ही माना गया है। इन बारह वर्षों का उपयोग किस प्रकार किया जाए, इस पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि प्रथम चार वर्ष नाना प्रकार के कायक्लेशों को दूर करने में बिताया जाता है।¹ बाद के चार वर्षों में विभिन्न तरह के भोज्य-पदार्थों का त्याग करके शरीर को सुखाने में बिताया जाता है।

शेष चार वर्षों में से दो वर्ष कांजी और रस-व्यंजन आदि से रहित आहार खाकर व्यतीत किया जाता है, एक वर्ष मात्र कांजी-आहार लिया जाता है। अन्तिम बारहवें वर्ष के प्रथम छः महीने में मध्यम तप किया जाता है तथा अन्तिम छः महीने में उत्कृष्ट तप करके बिताया जाता है। इस तरह से व्यक्ति बाहर वर्षों का उत्कृष्ट तप करके बिताता है।¹

समाधिमरण प्राप्त देह-विसर्जन की प्रक्रिया—सामान्यतया समाधिमरण-सम्बन्धी प्रक्रिया में समाधिमरण को प्राप्त व्यक्ति के देह-विसर्जन की प्रक्रिया का भी उल्लेख मिलता है। श्वेताम्बर-परम्परा में निशीथचूर्णि, संवेगरंगशाला आदि में भी इसकी विस्तृत चर्चा है। दिगम्बर-परम्परा में भी भगवती-आराधना में भी समाधिमरण को प्राप्त देह के विसर्जन की प्रक्रिया दी गई है। इसे विजहणा के नाम से जाना जाता है। सामान्यतया यदि साधक का समाधिमरण पर्वत की गुफा आदि में, अथवा किसी वनखण्ड में होता है, तो सामान्यतया उसकी देह वहीं विसर्जित करके निर्यापकगण वापिस लौट आते थे, किन्तु ऐसा लगता है कि छठी-सातवीं शताब्दी से जब चैत्यवास या भट्टारक-परम्परा का विकास हुआ और देहत्याग नगर या चैत्य में होने लगा, तब मृत देह के विसर्जन का प्रश्न भी उपस्थित हुआ होगा। उसके पूर्व सामान्यतया समाधिमरण से मृत साधुओं की देह जंगल में ही छोड़ दी जाती थी। जब समाधिमरण के साधकों की मृत्यु नगरों के उपाश्रय आदि में होने लगी, तो उनके मृत देह का विसर्जन किस प्रकार से किया जाए— यह प्रश्न भी प्रमुख बना। इसके साथ-साथ छठी-सातवीं शताब्दी से जब तन्त्र का प्रभाव भी जैनों पर आया, तो विजहणा के सम्बन्ध में विभिन्न तान्त्रिक टोटके भी किए जाने लगे। विशेष रूप से यह कहा गया है कि समाधिमरण से मृतदेह को भी अखण्ड ना रखा जाए, अतः उसके उंगलियों आदि के खण्डित करने की बात भी सामने आई। साथ ही सूतक काल में मृत्यु होने पर उसके साथ पुतले आदि रखे जाने के उल्लेख भी आगमिक व्याख्याओं में तथा समाधिमरण सम्बन्धी ग्रन्थों में मिलने लगे। यदि पुतले बनाना और रखना सम्भव न हो, तो कम से कम ब्राह्मी लिपि के क और उसके नीचे त लिखने की परम्परा भी विकसित हुई। जिससे एक मानव आकृति का निर्माण हो जाता था। फिर भी समाधिमरण सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थों में मृतक देह के अग्नि-संस्कार का कोई उल्लेख नहीं मिलता। मात्र यही उल्लेख है कि साधु गांव में से बांसों को मांग करके लाए और उनकी अर्थी बनाकर मृतक देह को उस अर्थी के माध्यम से ले जाकर गहन जंगल में या पर्वत आदि पर छोड़ दिया जाए। इन उल्लेखों से ऐसा लगता है कि मृतदेह को जलाने की परम्परा काफी परवर्ती काल

¹ जोगेहिं विचित्तेहिं दु खवेइ खवच्छराणि चत्तारि।

वियडी णिज्जुहिता चत्तारि पुणो वि सोसेदि ।। भगवती-आराधना, गाथा- 255

² आयंबिलणिख्वियडीहिं दोण्णि आयबिलेण एककं च।

अद्ध णादिविगट्ठेहिं अदो अद्धं विगट्ठेहिं ।। भगवती-आराधना, गाथा- 256

की है। चूंकि हमारे समीक्ष्य ग्रन्थ प्राचीनाचार्य विरचित आराधना-पताका में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता है। फिर भी हमने यहाँ दिगम्बर-ग्रन्थ भगवती-आराधना तथा श्वेताम्बर-ग्रन्थ निशीथचूर्णि आदि के आधार पर यह चर्चा प्रस्तुत कर दी है। परवर्ती ग्रन्थ आचार दिनकर (14वीं शताब्दी) में भी इस समय साधुओं को क्या-क्या क्रियाएँ करनी चाहिए, इसकी भी पूरी विधि दी गई है। इसके अनुसार मृतदेह को उपाश्रय में ही गृहस्थों के समक्ष विसर्जित कर दी जाती है और फिर वे उसका अग्नि-संस्कार आदि करते हैं।

अध्याय 5

समाधिमरण की अन्य धार्मिक-परम्पराओं से

तुलनात्मक अध्ययन

(अ) जैनधर्म में समाधिमरण –

जैन परम्परा के सामान्य आचार-नियमों में समाधिमरण एक महत्वपूर्ण अवधारणा है, जिसे संलेखना, संधारा आदि नामों से जाना जाता है। जैनधर्म में श्रमण-साधकों एवं गृहस्थ-उपासकों दोनों के लिए समाधिमरण ग्रहण करने के निर्देश मिलते हैं। जैन आगमों में समाधिमरण ग्रहण करने के अनेकों सन्दर्भ हैं। अन्तकृद्दशांग¹ एवं अनुत्तरोपपातिक² में ऐसे श्रमण-साधकों और उपासकदशांग में ऐसे गृहस्थों की जीवन-गाथाएँ मिलती हैं, जिन्होंने जीवन के अन्तिम समय में समाधिमरण ग्रहण किया था।

उत्तराध्ययन में समाधिमरण को पण्डितमरण अथवा सकाममरण (सार्थकमरण) भी कहा गया है।³ पण्डितमरण ज्ञानीजनों का मरण है। ज्ञानी पुरुष मृत्यु के उपस्थित होने पर अनासक्त भाव से उसका स्वागत करते हैं। वे उससे भयभीत नहीं होते हैं। अनासक्त-भाव से मृत्यु वरण करने की कला को ही समाधिमरण कहा जाता है।

महाप्रत्याख्यान⁴ में समाधिमरण पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि समाधिमरण करने वाले की आत्मा बोल उठती है कि मैं आहार उपधि, देह आदि सबका मन-वचन-काय से त्याग कर दूँ। वह जीवन और मरण दोनों से ऊपर उठ जाता है, उपासकाध्ययन के अनुसार व्यक्ति को जब यह विदित हो जाए कि उसका शरीर नष्ट होने वाला है, तो उसे समभावपूर्वक शरीर के प्रति ममत्व

¹ अन्तकृद्दशा के प्रत्येक वर्ग के प्रत्येक अध्ययन में समाधिमरण का उल्लेख है

² अनुत्तरोपपातिकदशा में भी सभी साधकों के द्वारा समाधिमरण ग्रहण करने का उल्लेख है

³ उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन – 5

⁴ महाप्रत्याख्यान –

उवही सरीरगं चैव आहारं च चउव्विहं

महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णकम् – (दस पयण्णा) 9

का त्याग कर देना चाहिए।¹ पुनः, इसी में कहा गया है कि अगर देह ठहरने योग्य हो, तो उसे नष्ट नहीं करना चाहिए और यदि वह नष्ट हो रही हो, तो किसी तरह का प्रमाद भी नहीं करना चाहिए। तत्त्वार्थवार्तिक में कहा गया है कि मरण उत्तरपर्याय की प्राप्ति के पूर्व पर्याय का नाश है।

मृत्यु के समय कषायों एवं विषय-वासनाओं की न्यूनाधिकता के अनुसार आत्म-परिणामों पर अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता है, अतः अपने अन्त समय को सुधारने के लिए या अच्छा बनाने के लिए जीवन के अन्तिम क्षण में समाधिमरण लिया जाता है। समाधिमरण द्वारा अनन्त संसार की कारणभूत कषायों के आवेगों का उपशमन हो जाता है, कषाय क्षीण भी हो जाती है, जिसके कारण जन्म-मरण की परम्परा समाप्त हो जाती है।² मृत्यु अवश्यम्भावी है, इससे बच पाना अति दुर्लभ है, अतः तप, संयम, समाधि आदि के द्वारा जीवन को उन्नत करना चाहिए। तप, जप करते हुए शान्तिपूर्वक जो मृत्यु प्राप्त होती है, वह समाधिमरण ही है।³ इस सम्बन्ध में जैन-आगम साहित्य में अनेक उदाहरण मिलते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में उल्लेख है कि महर्षि मृगापुत्र ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य एवं तप आदि निर्मल भावनाओं के द्वारा श्रमण-धर्म का पालन करते हुए इस अनुत्तर-सिद्धि को प्राप्त किया था।⁴

डॉ. मोहनलाल मेहता के अनुसार जीवन के अन्तिम क्षणों में आहारादि का त्याग करके समाधिपूर्वक मृत्यु का आलिंगन करना समाधिमरण कहलाता है। वे पुनः कहते हैं कि जब व्यक्ति का शरीर इतना कमजोर और अशक्त हो जाए कि वह संयम की साधना, अर्थात् आचार-नियमों का सम्यकरूपेण परिपालन करने में असमर्थ हो जाए, तो ऐसी स्थिति में बिना किसी राग-द्वेष के शान्त एवं प्रसन्न मन से देहासक्ति से रहित होकर आने वाली मृत्यु का वरण कर लेना चाहिए।⁵

इस तरह मृत्यु का वरण करना ही समाधिमरण है। वृद्धावस्था या रुग्णता के अतिरिक्त भी जब अचानक ही मृत्यु अपरिहार्य बन गई हो, तो निर्विकार चित्तवृत्ति से देह का त्याग करना भी समाधिमरण कहलाता है।

डॉ. दरबारीलाल कोठिया समाधिमरण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं— संलेखना या समाधिमरण का अर्थ है— सम्यक् प्रकार से काय (शरीर) और कषाय को कृश करना।⁶ श्री सुरेश मुनि ने भी समाधिमरण की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है मरण को निकट आया देखकर,

¹ "तरुदलमिव परिपक्वं स्नेहविहीनं प्रदीपमिव देहम्।

स्वयमेव विनाशोन्मुखमवबन्धु करोतु विधिमन्त्यम्। — उपासकाध्ययन, 891

² तत्त्वार्थवार्तिक, 7/22

³ एव नाणेण चरणेण, दसणेण तवेणय।

भवणाहि य सुद्धाहिं सम्मं भावेत्तु अप्पयं।। उत्तराध्ययनसूत्र 19/94

⁴ बहुयाणि उ वासाणि सामणमणुपालिया।

मासिएण उ भत्तेण सिद्धिं पत्तो अणुत्तरं—उत्तराध्ययनसूत्र — 19/95

⁵ जैन-आचार — डॉ. मोहनलाल मेहता— पृ. 120

⁶ समाधिमरणोत्साहदीपक की प्रस्तावना — लेखक डॉ. दरबारीलाल कोठिया, पृ. 23

अथवा किसी आकस्मिक जीवन के संकट के क्षणों में अनशनपूर्वक देह से ममत्व का त्याग करके जीवन-मरण की समस्त सहायक सामग्री का परित्याग करना ही समाधिमरण है।¹

जैन-परम्परा में समाधिमरण का स्थान —

जैनधर्म में वर्णित योग-साधना में समाधिमरण की साधना सबसे कठिन है, किन्तु जीवन की अन्तिम वेला में साधनाशील आत्मा को चिरशान्ति प्रदान करने का यह एक उत्तम साधन है। जैन-संस्कृति में इसे व्रतराज के नाम से भी जाना जाता है।

मरणसमाहि प्रकीर्णक में स्पष्ट रूप से लिखा गया है कि सामान्य परिस्थिति में व्यक्ति अपने शरीर की रक्षा आहारादि की सहायता से करता है, लेकिन जब उसे यह मालूम हो जाता है कि अब यह शरीर आहार आदि लेने से भी ठहरने वाला नहीं है अर्थात् विनष्ट हो जाने वाला है, तब वह तप आदि की सहायता से अपनी कषायों को क्षीण करते हुए शरीरत्याग की दिशा में उद्यत होता है। वस्तुतः, उसके शरीर-त्याग का यह प्रयत्न ही समाधिमरण कहलाता है।²

पण्डित आशाधरजी के अनुसार स्वस्थ शरीर भोजन आदि द्वारा पोषण करने योग्य है, कमजोर तथा रोगग्रस्त शरीर औषधियाँ तथा अन्य विधियों द्वारा सेवा करने योग्य है, लेकिन जब शरीर का रोग निरन्तर बढ़ता ही जाए और उसका ठीक होना सम्भव नहीं हो, तो व्यक्ति को समाधिमरण-व्रत ग्रहण करके शरीर का त्याग करना चाहिए।³ आगे वे सागारधर्माभूत में लिखते हैं कि इस संसार में जीव ने अनन्त बार जन्म लिया और अनन्त बार मरण को भी भोगा है, लेकिन जीव ने कभी भी समाधि सहित पुण्यमरण नहीं किया। जो जीव समाधि सहित पुण्यमरण प्राप्त करता है, वह निश्चय ही इस मायारूपी संसार के बन्धन को सर्वदा के लिए तोड़ देता है। मोहग्रस्त व्यक्ति बार-बार जन्म-मरण करता है। इससे उसे मुक्ति प्राप्ति नहीं होती। समाधिमरण के द्वारा व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है, अतः इसी कारण समाधिमरण करने वाला व्यक्ति संसार के बन्धन को सर्वदा के लिए तोड़ देता है।⁴

भगवती-आराधना के अनुसार समाधिमरण का व्रत लेनेवाला व्यक्ति अपना जीवन सफल करने के साथ-साथ अन्य जीवों का भी जीवन सफल करने में सहायक होता है, क्योंकि क्षपक (समाधिमरण करने वाला व्यक्ति) की सेवा-शुश्रूषा करने वाले व्यक्ति को भी समाधिमरण का फल कुछ अंशों में प्राप्त हो जाता है, जिससे वह भी अपना जीवन सफल कर सकता है। भावार्थ यह है कि जो व्यक्ति समाधिमरण करने वाले का दर्शन, वन्दना आदि करते हैं, वे अपने सभी पापों को

¹ मरुरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 264

² मरणसमाहिपङ्णय (दस पयन्ना) 1, गाथा 37-39, पृ. 98

³ कायः स्वस्थोऽनुबर्त्यः स्यत् प्रतिकार्यश्च रोगितः।

उपकारं विपर्यस्यस्त्याज्यः षड्भिः खलो यथा ॥ धर्माभूत (सागार) 8/6

⁴ धर्माभूत (सागार) 8/27, 28

कम कर लेते हैं। संसार के सम्पूर्ण तीर्थों में घूमने का जो लाभ उनको मिलता है, वही लाभ क्षपक का अगर एक बार दर्शन कर ले, तो उससे भी मिल जाता है¹—

जो व्यक्ति क्षपक की सदा सेवा करता है, उस व्यक्ति की साधना—आराधना, पूजा आदि निर्विघ्न समाप्त हो जाती है और वह मुक्ति को प्राप्त करता है।

जैन—परम्परा में उपलब्ध समाधिमरण सम्बन्धी इन विवरणों के पश्चात् अब हम अन्य परम्पराओं में समाधिमरण की क्या अवधारणा रही है, इसकी चर्चा करेंगे।

वैदिकधारा और समाधिमरण

भारतीय धर्मों में वैदिक या ब्राह्मण परम्परा प्राचीन है। इसमें मृत्युवरण की यह अवधारणा किस रूप में प्रचलित रही है, इस सम्बन्ध में प्रोफेसर काणे ने अपने ग्रन्थ धर्मशास्त्र का इतिहास के तृतीय भाग² में विस्तार से मृत्युवरण के अनेक सन्दर्भों का उल्लेख किया है। उसी को आधार बनाते हुए डॉ. रज्जनकुमार ने अपने ग्रन्थ 'समाधिमरण' में भी इसकी विस्तृत चर्चा की है। हम यहाँ इन दोनों ग्रन्थों के आधार पर मूल सन्दर्भों का उल्लेख करते हुए यह बताने का प्रयास करेंगे कि ब्राह्मण—परम्परा में मृत्यु—वरण की यह अवधारणा जैन—दर्शन में प्रतिपादित समाधिमरण की अवधारणा से किन अर्थों में समानता रखती है और किन अर्थों में भिन्नता रखती है। अग्रिम पृष्ठों पर उन सन्दर्भों का उल्लेख करते हुए इस सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा करेंगे।

सामान्यतया, आत्महत्या की सहमति ब्राह्मण—परम्परा में भी देखने को नहीं मिलती है। इसमें आत्महत्या या आत्म—बलिदान को हेय दृष्टि से ही देखा गया है। लेकिन कुछ विशिष्ट धार्मिक अनुष्ठानों और कुछ विशेष परिस्थितियों में आत्म बलिदान की सहमति भी प्रदान की गई है और इसे हेय दृष्टि से भी नहीं देखा गया है। ब्राह्मण—परम्परा के धर्म—ग्रंथों में आत्महत्या एवं आत्मबलिदान को पाप माना गया है और इसका निषेध भी किया गया है, किन्तु मनुस्मृति में कहा गया है कि आत्महत्या करने वाले व्यक्ति का श्राद्ध नहीं करना चाहिए, साथ ही उसकी आत्मा की तृप्ति के लिए जल भी नहीं देना चाहिए।³

धर्मशास्त्र का इतिहास के रचयिता डॉ. काणे ने सम्वर्त्त—स्मृति के आधार पर आत्महत्या को पाप कहा है और लिखा है कि आत्महत्या करने वालों के लिए दुःख नहीं करना चाहिए। वह राक्षसों के आश्रित होता है और उसी के कुल में पैदा होता है।⁴ इस प्रकार, सामान्यतया ब्राह्मण—परम्परा में आत्महत्या की भर्त्सना ही की गई लेकिन कुछ उल्लेख ऐसे भी उपलब्ध हुए हैं, जिनमें आत्मबलिदान की प्रशंसा की गई है, तथा उसके प्रति सहमति भी व्यक्त की गई है। मनुस्मृति में

¹ भगवती—आराधना — 1995—2003

² धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ. 1333—1336

³ वृथा संकरजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम्।

आत्मनस्यागिनां चैव निवर्तेतौदकक्रिया ॥ मनुस्मृति, 5/89

⁴ उद्धत, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग—1, पृ. 10

महाप्रस्थान के बारे में कहा गया है कि व्यक्ति को दक्षिण दिशा में सिर्फ वायु और जल के साथ चलना चाहिए, जब तक कि उसका प्राणान्त नहीं हो जाए।¹

आत्रिस्मृति में भी इच्छित-मरण की स्वीकृति प्रदान की गई है। इस स्मृति के अनुसार असाध्य बीमारियों से ग्रसित होने पर, वृद्धावस्था के कारण अत्यधिक जर्जर होने पर, या धर्म का सम्पादन करने में असमर्थ होने पर व्यक्ति पहाड़ की ऊँची चोटी से कूदकर, आग में जलकर, या अगाध जल में समाधि लेकर इच्छित मृत्यु वरण कर सकता है।²

मनुस्मृति में इच्छित-मृत्युवरण का समर्थन करते हुए लिखा गया है कि पुनः ब्राह्मण-कुल में तभी जन्म लेता है, जब वह इच्छापूर्वक मृत्युवरण करता है। मृत्युवरण के लिए वह निम्नलिखित साधनों का उपयोग कर सकता है, यथा— नदी की धारा में डूबकर, ऊँचाई से कूदकर, आग में जलकर, अन्न-जल का त्याग करके।³ यमपुराण में आत्महत्या की निन्दा की गई है तथा यह निर्देश दिया गया है कि आत्महत्या करने वाला व्यक्ति यदि मर जाता है, तो उसके परिवारवालों पर एक-एक पण का दण्ड लगाना चाहिए। यदि वह मरने से बच जाता है, तो शास्त्रों के अनुसार उस पर 200 पण का दण्ड लगाना चाहिए।⁴ किन्तु ब्रह्मपुराण में मृत्युवरण का समर्थन करते हुए कहा गया है कि व्यक्ति को हिमालय की कन्दराओं या पहाड़ों में तथा अनेक अन्य तीर्थस्थलों में प्राणान्त तक भटकते रहना चाहिए, क्योंकि महाप्रस्थान के द्वारा मृत्यु प्राप्त करने वाला व्यक्ति स्वर्गलोक का निवासी होता है।⁵

अग्निपुराण में इच्छित-मृत्युवरण का समर्थन करते हुए लिखा गया है— जो व्यक्ति प्रयाग के संगम के पास वटवृक्ष से, या उसकी जड़ों के पास संगम की धारा में डूबकर अपने प्राण त्याग करता है, वह विष्णुलोक में जाता है।⁶ मत्स्यपुराण में आत्ममरण या इच्छित-मृत्युवरण पर विस्तृत

¹ अपरिजितानां वास्थाय व्रजेदिशम। नह्यगः ।

आ निपाताच्छरीरस्य युक्तो, वार्यनिताशनः ॥ मनुस्मृति, 6/31

² वृद्धः शौचस्मृतेर्लुप्तं प्रत्याख्यातभिष कृक्रियः ।

आत्मानं घातयेघस्तु भृग्वन्मनशनाम्बुः ॥ — आत्रि स्मृति, 218

³ आसां महर्षिचर्याणां व्यक्तदाऽन्यतमया तनुम् ।

वीत शोकभयो विप्रो बह्मलोके महीयते ॥ — मनुस्मृति, 6/32 एवं 6/17, 31

⁴ यमपुराण 20/21

⁵ महापथस्य यात्रा च कर्त्तव्याः तुहिनोपरि ।

आश्रित्यं सत्यं च सद्यः स्वर्गप्रदा हि सा ॥ — ब्रह्मपुराण, उद्घृत तीर्थविवेचन कांडम, पृ. 258

⁶ अग्निपुराण, 111/13, विशेष द्रष्टव्य—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-3, पृ. 1336

विवेचन किया गया है इस पुराण के अनुसार काशी (वर्तमान वाराणसी) में जो इच्छित-मरण या आत्मबलिदान किया जाता है, वह अविमुक्त के नाम से जाना जाता है।¹

काशी भगवान् शंकर का प्रिय क्षेत्र है। यहाँ इच्छित-मृत्युवरण करने वालों को स्वयं भगवान् शंकर मुक्ति दिलाते हैं। इस पुराण के अनुसार काशी में व्यक्ति को आग में जलकर, काशी-करवट लेकर, पानी में डूबकर, या अनशन करके अपने प्राण का त्याग करना चाहिए। ऐसा करने से व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त करता है।²

शिवपुराण के अनुसार जो व्यक्ति शिव की भक्ति करते हुए आग में जलकर, पहाड़ की चोटी से गिरकर मरता है वह युक्ति पा लेता है। व्यक्ति अपने आप से मुक्ति पाने के लिए हवन-कुण्ड बनाता है। उसमें अग्नि प्रज्वलित करता है तथा भैरव की प्रतिमा की पूजा करता है। अब व्यक्ति यज्ञ की उस अग्नि में हवन के रूप में स्वयं को समर्पित कर देता है।³ अपरार्क ने आदिपुराण से भी सन्दर्भ लेकर यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि ऐच्छिक देहत्याग पाप नहीं है।

आदिपुराण में अनशन, अमरकंटक की चोटी से गिरकर, अग्निप्रवेश करके, वटवृक्ष से कूदकर आदि विधियों की सहायता से इच्छितमरण करने का निर्देश है। उपर्युक्त समस्त विधियों की प्रशंसा करते हुए अपरार्कसंहिता में कहा गया है कि उक्त विधि से मरण करने से पाप नहीं होता है, बल्कि व्यक्ति उसकी सहायता से जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है।⁴ प्रसिद्ध महाकाव्य महाभारत में भी आत्महत्या की निन्दा करते हुए इसे पाप माना गया है। आदिपर्व के अनुसार आत्महत्या पाप है। आत्महत्या करने वाला व्यक्ति कभी भी स्वर्ग को प्राप्त नहीं कर सकता है,⁵ किन्तु महाभारत के वनपर्व में महाप्रस्थान की चर्चा की गई है और यह लिखा गया है कि व्यक्ति को महाप्रस्थान-व्रत लेना चाहिए तथा उसे गंगा, यमुना के संगम स्थल पर जल में डूबकर, आग में जलकर, ऊँचाई से कूदकर देहत्याग करना चाहिए।⁶ शल्यपर्व में कहा गया है कि जो व्यक्ति

¹ मत्स्यपुराण 76/75

अविमुक्तं प्रसादेन विमुक्तो जायते यतः। काशी खण्डव, 77 श्लोक-25 उद्घृत - काशी

मोक्षनिरणय, शिवानन्द सरस्वती धर्मसंघ शिक्षा मण्डल दुर्गाकुण्ड वाराणसी पृ. 5

² वाराणसी तु भुवनत्रयसारभूतारम्या सदा मम पुरि गिरिजापुत्रि अत्रागता विविध दुष्कृत कारिणोऽपि

पापक्षया द्विरजसः प्रतिभान्तिमर्त्याः। - मत्स्य पुराण, 76/78

³ शिशानाले क्षिपेत कायं तं पातं भैरवप्रदम पतद् गोदेयार्थं पाता वाऽऽत्मभातावता द्विजे तथा ते

फलदाः सर्वे क्रमतो भैरवं प्रदम् भवनानि विचित्राणि असंख्येयानि संख्यया।। शिवपुराण,

- उद्घृत तीर्थविवेचन कांडम, पृ. 262

⁴ तथा च ब्राह्मगर्भः यो जीवितं न शक्नोति महात्याध्युपपीडित..... महाप्रस्थान गपनं

ज्वलनाम्बुप्रवेशनम्। भृगुतनं चैव वृथा नेच्छतु जीविकम्।

- अपकरार्क की टिप्पणी, याज्ञवल्क्यस्मृतिः, पृ. 536

⁵ आदिपर्व 19/20

⁶ चतुर्विधे च यत्पुण्यं सत्यवादिषु चैव यत।

सरस्वती नदी के तट पर मन्त्रोच्चार के साथ देहत्याग करता है, वह मरने के बाद होने वाली पीड़ा को नहीं भोगता है।¹

महाभारत के अनुशासन-पर्व में कहा गया है कि जो व्यक्ति वेदों का ज्ञाता है, यदि वह जीवन की नश्वरता और क्षणभंगुरता को जानकर हिमालय की चोटी पर भूखे रहकर अपने प्राणों का त्याग करता है, तो वह ब्रह्मलोक में निवास करता है और सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है।²

वाल्मीकी-रामायण में भी शरभंगमुनि के इच्छित-मरण का प्रसंग आया है। शरभंगमुनि ने स्वेच्छापूर्वक अग्नि में प्रवेश करके देहत्याग किया और दिव्यलोक को प्राप्त किया था।³ इसी प्रकार, लक्ष्मण ने भी स्वेच्छापूर्वक मरण किया था। राजा राम के आदेश के अनुसार लक्ष्मण को देश-निकाले का दण्ड मिला। लक्ष्मण राम के आदेशानुसार देश से बाहर जाने को उद्यत हुए, लेकिन राम से अलग रहना लक्ष्मण के लिए असह्य था। इसी कारण, लक्ष्मण ने सरयू नदी में जलसमाधि लेकर इच्छापूर्वक मृत्यु का वरण किया था। लक्ष्मण के इच्छित-मरण प्राप्त करने पर राम को अपने जीवन से विरक्ति हो गई। उन्होंने अपने भाई भरत और शत्रुघ्न के साथ सरयू नदी में जलसमाधि लेकर इच्छापूर्वक मृत्यु का वरण किया था।⁴ इस घटना को सुनकर रामराज्य के समस्त नागरिकों ने भी सामूहिक रूप से सरयू नदी के जल में प्रवेश करके इच्छित-मरण किया था।⁵ यह उल्लेख वाल्मीकी रामायण में है, किन्तु जैन रामकथा इसे स्वीकार नहीं करती है।

ब्राह्मण-परम्परा में महाप्रस्थान के रूप में इच्छितमरण का प्रसंग विवेचित है। महाप्रस्थान का अर्थ होता है— दुबारा लौटकर घर या संसार में नहीं आना। महाप्रस्थान लेने से पहले व्यक्ति को तप, यज्ञ तथा इसी तरह के अन्य धार्मिक-अनुष्ठान करना पड़ते हैं। महाप्रस्थान को लेकर श्री नारायण भट्ट, मित्र मिश्र और श्री लक्ष्मीधर आदि के विचारों में मतैक्य है। इनके अनुसार, महाप्रस्थान

स्नात एव तदान्जोति गंगा, यमुन संगमे ॥ वनपर्व, 85/85

¹ सरस्वत्युत्तरे तीरे यस्त्यजेदात्मनस्तुम् ।

पृथूदके जप्यपरो नैनं श्वोमरणं तपेत् ॥ शल्यपर्व, 39/33

² शरीरमृत्युजेत् तत्र विधिपूर्वकमनाशके ।

अध्ववं जीवितं ज्ञात्वा यो वै वैदान्तगो द्विजः ॥ अनुशासन-पर्व 25/63 एवं 25/64

³ दृष्टमेतन्महावाहो क्षयं ते रोमहर्षणम् ।

लक्ष्मणेन- वियोगश्च तव राम महायशः ॥ -वही, उत्तरकाण्ड (106/8)

⁴ ततोऽग्निं स समाधाय हुत्वा चाज्येन मन्त्रवत् ।

शरभंगो महातेजाः प्रविवेश हुताशनम् ॥ रामायण (अरण्य.) 5/38

⁵ तां नदीमाकुलावर्त्ता सर्वत्रानुसरन्नुपः ।

आगतः सप्रजो रामस्तं देशं रघुनन्दनः ॥ -वही, 110/2 एवं विशेषदृष्टव्य - दी हिस्ट्री ऑफ सुसाइड इन इण्डिया, पृ. 52

या महापथ—यात्रा में व्यक्ति को आग में जलकर, जल में डूबकर, पहाड़ या ऊँचाई से कूदकर प्राणत्याग करना चाहिए।¹

प्रसिद्ध गुप्तकालीन ग्रन्थ मृच्छकटिकम् एवं रघुवंश में भी आत्मा का समर्थन किया गया है। मृच्छकटिकम् के अनुसार राजा शुद्रक ने अग्नि—प्रवेश करके इच्छापूर्वक आत्ममरण किया था।² रघुवंश में अज के आत्ममरण का विवरण काव्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार आज जब वृद्ध हो गए और असाध्य बीमारी से ग्रस्त हो गए तब उन्होंने सरयू की पवित्र जलधारा में जलसमाधि लेकर आत्ममरण ग्रहण किया।³ कुमारगुप्त ई. सन् 414 में गुप्त साम्राज्य के राजा बने। इन्होंने भी अग्नि प्रवेश करके इच्छापूर्वक मृत्यु को ग्रहण किया था।⁴ आठवीं सदी के महान् दार्शनिक कुमारिल ने भी अग्निप्रवेश करके इच्छापूर्वक मृत्युवरण किया था।⁵ दसवीं या ग्यारहवीं सदी में काबुल और लाहौर के राजा जयपाल थे।

उन्होंने भी अग्नि करके इच्छापूर्वक मृत्यु का वरण किया था।⁶ दसवीं सदी में राजा गांगेय ने अपनी 100 पत्नियों के साथ प्रयाग में जल समाधि लेकर इच्छापूर्वक मृत्यु का वरण किया था।⁷ जब घगंदेव की उम्र सौ साल से अधिक हो गई तब वे प्रयाग चले आए थे और यहाँ संगम की जलधारा में रुद्र का ध्यान रते हुए जलसमाधि ले ली।⁸ चन्देल राजा धंगदेव के मन्त्री अनन्त ने भी प्रयाग में इच्छित—मरण किया था।⁹ इसी प्रकार राष्ट्रकूट राजा ध्रुव ने प्रयाग में गंगा यमुना के संगम स्थल पर इच्छित—मरण किया था।¹⁰ चालुक्य नरेश अमाभल्ल सोमेश्वर ने भी असाध्य रोग से पीड़ित होने पर तुंगभद्रा नदी की जलधारा में डूबकर इच्छित—मरण किया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मण या हिन्दू परम्परा के ग्रन्थों में इच्छापूर्वक देहत्याग करने के कई उदाहरण मिलते हैं। किन्तु यहाँ इच्छित देहत्याग करने के लिए व्यक्ति मुख्य रूप से बाह्य साधनों का उपयोग करता है, जो निम्नलिखित हैं।

¹ तीर्थप्रकाश (वीरमित्रोदया), पृ. 242-48, 342, 346, 372-73, तीर्थस्थली सेतु, पृ. 290-316

तीर्थविवेचन कांडम, अध्याय 24, पृ. 258

² मृच्छकटिक, 1/4

³ सम्यग्निनीतमय वर्महरं कुमारमादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम्। रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः प्रायोपवेशनमर्तिमृपतिर्वभूव।। रघुवंश, 8/94 उद्धृत The History of in India p. 96

⁴ शौर्यसत्यव्रत घरो यः प्रयगगतो घने।

अम्भस्त्रीव करीषाग्नौ मग्नः स पुष्पपूजितः।। वही पृ. 96

⁵ श्रुत्यर्थं धर्म विमुखां सुगतां निश्नुतुम्।

जातम् गुहम् भुवि भवन्तमहैन्न जानः।। वही पृ. 91

⁶ तीर्थविवेचन कांडम् पृ. 259 उद्धृत वही. पृ. 96

⁷ Epigraphic a of Indica XII p- 211

⁸ Ibid P- 137 Year - 55

⁹ Ibid P- 200-201 Year - 29

¹⁰ India antiquities XII page 159

जलसमाधि अग्निप्रवेश, विषभक्षण, अस्त्र-शस्त्र का उपयोग तथा ऊँचाई से नदी की धारा में कूदना या समतल जमीन से जलधारा में प्रवेश करना आदि। इसके अतिरिक्त वह आहार-त्याग को भी अपनाता है। इस प्रकार हिन्दु परम्परा में महाप्रख्यान के प्रसंग में इन सब विधियों पर प्रकाश डाला गया है।

धर्मशास्त्र के इतिहास में प्रो. काणे ने अलबरूनी के ग्रन्थ, जिसकी रचना 1030 ई. में हुई थी, से भी आत्मबलिदान के धार्मिक-उदाहरणों को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार, धार्मिक-आत्महत्या तभी की जाती थी, जबकि व्यक्ति अपने जीवन से थक जाता था, जीवन उसे भारस्वरूप लगने लगता था। अपरिहार्य शारीरिक-स्थिति, असाध्य रोग, वृद्धावस्था, दुर्बलता आदि की स्थिति में ही आत्ममरण किया जाता था। इन्होंने कहा है कि उपर्युक्त विधि से आत्ममरण वैश्य या शूद्र जाति के लोग किया करते थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय भी इन अवस्थाओं में आत्महत्या कर सकते थे, लेकिन उनके लिए अलग व्यवस्था थी। उनके आत्ममरण करने का समय नियत रहता था। उस नियत समय पर वे कुछ लोगों को धन देते थे और यही धन लेने वाले लोग आत्ममरण करने वाले व्यक्ति को गंगा की धारा में फेंक देते थे। इस प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रिय-जाति के लोग गंगा के जल में समाधि लेकर प्राणों का त्याग करते थे।¹

(स) हिन्दु धर्म और जैन धर्म के मृत्युवरण की तुलना -

हिन्दू धर्मग्रन्थों के उपर्युक्त विविध सन्दर्भों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उनमें आत्महत्या का निषेध होते हुए भी विशेष परिस्थितियों में मृत्युवरण की स्वीकृति थी, फिर भी स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण की ऊपर वर्णित विधियों में दोनों परम्पराओं में महत्वपूर्ण अन्तर देखा जाता है। यद्यपि जैनपरम्परा और हिन्दू-परम्परा- दोनों ही परम्पराएं आत्महत्या को अनुचित मानती हैं और विशेष परिस्थिति में ही मृत्युवरण की स्वीकृति देती हैं, फिर भी जहाँ हिन्दू-परम्परा में जल-प्रवेश, अग्नि-प्रवेश, पर्वत की चोटी से गिरकर आदि उपायों के द्वारा मृत्युवरण की बात कही गई है, वहाँ जैन परम्परा में इन विधियों के द्वारा मृत्युवरण को अनुचित ही माना गया है।

रत्नकरण्डकश्रावकाचार² में इन विधियों के द्वारा मृत्युवरण करने वाले को मिथ्यादृष्टि कहा गया है, क्योंकि इसमें जीवन से ऊबकर ही तात्कालिक-रूप से मृत्युवरण किया जाता है और जैन-परम्परा इससे सहमत नहीं है। जैन-परम्परा में मात्र अनशन-विधि से ही देहत्याग की अनुमति दी गई है। यद्यपि हिन्दू परम्परा में भी अनशन-विधि को स्वीकार किया गया है, किन्तु उसमें प्रमुखता सदैव ही जलसमाधि, अग्निप्रवेश, गिरिपतन आदि की ही रही है। जैन-परम्परा इन सब विधियों से मृत्यु प्राप्त करने को आत्महत्या का ही एक रूप मानती है, क्योंकि इसमें कहीं-न-कहीं स्वेच्छापूर्वक तात्कालिक रूप से मृत्यु को स्वीकार किया जाता है। जैन-परम्परा में उपर्युक्त विधियों से देहत्याग को आवेशपूर्ण स्थिति मानकर उसका निषेध ही किया गया है और कहा गया है कि -इस प्रकार मृत्यु प्राप्त करने वाले निम्न योनियों में ही जन्म लेते हैं। जैन-परम्परा के अनुसार केवल सामने उपस्थित मृत्यु को समभावपूर्वक स्वीकार करने को ही संथारा या समाधिमरण माना

¹ धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-3 पृ. 1333-34

² रत्नकरण्डक श्रावकाचार श्लोक-22

गया है। उसके अनुसार, मृत्यु को जीवन के द्वार पर दस्तक देते हुए देखकर उससे भागने या बचने का प्रयत्न न करना ही समाधिमरण है। जैन-परम्परा में समाधिमरण के लिए मात्र शरीर के पोषण एवं संरक्षण के प्रयत्नों को छोड़ा जाता है, दूसरे शब्दों में मात्र देहासक्ति से ऊपर उठना होता है। जैन-परम्परा के अनुसार समाधिमरण का साधक जीवन और मृत्यु—दोनों की आकांक्षा से रहित होता है¹। वह मृत्यु को तात्कालिक रूप से बुलाता नहीं है, किन्तु जीवन के द्वार पर दस्तक दे रही मृत्यु का समभावपूर्वक स्वागत करता है। इसमें मरण किया नहीं जाता है, अपितु मरण हो जाता है। जैन-परम्परा में समाधिमरण के जिन पाँच दोषों की चर्चा की गई है, उनमें जीने की आकांक्षा और मरने की आकांक्षा दोनों को ही दोषपूर्ण माना गया है, जबकि हिन्दू परम्परा में जो तात्कालिक रूप से देहपात की बात कही गई है वह कहीं न कहीं मरने की आकांक्षा को व्यक्त करती है। मृत्यु को बुलाना और सम्मुख उपस्थित मृत्यु का स्वागत करना— ये दोनों अलग-अलग स्थितियाँ हैं। हिन्दू-परम्परा में मृत्यु को निमंत्रण दिया जाता है, जबकि जैन-परम्परा के समाधिमरण में मृत्यु को निमंत्रण देने की कोई बात नहीं है, उसके अनुसार, यदि शरीर के लिए मृत्यु एक अनिवार्य स्थिति बन गई है, तो उससे विचलित न होते हुए मृत्यु को सहज स्वीकृति देना है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि हिन्दू-परम्परा में जो मृत्युवरण की विधियाँ मिलती हैं, वे अपनी प्रकृति की दृष्टि से जैन-परम्परा से नितान्त भिन्न रूप में हैं, क्योंकि उनमें तात्कालिक-मृत्युवरण को प्रमुखता दी गई है। संक्षेप में कहें, तो जैन-परम्परा में समाधिमरण मृत्यु से भागना न होकर उपस्थित मृत्यु को समभावपूर्वक स्वीकार करना है, जबकि हिन्दू-परम्परा में मृत्यु को निमंत्रण देकर शरीर का त्याग किया जाता है। हिन्दू-परम्परा में देहपात प्रयत्नपूर्वक होता है, जबकि जैन-परम्परा में देहपात सहज या स्वाभाविक रूप से होता है, अतः दोनों परम्पराओं में जो यह भेद रहा हुआ है उसे ध्यान में रखना आवश्यक है।

(ब) बौद्ध परम्परा और मृत्युवरण —

समाधिमरण या मृत्यु-वरण की यह अवधारणा जैन-धर्म के साथ-साथ भारतीय श्रमण-परम्परा की एक शाखा बौद्ध-परम्परा में भी मिलती है। इस सन्दर्भ में डॉ. रज्जनकुमार ने अपने शोधप्रबन्ध 'समाधिमरण' में अनेक बौद्ध सन्दर्भों का उल्लेख किया है।² यहाँ हम मूल बौद्ध-ग्रन्थों के उन सन्दर्भों में न जाकर पण्डित सुखलालजी संघवी के निबन्ध 'संलेखना और अहिंसा', डॉ. सागरमल जैन के विस्तृत निबन्ध 'समाधिमरण का तुलनात्मक अध्ययन' तथा डॉ. रज्जनकुमार की 'समाधिमरण' नामक पुस्तक को आधार बनाकर बौद्ध-साहित्य में कहाँ-कहाँ और किस-किस रूप में उल्लेख मिलते हैं और उनकी जैन-दर्शन के समाधिमरण से कितनी समानता और भिन्नता है, इसकी चर्चा हम अग्रिम पृष्ठों पर करेंगे।

इस सन्दर्भ में डॉ. सागरमल जैन का कहना है कि यद्यपि बुद्ध ने जैन-परम्परा के समान ही धार्मिक-आत्महत्याओं को अनुचित माना है, तथापि बौद्ध-वाङ्मय में कुछ ऐसे सन्दर्भ अवश्य हैं, जो स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण का समर्थन करते हैं। संयुक्तनिकाय में असाध्य रोग से पीड़ित भिक्षु

¹ जीवयं णाभिकखेज्जा मरणं णो विपत्थए। दुहतो वि ण सज्जेज्जा जीविते मरणे तहा।। —आचारांगसूत्र, मधुकर मुनि, 8/8/232

² संधारा और अहिंसा — दर्शन और चिन्तन — द्वितीय खण्ड—पृ. 533

वक्कलि कुलपुत्र तथा भिक्षु छन्न द्वारा की गई आत्महत्या का समर्थन बुद्ध ने किया था और उन्हें निर्दोष कहकर दोनों ही भिक्षुओं को परिनिर्वाण प्राप्त करने वाला बताया था। जापानी बौद्धों में तो आज भी 'हरीकरी' की प्रथा मृत्यु-वरण की सूचक है। फिर भी जैन और बौद्ध-परम्पराओं में मृत्युवरण के प्रश्न को लेकर कुछ अन्तर भी हैं। प्रथम तो यह है कि जैन-परम्परा के विपरीत बौद्ध-परम्परा में शस्त्रवध से तत्काल ही मृत्यु-वरण कर लिया जाता है। जैन-आचार्यों ने शस्त्रवध आदि के द्वारा तात्कालिक मृत्यु-वरण का विरोध इसलिए किया था, क्योंकि उन्हें उसमें मरणाकांक्षा की सम्भावना प्रतीत हुई। यदि मरणाकांक्षा नहीं है, तो फिर मरण के लिए इतनी आतुरता क्यों ? इस प्रकार, जहाँ बौद्ध-परम्परा शस्त्र द्वारा की गई आत्महत्या का समर्थन करती है, वहाँ जैन-परम्परा उसे अस्वीकार करती है। इस सन्दर्भ में बौद्ध-परम्परा वैदिक-परम्परा के अधिक निकट है।

बौद्ध-परम्परा में आत्महत्या या इच्छितमरण को स्वीकार नहीं किया गया है, लेकिन कुछ विशेष कारण उपस्थित होने पर मृत्युवरण की आज्ञा प्रदान की गई है और इसकी प्रशंसा भी की गई है। जातक आदि बौद्ध-ग्रन्थों में इच्छितमरण करने वालों पर प्रकाश डाला गया है।

प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रन्थ मज्झिमनिकाय में मृत्युवरण के कई उदाहरण देखने में आए हैं। यद्यपि इसमें उद्धृत मृत्युवरण, निर्वाण या कैवल्य प्राप्ति की अपेक्षा मन में आए हुए तूफान एवं मोह का उपशमन करने के लिए किया गया है—ऐसा जान पड़ता है। इस ग्रन्थ के अनुसार एक युवक ने अपनी पत्नी की हत्या इसलिए कर दी, क्योंकि उसे अपने मन में यह भय था कि वह अगले जन्म में उसकी पत्नी नहीं बन पाएगी। पत्नी की हत्या के बाद उसने स्वयं भी मृत्यु-वरण कर लिया।¹ यह स्पष्ट है कि मृत्युवरण करने के पहले उनके मन में बिछुड़ने का भय था तथा एक भावना मन में थी कि हो सकता है कि इस प्रकार मृत्युवरण करने से अगले जन्म में वे दोनों पुनः पति-पत्नी के रूप में मिल जाएं।

यह ऐच्छिक मृत्युवरण मन में आए आवेग को शान्त करने के लिए ही किया गया था, ऐसा कहा जा सकता है, फिर भी इसे समाधिमरण नहीं कहा जा सकता।

दीर्घनिकाय में² लिखा है कि पायासी स्त्री विवाह पश्चात् गर्भवती हुई। गर्भावस्था के अनन्तर वह हर समय इस बात को जानने के लिए बेचैन रहती थी कि उसके गर्भ में आया हुआ जीव लड़का है या लड़की। बहुत समय तक अपने मन को संयमित न रख सकने के कारण, अपनी जिज्ञासा व बेचैनी को उपशान्त करने के लिए एक तेज धार वाले हथियार से उसने अपने पेट को चीर डाला, किन्तु इसे भी समाधिमरण की कोटि में मान्य नहीं किया जा सकता है। पेट चीरने के फलस्वरूप पायासी व उसके गर्भ में पल रहे शिशु की भी मृत्यु हो गई। यद्यपि आत्महत्या का यह उदाहरण किसी भी तरह से समाधिमरण के समकक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसमें मात्र जिज्ञासा शान्ति के लिए ही ऐसा कृत्य किया गया था।

¹ मज्झिमनिकाय II 109

² दीर्घनिकाय II, 246

धम्मपद में वक्कलि का दृष्टान्त दृष्टव्य है जो भगवान् बुद्ध को बहुत चाहता था, जो भगवान् बुद्ध का प्रिय शिष्य था, जिसे भगवान् से अत्यधिक आसक्ति, लगाव, स्नेह था। भगवान् बुद्ध उसकी इस आसक्ति को कम करना चाहते थे। वे एक समय सोचने लगे, 'मैं इसे अपने से दूर कर दूँ, अन्यथा मेरे राग-भाव में फंसकर इसकी आत्मा पतन के गर्त में न चली जाए, इस कारण वक्कलि के कल्याण के लिए एवं उसके हित के लिए, उन्होंने उसे अपने से अलग रहकर कहीं दूर जाकर तपस्या करने का आदेश दिया। वक्कलि नहीं चाहता था कि वह उसके गुरु से दूर जाकर तप करे, इस वियोग को सहन न कर पाने के कारण वक्कलि ने मृत्युवरण कर लिया¹।

वक्कलि द्वारा इस प्रकार मृत्युवरण करने का यह निश्चय समाधिमरण से कहीं मेल नहीं खाता है, क्योंकि वक्कलि ने मृत्यु-वरण का यह निश्चय भगवान् बुद्ध से अलग हो जाने की स्थिति में किया था। किसी से बिछोह हो जाने पर जो मृत्युवरण किया जाता है, वह समाधिमरण की कोटि में नहीं आता है, क्योंकि समाधिमरण स्वीकार करने से पहले तो साधक को राग, द्वेष, कषायों से विमुक्त होना अनिवार्य होता है, अन्यथा उसका यह प्रयास आत्महत्या के तुल्य हो जाता है, किन्तु अन्य बौद्ध-त्रिपिटक के अंगीभूत ग्रन्थ, 'संयुक्तनिकाय' के अनुसार यह कथा अन्य रूप में वर्णित है। वक्कलि ने असाध्य रोग से ग्रस्त होने के कारण मृत्युवरण का निश्चय किया, क्योंकि रोग के कारण वह अपनी दैनिक-चर्चा को पूर्ण नहीं कर पा रहा था। उसे असहनीय कष्ट भी हो रहा था, अतः उसने देहत्याग का निश्चय किया। भगवान् बुद्ध ने उसके मृत्युवरण की दृढ़ता को प्रशंसनीय माना, तथा उसके निर्वाण-सुख की कामना भी की। तत्पश्चात् वक्कलि ने एक तीव्र धार वाले शस्त्र की सहायता से मृत्युवरण किया।²

असाध्य रोगों से पीड़ित होने के कारण तथा अपने भिक्षु-जीवन की चर्चा का सम्पादन ठीक से नहीं करने के कारण वक्कलि ने मृत्युवरण का जो निश्चय किया, वह किसी दृष्टि से समाधिमरण के समकक्ष अवश्य है, क्योंकि समाधिमरण करने वाले असाध्य रोग होने की स्थिति में समाधिमरण कर सकते हैं, लेकिन यहाँ भी कुछ भिन्नता दृष्टिगत होती है। वक्कलि ने देहिक-कष्ट से ऊबकर मृत्युवरण किया, जबकि समाधिमरण में किसी तरह के कष्टों से घबराकर मृत्युवरण नहीं किया जाता है तथा न ही किसी हथियार की सहायता ली जाती है, मात्र देह-पोषण के उपक्रमों का त्याग किया जाता है, अतः यहाँ यही कहा जा सकता है कि वक्कलि द्वारा शारीरिक-कष्ट से बचने के कारण हथियार की सहायता से मृत्युवरण का जो उपक्रम किया गया, वह समाधिमरण से भिन्न ही माना जाएगा।

'थेरीगाथा' में भी³ मृत्युवरण के बहुत से उदाहरण दृष्टव्य हैं— इस ग्रन्थ के अनुसार सिंहा वर्षों से दिव्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए साधना कर रही थी। सात वर्ष की साधना के उपरान्त उसके मज्ज में चिन्तन चला कि 'मैं तो इस जीवन से मुक्त होना चाहती हूँ, मैं इस जीवन से उब चुकी हूँ। मुझे सात वर्ष तक लगातार साधना करने के बाद भी दिव्यज्ञान की प्राप्ति नहीं हो पा रही है, अतः मैं तो अपने जीवन का अन्त कर दूँ।' इस भावना में आकर तीव्र आवेग के कारण उसने गले में

¹ धम्मपद, 381

² संयुक्तनिकाय III, 123, विशेष दृष्टव्य बुद्ध - कथा पृ. 706

³ थेरागाथा, 77

फांसी डालकर मरने का उपक्रम किया, लेकिन ज्यों ही वह फांसी लगाकर मरने लगी, उसी समय उसे दिव्यज्ञान की प्राप्ति हो गई और उसने मरने का यह विचार त्याग दिया।¹ सिंही का यह मृत्युवरण भी समाधिमरण से तुलनीय नहीं है, साथ ही फांसी लगाकर मरने के निर्णय से दिव्यज्ञान कैसे हो सकता है, यह विचारणीय है। क्योंकि समाधिमरण में जहाँ देहत्याग मात्र निर्वाण-प्राप्ति के लिये किया जाता है, वहीं थेरीगाथा के इस उदाहरण में सिंहा द्वारा किया जा रहा मृत्युवरण का प्रयास उसकी अपनी असफलता के कारण ही था, लेकिन दिव्यज्ञान की प्राप्ति के बाद उसने मृत्युवरण का त्याग कर दिया, इसका मुख्य कारण यही रहा होगा कि वह यह समझने लगी होगी कि आत्महत्या दिव्य ज्ञान की प्राप्ति का उपाय नहीं है।

संयुक्तनिकाय में गोधिका नाम की स्त्री, जो भगवान् बुद्ध की श्राविका थी, उसने असाध्य रोग से ग्रस्त होने पर रोग के निदान का प्रयत्न किया, परन्तु रोग का निदान नहीं होने के कारण जब वह इस कार्य में असफल हो गई तब उसने मृत्युवरण किया।

सम्भवतः उसने आत्ममरण बीमारी के कष्ट से नहीं बल्कि बीमारी से छुटकारा पाने के लिए किया हो, क्योंकि उसने ऐसा किया होगा, तभी भगवान् बुद्ध ने उसके मृत्युवरण की प्रशंसा की तथा यह भी कहा कि उसने निर्वाण-पद को प्राप्त कर लिया है।²

मेघराज कुष्ठ-रोग से पीड़ित होकर बौद्ध-विहार से बाहर रहता था। उसने बुद्ध से इच्छित-मरण की आज्ञा मांगी। भगवान् बुद्ध ने उसे आज्ञा दी, इच्छित-मरण की, और उसकी अनुशंसा भी की।³ मेघराज का यह मृत्युवरण समाधिमरण से तुलनीय है, क्योंकि कुष्ठ-रोग उस समय एक असाध्य रोग था, जिसका कोई इलाज नहीं था, उस रोग से उसकी देह के अंग प्रत्यंग गल जाते थे, जिसके कारण वह अपने कार्यों का सम्पादन करने में असफल ही रहता था।

जब व्यक्ति अपने कार्यों का सम्पादन करने में असक्षम हो जाए, तो समाधिमरण ग्रहण करने की आज्ञा प्रदान की जाती है। मेघराज के भी अंग-प्रत्यंग गल चुके थे, और वह किसी भी साधना-कार्य को करने में असमर्थ ही रहा, इसी कारण ही उसने इच्छितमरण का निश्चय किया होगा और भगवान् बुद्ध भी इससे सहमत हो गए हों।

महानाम का मन ध्यान में स्थिर व एकाग्रचित्त नहीं हो पा रहा था, जिससे वह उदास रहता। बहुत लम्बे प्रयास के पश्चात् भी उसका चित्त चंचल ही बना रहा, अन्त में हताश होकर उसने पर्वत से कूदकर मृत्युवरण करने का निश्चय कर लिया।⁴ महानाम का यह मृत्युवरण किसी तरह से समाधिमरण के समकक्ष नहीं है, क्योंकि जीवन से हारकर पहाड़ से कूदकर मरना आत्महत्या के समान है तथा आत्महत्या और समाधिमरण में बहुत बड़ा अन्तर भी है।

¹ थेरीगाथा, 77

² संयुक्तनिकाय, (III), 120

³ थेरगाथा, 164

⁴ थेरगाथा, 115

शुद्धोदन राजा का राजपुरोहित सप्पदस था। वह हमेशा कामाग्नि में जलता रहता था। निरन्तर प्रयास के बावजूद भी उसका मन बेचैन ही बना रहा, अन्त में जब शान्ति नहीं मिली तो उसने मृत्युवरण का निश्चय किया। उसी समय, उसका मन समाधिस्थ हो गया, उसके पश्चात् उसने अर्हत् पद प्राप्त किया, बाद में सप्पदस ने अपनी व्यथा को इस प्रकार उद्घाटित किया, — मृत्युवरण हेतु मैं शस्त्र के रूप में उस्तरा लेकर पलंग पर आसीन हो गया। अपनी धमनी काटने के लिए गले पर उस्तरा रखा ही था कि मेरे चित्त में एक विवेकपूर्ण चिन्तन चला और मैं चित्तमुक्त हुआ।¹ सप्पदस द्वारा किया गया यह मृत्युवरण का निर्णय समाधिमरण से तुलनीय है, क्योंकि सर्वप्रथम उसने मृत्युवरण का जो निश्चय किया था, वह काम-भावना से मुक्त होने के लिए किया था दूसरे ऐसे मृत्युवरण के निश्चय से अर्हतावस्था की प्राप्ति भी संभव नहीं होती है।

उत्तर सारिपुत्र के शिष्य थे। सारिपुत्र को अस्वस्थ जानकर उसके उपचार हेतु वैद्य को बुलाने के लिए उत्तर शहर को जा रहा था। रास्ते में किसी सरोवर के निकट अपना कमण्डलु रखकर वह स्नान करने चला गया। इसी बीच किसी चोर ने उत्तर के कमण्डलु में चोरी का भाल रख दिया। राज-रक्षकों ने उत्तर को पकड़ लिया। राजा की ओर से उसे मृत्युदण्ड का आदेश मिला। जब वह फांसी के स्थल पर ले जाया जा रहा था, तो उसका मन उदास व खिन्न था, लेकिन फांसी के फंदे पर झूलते वक्त उसे दिव्यज्ञान प्रकट हुआ और उसकी खिन्नता प्रसन्नता में बदल गई, उसने हंसते-हंसते फांसी के फन्दे पर झूलकर मृत्यु का वरण किया तथा अपने मन में उठे विचारों को इस प्रकार प्रकट किया — 'कुछ क्षण पहले मैं मृत्यु से घबरा रहा था, लेकिन अब मैंने इसके दुष्परिणाम को जान लिया है, अतः संसार में रहने की कामना भी समाप्त हो गई है।'²

प्रथम अवस्था में उत्तर को यह जानकर दुःख हो रहा था कि मैंने पाप कार्य नहीं किए तो भी मुझे सजा मिल रही है, मैं बिना कारण ही मृत्यु का ग्रास बन रहा हूँ, लेकिन अगले ही क्षण जब ज्ञान का प्रकाश हो गया तो उसे संसार के मिथ्यात्व का बोध हो गया तथा उसे जन्म और मरण-दोनों ही अवस्थाएं समान प्रतीत होने लगीं, अर्थात् उत्तर समभाव में विचरण करने लगा। ऐसी विषम परिस्थिति में प्रसन्न चित्त से मन में दुर्भाव न लाते हुए उत्तर ने मृत्यु का जो वरण किया, वह समाधिमरण के तुल्य है। उसके फांसी के फन्दे पर झूलने का कारण स्वेच्छा न होकर राजाज्ञा थी।

महायान बौद्ध धर्म की शाखा है। इसमें भी स्वेच्छया-मरण के अनेकों उदाहरण दृष्टव्य हैं। भावी शाक्यमुनि ने पूर्व भवों में मृत्युवरण किया था। मृत्युवरण के लिए उन्होंने अपना शरीर भूखी शेरनी को समर्पित किया था।³ वहीं उसने भेषराज के भव में आग में जलकर मृत्युवरण किया था।⁴ मृत्युवरण की ये दोनों स्थितियाँ समाधिमरण के समकक्ष प्रतीत नहीं होती हैं, क्योंकि पहली अवस्था में परोपकार के वशीभूत होकर भविष्य के शाक्यमुनि ने अपना शरीर भूखी शेरनी को खिला दिया था, अतः यह समाधिमरण से भिन्न है। दूसरी अवस्था में भेषराज आग में जलकर मरता है।

¹ थेरगाथा, 215

² थेरगाथा, 121

³ जातकमाला (i)

⁴ सद्धर्मपुण्डरीक, XXii

देहत्याग के ये दोनों उग्र रूप हैं, जबकि समाधिमरण में इस तरह मृत्युवरण का निषेध किया गया है।

चीन और जापान बौद्ध-धर्म को मानने वाले देशों में भी मृत्युवरण की प्रथा रही है। चीन में ऐसा मानते हैं कि जो मृत्युवरण करेगा वह भगवान् बुद्ध के रूप में अगले जन्म में अवतार लेगा। वहीं, जापान में स्वर्ग प्राप्ति की कामना से मृत्युवरण किया जाता है।¹

चीन में आग में झुलसकर मृत्युवरण की प्रथा है। वे लोग ज्वलनशील पदार्थों को इकट्ठा करते हैं, अग्निकुण्ड का निर्माण करते हैं, जब आग फैल जाती है, व्यक्ति उसमें कूदकर मृत्युवरण कर लेता है।² जापान में बौद्ध मन्त्र "आमीदा वुत्सु" का जाप करते हुए व्यक्ति समुद्र में डूबकर मृत्युवरण करता है।³ जुंशी नामक विधि में मृत्युवरण करने वाले व्यक्ति को यह आशा रहती है कि उसका भालिक उसे अगले जन्म में मिल जाएगा।⁴

मृत्युवरण के लिए प्रयुक्त समस्त उदाहरण किसी न किसी उद्देश्य प्राप्ति से सम्बन्धित है। अधिकांश विधियों में मृत्युवरण के लिए बाह्य-विधियों का सहारा लिया जाता है, अतः मरण प्राप्त करने की ये सभी विधियाँ समाधिमरण से भिन्न हैं।

फिर भी, यदि बौद्ध-परम्परा में उपलब्ध मृत्युवरण के उदाहरणों एवं बुद्ध द्वारा उनमें से कुछ पर दी गई सहमति पर विचार किया जाए, तो बहुत कम ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जो समाधिमरण के तुलनीय हैं। कहने का अर्थ यह है कि सामान्यतः बुद्ध ने इच्छित-मृत्युवरण के लिए अपनी सहमति नहीं दी है, फिर भी परिस्थितिवश इसका समर्थन किया है, तथा कुछ निर्देश भी दिए हैं।

संयुक्तनिकाय में उन्होंने कहा है कि जो व्यक्ति अपने को किसी बाह्य-उपकरण की सहायता से मारता है और इस स्थिति में यदि वह सांसारिक-मोहमाया से विरक्त रहता है, तो उसे आत्मवध का दोष नहीं लगता है। वह निर्वाण का अधिकारी होता है और सांसारिक-कष्टों से उसे मुक्ति मिल जाती है।⁵

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैनधर्म में वर्णित समाधिमरण और बौद्धधर्म में प्रतिपादित मृत्युवरण की परम्परा में मूलभूत अन्तर है। समाधिमरण लेने वाले व्यक्ति का अनशन उसके देह पर से ममत् हटाने के भाव को प्रदर्शित करता है।

जिस प्रकार जैन-धर्म में समाधिमरण को मोक्षप्राप्ति में सहायक माना जाता है, उसी प्रकार बौद्धों का प्राणत्याग भी निर्वाण-प्राप्ति के लिए ही किया जाता है। वह जैन-धर्म के समाधिमरण के समान ही है, क्योंकि दोनों ही परम्पराओं का यह देहत्याग निर्वाण-प्राप्ति के लिए ही किया जाता है। बौद्ध-साहित्य में मिलने वाले बहुत से मृत्युवरण के उदाहरण इसकी पुष्टि भी करते हैं। अतः

¹ Encyclopaedia of religion Ethics XII, p.n. 26

² वही, Xii पृ. 26

³ वही, Xii पृ. 26

⁴ संयुक्तनिकाय, (III) 120, 123

⁵ Encyclopaedia of religion Ethics Vol XII, p.n. 26

बौद्ध-धर्म में शस्त्रघात द्वारा जो मरण किया जाता है, वह भी शीघ्रमरण की कामना से मुक्ति माना गया है, इसके पीछे उसकी निर्वाण प्राप्ति की भावना रहती है। इस तरह, बौद्धों का मृत्युवरण भी जैनों की ही तरह निर्वाण-प्राप्ति का एक साधन है। ऐसा कहा जा सकता है।

ईसाई-परम्परा और समाधिमरण

ईसाई-धर्म में आत्महत्या और समाधिमरण को लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार के दृष्टिकोण मिलते हैं। कुछ विचारकों ने जहाँ इसका समर्थन किया है, वहीं कुछ विचारक इसका विरोध भी करते हैं। जहाँ तक ईसाई-धर्म के मूल ग्रन्थ बाईबिल का प्रश्न है, उसमें आत्महत्या का निषेध ही किया गया है, फिर भी इस परम्परा में कुछ ऐसे चिन्तक भी हुए हैं, जिन्होंने मृत्युवरण के सन्दर्भ में अपनी सहमति व्यक्त की है। ईसाई-धर्म के मूल ग्रन्थों में तो हमें इस सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती है, यद्यपि डॉ. रज्जनकुमार ने अपनी पुस्तक समाधिमरण में ईसाई-धर्म के विचारकों के विचार समाधिमरण के सन्दर्भ में प्रस्तुत किए हैं।

हम भी यहाँ डॉ. रज्जनकुमार की समाधिमरण नामक पुस्तक के अनुसार ही इस सन्दर्भ में कुछ ईसाई-विचारकों के क्या मन्तव्य रहे हैं, इसकी चर्चा करेंगे। इच्छित-मरण (स्वेच्छिक-मृत्युवरण) का प्रश्न विश्व की सभी परम्पराओं और धर्मों के समक्ष एक विचारणीय प्रश्न रहा है। इस सम्बन्ध में समय-समय पर उन सभी परम्परा के लोगों ने अपने-अपने ढंग से विचार प्रस्तुत किए हैं। कभी उन्होंने इसका समर्थन किया है, तो कभी विरोध भी। ईसाई-धर्म के समर्थकों ने भी स्वेच्छिक-मृत्युवरण पर अपने विचार रखे हैं। इस वैज्ञानिक-युग में जनसंख्या-वृद्धि के परिणामस्वरूप आत्महत्या भी बढ़ने लगी है, जिसके कारण न केवल व्यक्ति, अपितु समाज और शासन भी बुरी तरह संतप्त है। इसी कारण से पादरी, धर्मगुरु, राजा, साधारण जनता, शिक्षाविद्, समाज-सुधारक सभी ने इस विषय पर कुछ चिन्तन किया और स्वकथ्य को प्रकट भी किया, किन्तु पाश्चात्य जगत में न केवल वर्तमान में, अपितु प्राचीनकाल में भी इस सम्बन्ध में चिन्तन हुआ है। अरस्तू और प्लेटो ने आत्महत्या की निन्दा करते हुए कहा है कि आत्महत्या करने वाला व्यक्ति समाज एवं राज्य-दोनों का अपराधी है, क्योंकि वह राज्य एवं समाज के बनाए नियमों का उल्लंघन करता है, उनके विचार में आत्महत्या का कभी भी समर्थन नहीं करना चाहिए।¹ 'सन्त जेरोम' के विचारों के अनुसार ईसाई-धर्म पर विश्वास रखने वाले लोगों को आत्महत्या नहीं करनी चाहिए।²

सन्त मोन्टेन के कथनानुसार आत्महत्या भयंकर अपराध है, जिसके प्रति सहानुभूति के भाव न रखें।³ 'इपिक्टस' मृत्युवरण पर, अर्थात् आत्महत्या के प्रति अपनी असहमति व्यक्त करते हैं। उनका कथन है मित्रों! ईश्वर की आज्ञा का इन्तजार करो कि कब वह हमें यहाँ (संसार) से मानव-जाति की सेवा से मुक्त कर अपने पास बुलाता है। जब उसकी आज्ञा हो, तभी ईश्वर के पास पहुँचो, आत्महत्या मत करो, हो सके, तो इस धिनौने पाप से बचो।⁴

¹ Encyclopaedia of religion Ethics Vol, XII p.n. 30

² St. Jerome Commentari in Jonem L.P. 12

³ Motaigan Essays, II, 3

⁴ -friends : wait for god: when he shall give the signal and release from this service then

‘थॉमस एविबनों’ ने कहा कि आत्महत्या करना अपने-आप को धोखा देना है। उनके कथनानुसार आत्महत्या करने वाला व्यक्ति ईश्वर के साथ विश्वासघात करता है, अपने भाग्य के साथ विश्वासघात करता है तथा इस लोक व परलोक में दुःख को प्राप्त करता है।¹

‘शापेनहावर’ ने आत्महत्या को एक पागलपन कहा है। उसने आगे कहा है कि आत्महत्या करने वाला प्राणी मानवता का अपमान करता है तथा अपने जीने की तमन्ना को समाप्त कर देता है। अक्सर देखा जाता है, आत्महत्या करने वाले प्राणी के मन में जीने की आकांक्षा रहती है, पर वह जीना चाहते हुए भी भावावेश में आकर आत्महत्या कर लेता है।²

‘काण्ट’ के विचारों से आत्महत्या करने वाला मानव अपनी मानवता का ही तिरस्कार कर देता है। उसकी दृष्टि में आत्महत्या अनैतिक है। इस तरह, हम यह देखते हैं कि पाश्चात्य-चिन्तकों तथा ईसाई-धर्म में ऐच्छिक देहत्याग का विरोध बड़े पैमाने पर हुआ है। इन विरोधों के बाद भी कुछ ऐसी विशेष परिस्थितियां हैं, जिनमें ऐच्छिक-देहत्याग की सहमति ईसाई-परम्परा में भी देखने को मिलती है। सहमति ही नहीं, बल्कि इसके पक्ष में प्रशंसा व समर्थन के स्वर भी सुनाई देते हैं। फ्रांस के शासक लुई नवम् ने, आत्महत्या एक समस्या है—इस पर अपने कथ्य को व्यक्त करते हुए आत्महत्या को अभिशाप बताया और इसके विरुद्ध एक कानून बनाया, जिसका मुख्य उद्देश्य आत्महत्या की बढ़ती प्रवृत्ति पर रोक लगाना था। इस कानून के अनुसार आत्महत्या करने वाले प्राणी की चल-अचल सम्पत्ति राज्य की सम्पत्ति मानी जाती थी। बहुत से अन्य यूरोपीय राज्यों ने फ्रांस के आत्महत्या-विरोधी कानून का अनुसरण किया। वहाँ के शासकों ने भी इसी तरह के मिलते-जुलते कानून अपने राज्यों में लागू किए।

फ्रांस के लुई चौदहवें ने आत्महत्या विरोधी कानून का पालन पूरी सख्ती से करवाया। स्कॉटलैण्ड में भी आत्महत्या को महापाप कहा जाता है। वहाँ आत्महत्या करने वालों को पड़ोसी का हत्यारा कहकर आत्महत्या के विरुद्ध एक व्यापक जन-अभियान छेड़ा गया। प्रशासन द्वारा आत्महत्या के विरुद्ध व्यापक कानून बनाया गया तथा उनका कठोरता से पालन करवाने का निर्देश दिया गया। इंग्लैण्ड में भी इसे महा-अपराध की श्रेणी में रखते हुए महापाप की संज्ञा देने के साथ-साथ आत्महत्या करने वाले व्यक्ति की सम्पूर्ण सम्पत्ति दण्डस्वरूप राजकोष में जमा कर ली जाने लगी। इसके अलावा दण्डस्वरूप अन्य कई तरह के नियम अपनाए गए। 1598 ई. में एक औरत ने जल में डूबकर आत्महत्या कर ली। उसके शरीर को जलाशय से निकालकर पुनः उसकी लाश को फांसी के तख्ते पर चढ़ाया गया। ऐसा मात्र दण्ड देने के लिए नहीं किया गया होगा, बल्कि इसके पीछे यही भावना रही होगी कि व्यक्ति आत्महत्या से बचें। क्योंकि यह इतना बड़ा अपराध है कि मरने के बाद भी मृतक को दण्ड मिलता है।

इस प्रकार, सामान्यतया आत्महत्या को अपराध मानते हुए भी ईसाई-धर्म के अनुसार व्यक्ति आपातकालीन परिस्थिति में मृत्युवरण कर सकता है। अपने धर्म की रक्षा के लिए, अपने धर्म का परित्याग करने की बात जहाँ उपस्थित हो, अपने पवित्र व नैतिक-मूल्यों की रक्षा के लिए। इन

go to him, Epicts, Dessert i, ix 16, for detailed study to see E.R.E. Vol. XII, p. 24.

¹ Wester Marck op ii pp 215, 53

² Mctaphy Mctraphysics be Anfangungagrundeder tungendlebr ckant p. 73

परिस्थितियों में व्यक्ति द्वारा किए गए मृत्युवरण की प्रशंसा सर्वत्र की जाती है तथा इसकी सहमति ईसाई-परम्परा के साथ-साथ अन्य परम्पराओं में भी दी गई है।

इन विकट परिस्थितियों में किया गया मृत्युवरण जैन-धर्म में वर्णित समाधिमरण के समान ही प्रशंसनीय एवं स्वीकार करने योग्य है। इसके विरुद्ध किसी तरह का आक्षेप नहीं लगाया जा सकता है, लेकिन मृत्युवरण करने वाला व्यक्ति प्रशंसा का पात्र तभी बनता है, जब कुछ विशेष परिस्थितियों में देहत्याग करता है, जैसे- असाध्य बीमारी आने पर, जब जीवित रहना सम्भव न हो पाए, चारों तरफ से अग्नि में फंस जाए, डूबने जैसी स्थिति हो जाए, दुष्ट लोगों के बीच फंस जाए, हिंसक पशुओं के बीच घिर जाए। ऐसी परिस्थिति में प्राणी देहत्याग का निर्णय करता है, तो उसका यह देहत्याग प्रशंसा के तुल्य है।

माण्टेस्क्यू कहते हैं कि मृत्युवरण व्यक्ति का अधिकार है। प्लिनी भी मृत्युवरण का समर्थन करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति मृत्युवरण या आत्मबलिदान करने का साहस रखता है तथा जब भी उसे अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने में प्रसन्नता का अनुभव हो, वह अपनी शक्ति का प्रयोग बेहिचक कर सकता है। युद्धस्थल पर अपने शील के रक्षार्थ, धर्म से पतित हो जाने की अपेक्षा व्यक्ति देहपात करे तो क्या उसके मृत्युवरण को प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता है ? क्या ऐसी विकट परिस्थितियों में देहत्याग न करके धर्म से भ्रष्ट हो जाना चाहिए ?

डायगलायर्ट के अनुसार व्यक्ति विशेष परिस्थितियों में मृत्युवरण कर सकता है। अपने देश के लिए साथियों के लिए, - इन परिस्थितियों में उसके द्वारा किया गया मृत्युवरण आदर्श-अवस्था का सूचक है, वह सभी का आदरणीय बन जाता है।

व्यक्ति को अपनी शक्ति के प्रयोग करने की स्वतंत्रता मिलनी ही चाहिए, अन्यथा वह शक्ति से युक्त होकर भी शक्तिहीन ही माना जाएगा, अतः स्पष्ट है कि साधारण परिस्थिति में ईसाई-धर्मगुरुओं ने मृत्युवरण या आत्म-बलिदान का समर्थन नहीं किया है, तथापि कुछ विशेष परिस्थितियों में मृत्युवरण का समर्थन किया है। उदाहरणस्वरूप ईसाई-धर्मग्रन्थों में उन स्त्रियों की अत्यधिक प्रशंसा की गई है, जिन्होंने अपने सतीत्व के रक्षार्थ देहत्याग किया था।

ईसाई-धर्मगुरुओं ने उन स्त्रियों के मृत्युवरण की प्रशंसा तो की है, साथ ही उन्होंने उनके साथ दयालुता का प्रदर्शन भी किया है एवं उन्हें बहुत ही उच्च स्थान प्रदान किया है। उन्हें सन्तों की श्रेणी में रखकर उनके प्रति असीम आदर के भाव को प्रदर्शित किया है। उपर्युक्त चिन्तन के आधार पर समाधिमरण और ईसाई-धर्म के मृत्युवरण में पाए जाने वाले अन्तर पर प्रकाश डाला जाना चाहिए।

समाधिमरण में जहाँ स्पष्टतया इस बात पर बल दिया गया है कि मृत्युवरण व्यक्ति केवल अनशनपूर्वक करता है, वहीं ईसाई-धर्म में मृत्युवरण के लिए किसी तरह का स्पष्ट निर्देश नहीं है। इसमें व्यक्ति पर ही यह छोड़ दिया गया है कि वह मृत्युवरण के लिए कौनसा पथ अपनाए।

अतः, इस दृष्टि से समाधिमरण और ईसाई-धर्म के मृत्युवरण में काफी भिन्नता दृष्टिगत होती है, लेकिन कुछ विशेष परिस्थितियों, जिसके कारण व्यक्ति देहत्याग करता है, उन पर विचार किया जाए तो कुछ समानताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं, क्योंकि ईसाई-धर्म में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों में धर्म के रक्षार्थ, सतीत्व की रक्षा के लिए देहत्याग कर

सकता है किन्तु अन्य साधारण परिस्थितियों में उसे मृत्युवरण करने का अधिकार नहीं है। निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि समाधिमरण और ईसाई परम्परा का मृत्युवरण कुछ अर्थों में प्रक्रिया को लेकर भले ही भिन्न हो, लेकिन जहाँ तक भावनाओं और परिस्थितियों की बात है, दोनों में कुछ समानता भी है और इससे इन्कार भी नहीं किया जा सकता।

अध्याय 6

आराधनापताका में उल्लेखित आराधकों की कथाओं का

तुलनात्मक—विवरण

प्राचीनाचार्यकृत इस आराधनापताका के बत्तीसवें द्वार में समाधिमरण द्वारा मृत्यु को प्राप्त करने वाले कुछ साधकों का उल्लेख है। यद्यपि इस ग्रन्थ में समाधिमरण के उन साधकों का विस्तार से कोई विवेचन तो उपलब्ध नहीं होता है, किन्तु संक्षेप में घटनाक्रम का निर्देश करते हुए उन साधकों के नामों का उल्लेख हमें मिल जाता है। घटनाक्रम के उस अति संक्षिप्त निर्देश से यह पता चल जाता है कि समाधिमरण के उन साधकों ने किस प्रकार किस परिस्थिति में समाधिमरण ग्रहण किया था। यद्यपि इन कथा-निर्देशों में अधिकांशतः तो उन व्यक्तियों के निर्देश हैं, जिन्हें अन्य व्यक्तियों द्वारा उपसर्ग देकर मृत्यु के मुख तक पहुँचाया था, जैसे—स्कन्धक के 500 शिष्यों को पालक ने घाणी में पील दिया था अथवा गज सुखमाल को सोमिल द्विज ने सिर पर अंगारे रखकर मारने का उपक्रम किया था, किन्तु इसके साथ-साथ इसमें ऐसे भी उल्लेख हैं, जिन्होंने वृद्धावस्था में मासिक संलेखना को स्वीकार करके देहत्याग किया था। कहा गया है कि धन्ना एवं शालिभद्र ने वैभार पर्वत पर पादपोगनन-संधारा स्वीकार करके सर्वार्थ-सिद्ध विमान में जन्म धारण किया।

इस प्रकार, प्रस्तुत ग्रन्थ में समाधिमरण ग्रहण करने वाले, चाहे उन्हें उपसर्ग के आधार पर देहत्याग करना पड़ा हो, अथवा जिन्होंने वृद्धावस्था में शारीरिक-शक्ति क्षीण हो जाने पर समाधिमरण ग्रहण किया हो, —दोनों ही उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ में मिल जाते हैं। समाधिमरण ग्रहण करने वाले जिन साधकों का निर्देश हमें प्राचीनाचार्य विरचित इस आराधनापताका में मिलते हैं, उनके कथानक जैन-साहित्य के अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं, जैसे—गजसुखमाल का कथानक हमें अंतकृतदशा में उपलब्ध होता है। प्रस्तुत अध्ययन में हमने यह बताने का प्रयास किया है कि समाधिमरण के साधकों के जो निर्देश हमें इस प्राचीनाचार्य-विरचित आराधनापताका में मिलते हैं, वे अन्य ग्रन्थों में भी कहाँ और किस रूप में पाए जाते हैं। इस सन्दर्भ में हमने सर्वप्रथम मूल-कथा को देकर फिर यह बताने का प्रयास किया है कि यह कथानक अन्यत्र किस रूप में उपलब्ध होता है।

इस प्रकार, प्रस्तुत अध्याय को हमने तुलनात्मक और शोधपरक बनाने का प्रयास किया है। यद्यपि यहाँ हम सम्पूर्ण कथानकों को तो प्रस्तुत नहीं कर पा रहे हैं, किन्तु जिन कथानकों के निर्देश अन्यत्र उपलब्ध हुए हैं, उनकी कथा को संक्षेप में यहाँ देने का प्रयत्न किया गया है। केवल दो-तीन कथानकों को छोड़कर हमें इस प्राचीनाचार्यकृत आराधनापताका के कथानक अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध हुए। यहाँ तक कि दिगम्बर-परम्परा के भगवती-आराधना और आराधना-कथाकोश

नामक ग्रन्थों में भी इनमें से कुछ कथानकों के निर्देश हमें मिल जाते हैं। जिनका संकेत हमने इन कथानकों के साथ ही करने का प्रयास किया है।

कथानकों के इस क्रम में हमने मुख्य रूप से प्राचीनाचार्य—विरचित आराधनापताका के क्रम को ही आधार बनाया है और कथानक के अन्त में यह बताने का प्रयास किया है कि वह कथानक जैन—साहित्य में अन्यत्र कहाँ उपलब्ध है। आराधनापताका में समाधिमरण के सम्बन्ध में गाथा क्रमांक 794 में स्कन्दक आचार्य के 500 शिष्यों की कथा दी गई है, जो घाणी में पीलने पर भी उत्तमार्थ को प्राप्त हुए।

श्रावस्ती नामक एक धार्मिक एवं समृद्धिशाली नगर था, जहाँ न्यायप्रिय राजा जितशत्रु राज्य करते थे। उनके अंतःपुर में सुन्दर प्रियभाषिणी धारिणी नामक महारानी थी। उनके 'पुरंदरयशा' नामक राजकुमारी एवं 'स्कन्दक' नामक राजकुमार था। दोनों को ही व्यवहारिक—शिक्षा के साथ—साथ धार्मिक—शिक्षण भी बहुत अच्छी तरह कराया गया। दोनों ही भाई—बहन में गहरा स्नेह था। युवावस्था प्राप्त होने पर पुरन्दरयशा का विवाह कुम्भकारकंटक नगर के राजा दण्डक के साथ किया गया। वहाँ पालक नामक पुरोहित मंत्री पद पर था। वह मिथ्यात्वी था और अपने आपको बहुत ज्ञानी समझता था। वह बात—बात में चर्चावाद में प्रवृत्त हो जाता और अपनी बात मनवाकर ही खुश होता। एक बार किसी आवश्यक कार्य के लिए राजा ने उसे अपने ससुराल जितशत्रु राजा के पास भेजा। पालक श्रावस्ती नगर के राजा जितशत्रु के पास पहुँचा। वहाँ विविध धर्मों के बारे में चर्चा चल रही थी। पालक ने अपने नास्तिक—मत का प्रतिपादन किया। जिसके आगे सारे विद्वान् झुक गए, परन्तु स्कन्दककुमार ने उसकी बात नहीं मानी। उसने जैन—तत्त्व के आधार पर सचोट जवाब दिया, जिसके कारण पालक को चुप रहना पड़ा व सभी स्कन्दक की बात का समर्थन करने लगे। पालक ने इसे अपना अपमान समझा व समय आने पर बदला लेने का निश्चय किया। वह मन में बदले की भावना लेकर अपने कुम्भकारकंटक नगर में लौट गया। एक—बार तीर्थकर भगवान् मुनि सुव्रतस्वामी विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी में पधारे। स्कन्दककुमार भी वन्दन—दर्शन करने के लिए पहुँचे। प्रभु की वैराग्यमय धर्मदेशना सुनकर स्कन्दककुमार को संसार से विरक्ति हो गई। उसने अपने पाँच सौ मित्र राजकुमारों के साथ भगवान् के पास दीक्षा अंगीकार कर ली। कुछ समय में ही वे सम्पूर्ण सिद्धान्तों के ज्ञाता बन गए। सभी प्रकार से योग्य जानकर प्रभु ने उन्हें आचार्य बना दिया। एक दिन आचार्य स्कन्दक मुनि ने भगवान् से निवेदन किया— हे प्रभो! यदि आप आज्ञा दें, तो मैं अपने संसार—पक्ष की बहन पुरन्दरयशा और बहनोई राजा दण्डक आदि को धर्म का प्रतिबोध देने के लिए कुम्भकारकंटक नगर जाना चाहता हूँ।

भगवान् ने ऊहा 'स्कन्दक! वहाँ तुम सभी पर प्राणांतक उपसर्ग आएंगे व तुम नारकीय—यंत्रणा के शिकार बन जाओगे। यह सुनकर स्कंधक मुनि ने विचार किया— सद्धर्म—प्रचार में तो संकट उपसर्ग आते रहते हैं। उस स्थिति में अपनी 'समभाव' की साधना पर दृढ़ रहना ही हमारी सफलता है। फिर स्कंदक आचार्य ने भगवान् से पुनः पूछा— 'हे प्रभो! उन उपसर्गों के निमित्त से मैं आराधक बनूंगा या विराधक ? तब भगवान् ने कहा— 'तुम्हारे अतिरिक्त तुम्हारे सभी साथी आराधक बनेंगे एवं मोक्ष के अधिकारी बनेंगे। फिर स्कन्दकाचार्य ने कहा— 'हे प्रभो! यदि पाँच सौ साधुओं को आराधक बनाने में सहायक होऊंगा तो फिर मेरा कल्याण कैसे नहीं होगा? स्कन्दकाचार्य के ऐसा कहने पर भगवान् मौन रहे। फिर, भगवान् को वन्दन कर स्कन्दक आचार्य ने अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ कुम्भकारकंटक नगर की तरफ विहार कर दिया। इधर गुप्तचरों द्वारा पालक

प्रधान को यह समाचार मिल गए कि स्कन्दकाचार्य अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ उनके नगर में आ रहे हैं, अतः स्कन्दक से बदला लेने के लिए पालक ने षडयंत्र की रचना की व जिस उद्यान में मुनियों को ठहराना था, उसकी जमीन खुदवाकर अनेक प्रकार के हथियार गड़वा दिए। जब स्कन्दकाचार्य अपने शिष्यों के साथ कुम्भकारकंटक नगर पधारे, तो पालक सबसे आगे रहकर अत्यन्त विनयभावपूर्वक समर्पण के साथ आचार्यश्री का स्वागत करके नगर में ले आए और आग्रह करके उसी उद्यान में ठहरने की विनती की।

यहाँ 'नमन-नमन में फेर है, बहुत नमे नादान, दुर्जन तो दुगना नमे, चीता चोर, कमान।'—वाली कहावत चरितार्थ हुई। आचार्यश्री ने पालक की आँखों में द्वेष की झलक देख ली। फिर भी 'भवितव्यता बलियसी' मानकर निष्कपट-भाव से उसकी विनती को मानकर उद्यान में ठहर गए। राजा दण्डक आदि सभी स्कन्दकाचार्य के दर्शनार्थ पहुँचे। रानी पुरन्दरयशा अपने भाई को देखकर बहुत खुश हो रही थी। आचार्यश्री ने धर्मदेशना दी। देशना सुनकर सभी नगर में लौट गए। इधर रात्रि में मंत्रकक्ष में पालक ने राजा दण्डक को समझाया कि यह स्कन्दकुमार जो आपका साला है, वह आपके राज्य पर अधिकार करने के लिए ही अपने साथ साधु-वेश में पाँच सौ योद्धाओं को आधुनिक शस्त्रों से सुसज्जित करके लाया है, उसमें एक-एक योद्धा एक-एक हजार सैनिक के बराबर है। पहले तो राजा ने यह बात नहीं मानी, परन्तु बहुत आग्रह करने पर प्रत्यक्ष प्रमाण बताने की मांग पर राजा मान गए।

दूसरे ही दिन पालक कुछ विश्वस्त मजदूरों को साथ लेकर राजा के साथ उद्यान में आया और मुनियों को गालियाँ देता हुआ उद्यान की जमीन को खुदवाने लगा। पहले से गाड़े हुए शस्त्र खोदकर निकाले और राजा को बताए तो शस्त्रों को देखकर राजा ने क्रोधावेश में आकर पालक से कहा— 'इस देश के मंत्री के नाते और इस देश की भलाई और सुरक्षा के लिए तुम इन्हें जो भी दण्ड देना चाहो, दे सकते हो, तुम्हें किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं।' इतना कहकर राजा तो महल में चले गए। दुष्ट पालक को बदला लेने का अच्छा अवसर मिल गया, वह बहुत खुश हुआ। उसने विचार किया — "मैं इस तरह से इन्हें दण्ड दूँ कि जिससे इन्हें असह्य कष्ट हो और एक-एक को घाणी में गन्ने की तरह पीलवाऊँ।"

उसने उद्यान की तरफ नागरिकों को जाने की निषेधाज्ञा की नगर में वोषणा करवा दी। फिर, उसने मनुष्यों को पीलने वाला महायंत्र (कोल्हू) तैयार करवाकर मंगवाया और राजा दण्डक के नाम से स्कन्दकाचार्य को सजा सुनाई। स्कन्दकाचार्य सारी परिस्थिति देखकर सब कुछ समझ गए। वे पीलने के लिए ले जाते हुए एक-एक शिष्य को भेद-विज्ञान का उपदेश देकर आलोचना करवाते, यथोचित प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करते, उनके मन में समाधिभाव उत्पन्न करवाते, फलस्वरूप, पीलने के लिए कोल्हू पर चढ़ते समय प्रत्येक शिष्य के मन में यही भाव उत्पन्न कर दिया कि 'इसमें पीलने वाले का कोई दोष नहीं है, यह सारा दोष मेरे पूर्व कर्मों का है'। **'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि'** अर्थात् — किए हुए को भोगे बिना मोक्ष नहीं है। इस प्रकार चिन्तन करते-करते पालक आदि के प्रति द्वेषभाव न रखते हुए उन मुनियों ने शुक्लध्यानरूपी अग्नि से कर्मरूपी ईंधन को जलाकर क्षपक-श्रेणी के साथ कोल्हू पर आरूढ़ होकर पालक द्वारा घाणी में

पीलते-पीलते ही अन्तिम क्षणों में 'अरिहन्ते शरणं पवज्जामि, सिद्धे शरणं पवज्जामि' कहते हुए केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त किया।¹

प्राचीनाचार्यकृत आराधनापताका के आराधक मनुष्यों और पशुओं के कुछ दृष्टान्त निरूपित किए गए हैं, इनमें यह बताया गया है कि जो साधक अपनी आत्मा को समताभाव से भावित करता हुआ अपने पापों की आलोचना कर समभाव से देहत्याग करता है उसकी आराधना विशुद्ध होती है इस सम्बन्ध में आराधनापताका की गाथा क्रमांक 795 में² एवं अन्तकृतदशा नामक अंग-आगम में गजसुखमाल मुनि द्वारा अग्नि के दारुण उपसर्ग को सहन करने का बड़ा ही रोमांचक वर्णन मिलता है।³

आराधनापताका में तो मात्र उनके नाम का निर्देश है, किन्तु अंतकृत-दशा में सम्पूर्ण कथा है, जो निम्न है।

द्वारिका नगरी में वासुदेव श्रीकृष्ण रहते थे। उनका गजसुखमाल नामक एक छोटा भाई था। इच्छा न होने पर उसने माता देवकी और वासुदेव श्रीकृष्ण के अति आग्रह से सोमशर्मा नामक ब्राह्मण की पुत्री के साथ विवाह का प्रस्ताव स्वीकार किया, किन्तु उसी दिन उसने भगवान् नेमिनाथ के पास जाकर धर्मश्रवण किया तथा सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा संसार का स्वरूप जानकर उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और रूप-लावण्य से युक्त अल्पवय होने पर भी वह चरमशरीरी महासत्त्वशाली गजसुखमाल मुनि बन गया। उसी दिन वह गजसुखमाल मुनि कायोत्सर्ग में स्थिर हो गए।

काष्ठ आदि संग्रह हेतु सोमशर्मा ब्राह्मण भी उधर आया और अपने भावी जामातृ को मुनि-रूप में देखकर उसका पूर्वभव का वैर जाग्रत हो गया और मुनि को देखकर वह कहने लगा कि यह वही है, जिसने मेरी पुत्री से विवाह का प्रस्ताव स्वीकार कर उसका त्याग किया है। ऐसा विचार आते ही वह क्रोध में बेकाबू हो गया। मुनि को मारने की भावना से उसने उनके सिर पर मिट्टी की पाल बांधी और पाल के अन्दर जलते हुए अंगारे उनके सिर पर डाल दिए। इस कारण, मुनि का मस्तक अग्नि से जलने लगा। उस तीव्र वेदना की अवस्था में भी गजसुखमाल शुभध्यान में स्थिर रहे। क्षमाभाव को चित्त में धारण कर वे गजसुखमालमुनि अन्तकृत-केवली बनकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए। इस प्रकार वे क्षमा के सागर गजसुखमाल अपनी अन्तिम आराधना में पूर्ण रूप से सफल हुए।

आराधनापताका में समाधिमरण के सम्बन्ध में गाथा क्रमांक 797 में सनत्कुमार की कथा दी गई है, वह इस प्रकार है—

¹ पंचसया एगूणा खंदगसोसा दिण्ण पावेण।

जंते पीलिज्जंता पडिवन्ना उत्तिम अहं।।

आराधनापताका - गाथा - 794

² भयवं गयसुकुमालो खाइत्तंगारपूरियकवालो।

सोमिलदिण्ण वियणं अहियासितो सिवं पत्तो। आराधनापताका - गाथा - 795

³ _

कुरुक्षेत्र की राजधानी हस्तिनापुर के महाराज अश्वसेन की रानी सहदेवी ने चक्रवर्ती पदसूचक चौदह महास्वप्न देखकर पुत्ररत्न को जन्म दिया। जन्मोत्सव करके उसका 'सनत्कुमार' नाम रखा गया। कुमार विद्याध्ययन में निपुण हुआ। कुमार के मित्र महेन्द्रसिंह से उसकी पराक्रम-गाथा सुनकर महाराजा बहुत प्रसन्न हुए। अवसर देखकर कुमार का राज्याभिषेक कर दिया गया व महेन्द्रसिंह को सेनापति बना दिया गया। फिर, राज्य की धुरा कुमार के हाथों में सौंपकर राजा-रानी ने आत्मकल्याणार्थ दीक्षा लेकर मानव-जन्म को सफल किया। इधर सनत्कुमार की आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ, तो राजा दिग्विजय यात्रा को चल दिए। सम्पूर्ण भरतखण्ड पर उन्होंने अपनी विजय की मोहर लगा दी और वे चक्रवर्ती बने। अधीनस्थ राजाओं ने मिलकर चक्रवर्ती पद का अभिषेक कर उन्हें इस अवसर्पिणीकाल के चौथे चक्रवर्ती होने की घोषणा की। एक शकेन्द्र की सुधर्मासभा में आए हुए ईशान-कल्प के संगमदेव की देहप्रभा को देखकर किसी देव ने प्रश्न किया कि ऐसा उत्कृष्ट रूप और देहप्रभा से युक्त अन्य व्यक्ति भी संसार में कोई है क्या ? इस पर शकेन्द्र ने कहा— "जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत हस्तिनापुर नगर में कुरुवंशी चक्रवर्ती सम्राट महाराजा सनत्कुमार की देहप्रभा और रूप के सामने यह कुछ भी नहीं है।" विजय और वैजयन्त नामक दो देव इन्द्र की बात का खण्डन करने के लिए ब्राह्मण का रूप बनाकर हस्तिनापुर आए तथा स्नानादि से पूर्व तेलमर्दन, उबटन कराते हुए चक्रवर्ती के रूप की देहप्रभा को देखकर विस्मित हुए। वे देव एकटक देखते ही रह गए। उन्होंने शकेन्द्र की बात पर विश्वास किया। दोनों ब्राह्मणों को इस विस्मित अवस्था में देखकर सनत्कुमार ने पूछा— "आप कौन हैं ? किस प्रयोजन से यहाँ आए हैं ?" देवों ने कहा— "हम तो आपके रूप को देखने आए हैं"—रूपगर्वित होकर चक्रवर्ती बोले— जब मैं वस्त्राभूषणों से सजधजकर राजसिंहासन पर बैठूँ तब मेरे रूप और देह की प्रभा को देखना। अभी तो क्या रूप है ?" कहावत है— एक नूर आदमी, हजार नूर कपड़ा, लाख नूर गहना, करोड़ नूर नखरा, तदनुसार ब्राह्मणरूपी देवों ने राजसभा में आने का वचन दिया। चक्रवर्ती ने स्नान किया और अन्य दिनों की अपेक्षा आज विशेष रूप से श्रृंगार कर राज्यसभा में आए। फिर दोनों ब्राह्मणों को अपना रूप दिखाने हेतु बुलवाया गया। राजा ने विचार किया कि वे ब्राह्मण अब और अधिक मेरे रूप की प्रशंसा करेंगे। उसे अपने रूप पर अभिमान आ गया। दोनों ब्राह्मणरूपी देवों ने वस्त्रालंकारों और आभूषणों से विभूषित चक्रवर्ती को सिंहासन पर विराजमान देखा, तो नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया। चक्रवर्ती के पूछने पर उन्होंने कहा— जो रूप और शरीर की आभा हमने पहले देखी थी, वैसी अब नहीं है और विश्वास न हो, तो आप पीकदानी में थूंक कर देख लीजिए। तुरन्त पीकदानी मंगवाकर उसमें चक्रवर्ती ने थूंका व ध्यान से निरीक्षण किया तो असंख्यात छोटे-छोटे कीड़े कुलबुलाते हुए नजर आए। तीव्र दुर्गन्ध चारों ओर फैल गई। चक्रवर्ती ने अपने शरीर पर नजर डाली, तो उसे वास्तव में अपने शरीर की आभा फीकी-सी लगी। यह सब देखते ही चक्रवर्ती एकदम चिन्तन के सागर में गोता लगाने लगे। ओह! यह रूप-सौन्दर्य, देह-प्रभा, जिस पर मैं इतना गर्व करता था, यह सब क्षणिक है, अल्प समय में ही यह इतना निस्तेज और कुरूप हो गया। इस शरीर का पालन-पोषण करने में भी मैंने अनेकों तरह के पाप किए, फिर भी यह दगा दे गया। अब तक इस नश्वर शरीर से भिन्न जो अमर आत्मा है, उसकी तरफ मैंने बिल्कुल ध्यान ही नहीं दिया। अब ऐसा कुछ करना पड़ेगा, जिससे आत्मा की सुन्दरता निखरे और दोबारा इस शरीर में आकर इस तरह धोखा देने वाली नश्वर देह की सेवा न करना पड़े। ज्ञानी भगवन्तों के अनुसार इस शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम हैं। प्रत्येक रोम में पौने दो-दो रोग हैं, अर्थात् यह शरीर पांच करोड़ बीमारियों का घर है। ऐसे शरीर पर क्या गर्व करना ? इससे

छुटकारा पाने के लिए जिनभाषित सर्वविरत—चारित्र को अंगीकार करना ही मेरे लिए उत्तम है। महान् विभूतियों के संकल्प अति सुदृढ़ होते हैं। राग—द्वेष की आंधियों में फंसते नहीं हैं। चारित्र के विचार आते ही उन्होंने अपने पुत्र के हाथों में राज्य की धुरा संभलाई और आचार्य विनयधर के पास दीक्षित हो गए।

मंत्रीगण, राज्य के विशिष्ट पदाधिकारी एवं परिवार के सदस्यगण महीने भर तक राजर्षि के पीछे—पीछे फिरते रहे। वापस लौटने की प्रतीक्षा करते रहे, परन्तु दृढ़—प्रतिज्ञ सनत्कुमार राजर्षि विचलित नहीं हुए। सभी हारकर लौट गए। तब राजर्षि अप्रतिबद्ध होकर विहार करने लगे, साथ ही, उग्र तपस्या भी शुरू कर दी। तपस्या के पारणे के दिन तुच्छ और नीरस आहार ही ग्रहण करते, जिससे आत्मा तो पुष्ट होती रही, परन्तु शरीर को अनेक प्रकार की महाव्याधियों ने घेर लिया। उग्र तपस्या से उन्हें अनेक लब्धियाँ प्राप्त हुईं। उनमें आमशौषधि, शक्रदौषधि, मूत्रौषधि आदि प्रमुख थीं। वे बहुत वर्षों तक महारोगों को समभाव से सहन करते रहे, परन्तु इलाज नहीं करवाया और न स्वयं के लिए अपनी लब्धियों का ही उपयोग किया। शकेन्द्र ने देवों की सभा में राजर्षि सनत्कुमार की सहनशीलता की भरपूर प्रशंसा की। विघ्नसंतोषी प्रत्येक जगह हर समय उपस्थित रहते ही हैं।

यहाँ भी दो देव राजर्षि की परीक्षा होने वैद्य का वेश बनाकर उपस्थित हो गए। वन्दन नमस्कार करके कहने लगे— 'अहो तपस्वी भगवन्! हम इस देश के मशहूर वैद्य हैं। आपके रोगी होने की बात जानकर हम चिकित्सा करने को उपस्थित हुए हैं, हमें चिकित्सा करने का अवसर प्रदान कर अनुग्रहीत करें। इस तरह अनुनय—विनय करते देखकर महात्मा ने पूछा— "आप आत्म—चिकित्सक है या शरीर—चिकित्सक ?" वैद्यों ने कहा— "हम शरीर—रोग के विशेषज्ञ हैं, आत्म—रोग के नहीं।" तब महर्षि सनत्कुमार ने कनिष्ठा अंगुली पर अमि (थूंक) लंगाकर थोड़ा रगड़ कर कहा— "इस शरीर रोग की चिकित्सा तो मैं भी इस तरह कर सकता हूँ, परन्तु मुझे आत्म—रोग की चिकित्सा कराना है।" वैद्यरूपी देवों ने देखा कि जहाँ पर महर्षि ने थूंक लगाकर रगड़ा था, वह अंगुली स्वर्ण सी दमक रही है। देवों ने कहा— "आत्मा के रोगों की चिकित्सा करने में हम समर्थ नहीं हैं। वह तो आप जैसे त्यागी महात्मा ही कर सकते हैं।" देवों ने अपना असली रूप प्रकट कर बारम्बार क्षमायाचना की और वन्दना करके स्व—स्थान को लौट गए। इधर, महात्मा सनत्कुमार आत्मा को अष्टकर्मरूपी रोगों से मुक्त करने में संलग्न हो गए। सात सौ वर्षों तक इस तरह शारीरिक वेदना को समभाव से सहन करते हुए उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। जीवन के अन्तिम समय में समभाव साधनापूर्वक मृत्यु का वरण करके तीन लाख वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर सनत्कुमार देवलोक में महर्दिक देव बने।¹

¹ यह कथा त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र, पर्व 4 और सर्ग 7 के अतिरिक्त प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका की गाथा क्रमांक 797 में भी मिलती है।

“ सीहोरसियं रूहिनं चउदिसि चउपक्खसल्लिहियदेहो।

सोदुवसगो जाओ सोहम्मिदो तुरियचक्की।। — आराधनापताका, गाथा — 797

आराधनापताका में समाधिमरण के सम्बन्ध में गाथा क्रमांक 798 में अवंतिसुकुमाल की कथा दी गई है, जो हमारे रोम-रोम को कंपा देने वाली कथा है, वह इस प्रकार है।

तपोमूर्ति आचार्य महागिरि के स्वर्गगमन के पश्चात् भगवान् महावीर के दसवें पट्टधर दस पूर्वधर आचार्य सुहस्ती एक बार उज्जयिनी में पधारे और बाहर एक उद्यान में रुक गए तथा ठहरने के लिए स्थान की गवेषणा हेतु दो शिष्यों को नगर में भेजा। उज्जयिनी में भद्रा नाम की एक अत्यन्त समृद्धिशाली श्रमणोपासिका रहती थी। दोनों श्रमण भ्रमण करते हुए भद्रा के घर जा पहुँचे। श्रेष्ठ महिला ने दोनों साधुओं को श्रद्धापूर्वक वन्दन किया और उनसे आने का प्रयोजन जानने के लिए पूछा— “मुनिवर ! मेरे योग्य सेवा बताकर मुझे कृतार्थ कीजिये।

साधु बोले— “भद्रे! आचार्य सुहस्ति यहाँ पधारे हैं। हमें संघ के ठहरने हेतु उचित स्थान की आवश्यकता है।” श्रद्धावनत श्रेष्ठी महिला यह सुनते ही गद्-गद् हो गई। उसने अति प्रसन्नता से कहा— “मेरे अहोभाग्य कि आचार्य श्री मेरा घर पवित्र करेंगे।” यह कहकर उसने पुनः कहा— “आप मेरे नवनिर्मित अतिथिगृह में पधारे।” आचार्यश्री भद्रा की विनती को मध्यनजर रखते हुए भद्रा के अतिथिगृह में आ गए। श्रमणोचित साधनाएँ उस शास्त्रैकान्त स्थल में सुचारु रूप से आरम्भ हो गई तथा एक पावन वातावरण निर्मित हो गया। अतिथिगृह से सटे भद्रा के भव्य भवन के एक ऊपरी तले पर अवन्ती सुकुमाल का आवास था।

अपनी युवा सुन्दरी बत्तीस पत्नियों के संग उसका अनुरागमय जीवन चल रहा था। अभी तक तो अवन्ती सुकुमाल प्रेम, यौवन और सौन्दर्य के सिन्धु में ही निमग्न था, किन्तु जब से श्रमण संघ उसके घर में अतिथिगृह में आया था तब से उसके मन के तट को अध्यात्म की लहरियाँ भी आकर स्पर्श करने लगी थीं। उपदेशों की वाणी उसके कानों में गुंजायमान होने लगी। आचार्यश्री के प्रवचनों पर वह ध्यान देने लगा। उसका चित्त एक नवीन मोड़ पर आ गया था। उसे अनुभव होने लगा कि आचार्यश्री तो नलिनीगुल्म-विमान का वर्णन कर रहे हैं। जिन सुखों का विवेचन किया जा रहा है, वह तो स्वयं उनका प्रत्यक्ष उपभोग कर चुका है। अवन्ती सुकुमाल को तो आचार्यश्री के इस पाठ में बड़ा ही आनन्द आ रहा था और इसके अतिरेक में वह झूम उठा। पाठ समापन होते ही सुकुमाल तो उठ बैठा और सोपान-श्रेणियाँ पार करता हुआ नीचे आकर सीधा आचार्यश्री के चरणों में उपस्थित हुआ। वन्दन-नमन कर उसने सादर निवेदन किया— “आचार्यश्री! आपश्री के उर्ध्व स्वर में किए गए नलिनीगुल्म-विमान-विषयक पाठ का श्रवण किया और मेरा तो जैसे आन्तरिक तृतीय नेत्र ही खुल गया। मुझे जातिस्मरण-ज्ञान हो गया प्रभो! पाठ में वर्णित सभी दुर्लभ सुखों की प्राप्ति मैं नलिनीगुल्म-विमान में स्वयं कर चुका हूँ, यह आभास मुझे अभी-अभी पाठ को सुनते-सुनते हो गया। गुरुवर्य ! मैं अपने इस भव में उसी विमान से अवतरित हुआ हूँ, अतः गुरुदेव! अब मैं पुनः उन्हीं सुखों को प्राप्त करना चाहता हूँ। आपश्री के आश्रय के अतिरिक्त मेरे लिए कोई अन्य ठौर नहीं।” सुकुमाल ने आचार्यश्री के पावन श्रीचरणों में मस्तक टिका दिया।

आचार्यश्री ने कहा “वत्स! कल्याण हो तुम्हारा। नलिनीगुल्म-विमान में जाने के लिए तो तुम्हें संयम ग्रहण करना होगा।” अवंती सुकुमाल बोला— “मुझे स्वीकार है, प्रभो! स्वीकार है, मैं संयम ग्रहण करूँगा।” आचार्यश्री ने उसकी ओर देखा—वह नाम से ही नहीं शरीर से भी अत्यन्त सुकुमार था। उन्होंने श्रमण-जीवन के कष्ट बताते हुए कहा— “प्रिय! तुम अत्यन्त सुकुमार हो और श्रमणाचार तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है।” अवन्ती सुकुमाल बोला— “स्वामी! मैं

तलवार की धार पर भी चलूंगा।" आचार्य बोले --"वत्स! श्रमणाचार का निर्दोष पालन तुम्हारी शक्ति के बाहर है।" अवन्ती सुकुमाल बोला-- "प्रभो! मैं तन से अवश्य सुकुमार हूँ, लेकिन मेरा हृदय वज्र से भी कठोर है। मैं निश्चय ही भागवती--दीक्षा ग्रहण करूंगा और निर्दोष आचरण का पालन करूंगा।" आर्य सुहस्ती ने यह समझ लिया कि सुकुमाल किसी भी उपाय से मानने वाला नहीं है। उन्होंने कहा-- "भद्रानन्दन! दीक्षा--ग्रहण करने से पहले अपने परिवारजनों की आज्ञा ले आओ।" तदनन्तर, अवन्ती सुकुमाल ने परिवारजनों से अनुमति प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उसने इस प्रयास में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी, लेकिन परिवारजनों ने अनुमति नहीं दी, किन्तु उसे तो श्रमण--दीक्षा लेकर नलिनीगुल्म--विमान में उत्पन्न होने की तीव्र लालसा थी। उसने स्वयं ही केशलुंचन करके श्रमणवेश धारण किया और आर्य सुहस्ति की सेवा में उपस्थित होकर बोला-- "गुरुदेव! मुझे प्रव्रजित कर लीजिए। मैं आपके चरणारविन्दों में आ खड़ा हूँ।" आचार्यश्री ने उसे इस वेश में देखा। वे समझ गए कि सुकुमार को संसार से पूर्ण रूप से विरक्त हो गई है। उसे शरीर से भी ममत्व नहीं रह गया है। अतः उन्होंने उसे श्रामणी दीक्षा प्रदान कर दी।

प्रव्रजित होकर अवन्ति सुकुमाल ने आचार्यश्री से प्रार्थना की-- "प्रभो! मैं अधिक समय तक श्रमण जीवन के कष्टों को नहीं सह सकूंगा, इसलिए मुझे आमरण अनशनपूर्वक साधना करने की आज्ञा प्रदान कीजिए।" मुनि अवन्ती सुकुमाल को इच्छानुसार आज्ञा प्राप्त हो गई। तत्काल वे उज्जयिनी को त्यागकर दूर घने वनों में पहुँचे और एक उपयुक्त स्थल का चयन कर वहाँ ध्यान--साधना आरम्भ कर दी। वे ध्यानमग्न हो गए। ध्यान में अचल और अडिग रूप में वे प्रतिमावत् खड़े थे। वन--खण्ड में एक श्रृगाली अपने शावकों के साथ आहार की खोज में भटक रही थी। वह स्वयं भी भूखी थी और अपने शावकों की भूख की पीड़ा उसे अधिक त्रस्त कर रही थी। तभी श्रृगाली को सहसा पंथ में रक्त की गन्ध आई। वह उसी मार्ग पर तीव्र गति से आगे बढ़ गई। मुनि सुकुमाल तो अब तक गहन ध्यान में लीन हो गए थे। भूखी श्रृगाली ने उछलकर उनकी पिंडली को पकड़ लिया। देखते ही देखते ही उसने मुनि सुकुमाल की दोनों पिंडलियाँ मांसरहित कर दी। श्रृगाली तो मांस नोचने लगी, लेकिन कायोत्सर्ग में लीन मुनि सुकुमाल का ध्यान यथावत् अविचल रहा। ज्यों--ज्यों श्रृगाली उनके कोमल तन का मांस नोचती जाती, मुनिजी का जन उसके उपकार से भरता जा रहा था। श्रृगाली के प्रत्येक प्रहार के साथ वे आध्यात्मिक--उत्थान की नवीन ऊँचाइयाँ प्राप्त करते रहे।

वे एक के अनन्तर एक सोपान को पार करते हुए क्षपक--श्रेणी के शीर्ष को स्पर्श कर गए। यह मनुष्य के परम उत्थान की अवस्था थी, जिसे मुनि सुकुमाल ने स्वयं ही अपने लिए अपने अध्यवसाय से सुलभ कर लिया था। मुनि ने अपनी जर्जरित देह का त्याग समाधिपूर्वक किया और वे नलिनीगुल्म--विमान में देव बनें।

प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका में संक्षिप्त आराधना के सम्बन्ध में सुकौशल मुनि की कथा वर्णित है--

साकेतपुर नगर में एक कीर्तिधर नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम सहदेवी था। उनके सुकौशल नामक राजकुमार था। राजा ने एक बार किसी आचार्य का उपदेश सुना। राजा को तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुआ और सुकौशल का राज्याभिषेक करके स्वयं उन आचार्य के पास जाकर उन्होंने संयम ग्रहण कर लिया। वहाँ से विहार कर मुनि कीर्तिधर ग्रामानुग्राम विचरने

लगे। एक दिन विचरते-विचरते कीर्तिधर मुनि साकेतनगर में पधारे। अचानक उनकी रानी सहदेवी ने मुनि को नगर में भिक्षा के लिए भ्रमण करते देखा। इससे वह सोचने लगी—कहीं यह मुनि मेरे पुत्र को भी दीक्षा का उपदेश न दे दे। ऐसा विचार कर रानी ने अपने सेवकों रो कहकर मुनि को नगर से बाहर निकलवा दिया। उसी समय कीर्तिधर मुनि के पुत्र सुकौशल राजकुमार ने धाय माता को रोते देखा। उसने उस धाय माता से पूछा—“आप इस प्रकार क्यों रो रही हो?” धायमाता ने उस राजकुमार को सर्व सत्य वृत्तान्त बता दिया। धायमाता की बात सुनकर राजा सुकौशल वहाँ से निकलकर शीघ्र अपने पिता मुनि को वन्दन करने के लिए चल दिया। जंगल में वह अपने पिता, जो मुनि बने हुए थे, उनको खोजने लगा। अचानक, एक वृक्ष के नीचे ध्यान में स्थित एक मुनि को देखकर उसने तुरंत अपने पिता को पहचान लिया और भावपूर्वक उनके चरणों में गिरकर उन्हें वंदन किया और बोला—“हे भगवन्! क्या अपने प्रिय पुत्र को इस तरह अग्नि से जलते हुए घर में छोड़कर पिता को दीक्षा लेना योग्य है? हे भगवन्! मुझे भी आप इस संयमरूपी रत्न को प्रदान कर भवसागर से पार कर दीजिए।”

कीर्तिधर मुनि ने देखा, पुत्र को तीव्र वैराग्यभाव उत्पन्न हुआ है— ऐसा जानकर उन्होंने उसे दीक्षा प्रदान की। रानी को जैसे ही मालूम हुआ कि उसके पुत्र सुकौशल ने मुनि पिता के उपदेश से दीक्षा अंगीकार कर ली है। उसे अत्यन्त दुःख व क्रोध उत्पन्न हुआ और क्रोधावेश में वह महल से गिरकर मर गई। रानी वहाँ से मरकर मोग्गिल नामक पर्वत पर शेरनी के रूप में उत्पन्न हुई। इधर मुनि भी विचरते-विचरते उसी पर्वत पर पहुँचे। वहाँ मुनि ने चार महीने ध्यान-साधना की। उसके बाद शरदकाल में जब विहार करने लगे तब मुनि को देखकर पूर्व बैर से क्रोधित बनी शेरनी ने उन पर छलांग लगाई। मुनि ने देखा, अब इस शेरनी का तीव्र उपसर्ग उपस्थित हुआ है— ऐसा जानकर मुनि ने सागार-प्रत्याख्यान किया तथा अपने कायोत्सर्ग में दृढ़ हो गए। शेरनी ने मुनि को पृथ्वी पर गिराकर उनका भक्षण करना प्रारम्भ किया। उस समय मुनि उस दारुण वेदना को समभाव से सहन करते हुए चिन्तन करने लगे। इस संसार में दुःख तो पग-पग पर है, परन्तु जैन-धर्म मिलना अति दुर्लभ है। यह जिनधर्म मुझे पुण्योदय से प्राप्त हुआ है, इसलिए मेरा जन्म भी सफल है, लेकिन बस एक ही चिन्ता है कि मैं इस शेरनी के कर्मबन्ध में निमित्त बना हूँ, मुझे मेरी आत्मा का शोक नहीं है, बल्कि दुःख-समुद्र में पड़ी हुई इस शेरनी का शोक है, जिन महापुरुषों ने मोक्ष को प्राप्त कर लिया है, उनको मैं भाव से नमन करता हूँ। ऐसा चिन्तन-मनन करते हुए सम्पूर्ण कर्ममल का प्रक्षालन कर धर्मध्यान से शुक्ल-ध्यान में उत्तरोत्तर बढ़ते हुए अन्तकृत-केवली सुकौशल राजर्षि ने सिद्धगति को प्राप्त किया।

जब व्यक्ति उत्तरोत्तर उच्च लक्ष्य की ओर उन्मुख हो जाता है, तो उसके लिए कौनसी वस्तु दुःसाध्य है? अर्थात् विकट परिस्थितियों में भी उच्च भावों से संलेखना ग्रहण करने से व्यक्ति मोक्ष के अनुपम सुख को प्राप्त करता है। आकस्मिक रूप से मृत्यु के समक्ष उपस्थित होने पर सागारी-संधारा ग्रहण करने के सन्दर्भ में सुकौशल मुनि की कथा दृष्टव्य है। प्राचीन आचार्यकृत आराधनापताका में यह कथानक हमें उपलब्ध होता है, उसी प्रकार यही कथानक हमें संवेगरंगशाला, मरणसमाधि-संस्तारक और भक्त-परिज्ञा नामक प्राचीन ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है।

इसके अतिरिक्त, प्रस्तुत कथानक आवश्यकसूत्र में भी उपलब्ध होता है। हमारी दृष्टि में तो प्राचीन आचार्यकृत आराधनापताका के रचयिता आचार्य ने इस कथानक को¹ मरणसमाधि, भक्तपरिज्ञा आदि प्राचीन ग्रन्थों से ही ग्रहण किया होगा। जैन-परम्परा में यह कथानक विशेष रूप से प्रचलित रहा है, यही कारण है कि परवर्तीकाल में उत्तराध्ययनसूत्र की कमलसंयम की वृत्ति में भी इस कथानक का उल्लेख मिलता है।

जहाँ तक दिगम्बर-परम्परा का प्रश्न है, प्रस्तुत कथानक हमें भगवती-आराधना में भी उपलब्ध होता है, यद्यपि भगवती-आराधना में यह कथानक अति संक्षिप्त रूप में मात्र एक गाथा में दिया गया है। उसमें यह बताया गया है कि सिद्धार्थ राजा के प्रिय पुत्र सुकौशल मुनि को पोग्गिलगिरि नामक पर्वत पर अपनी पूर्वजन्म की माता व्याघ्री के द्वारा खाए जाने पर भी वे उत्तमार्थ (समाधिमरण) को प्राप्त हुए।

इन उल्लेखों से यह निश्चित होता है कि जैन-परम्परा में प्रस्तुत कथानक ईसा की पाँचवीं शताब्दी के पूर्व भी प्रचलित रहा है, क्योंकि इस काल के पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थों में यह कथानक प्राप्त होता है।

प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका में समाधिमरण के सम्बन्ध में या क्रमांक 800 में पांडुपुत्रों की कथा का निर्देश दिया गया है, जो शत्रुंजय पर्वत पर द्विमासिक संलेखना के साथ सिद्धि को प्राप्त हुए। ज्ञाताधर्मकथा के सोलहवें अध्ययन अमरकंका में सुकुमालिका का वर्णन आता है, जो साध्वी-दीक्षा अंगीकार कर लेती है, परन्तु उसका मन संयमित न हो सका और वह वहाँ भी शिथिलाचारिणी होकर स्वच्छन्द विचरने लगी। इस प्रसंग में उसने एक बार पाँच पुरुषों के साथ विलास करती एक वेश्या को देखा। यह दृश्य देखकर सुकुमालिका के मन में इसी प्रकार के सुखभोग की लालसा उत्पन्न हो गई। वह संकल्प करती है मेरी तपस्या का फल हो, तो यही कि मैं इसी प्रकार का सुख प्राप्त करूँ। अन्त में मरकर वह देवपर्याय तो पाती है, मगर वहाँ भी देवगणिका के रूप में उत्पन्न होती है। देवभव का अन्त होने पर पंचालनृपति राजा द्रुपद की कन्या के रूप में उसका जन्म हुआ। उचित वय होने पर स्वयंवर का आयोजन किया गया। स्वयंवर में वासुदेव श्रीकृष्ण, पाण्डव आदि सहस्रों राजा आदि उपस्थित हुए। द्रौपदी ने पाँचों पाण्डवों का वरण किया। उसके इस स्वयंवरण पर किसी ने कोई आपत्ति नहीं की, मानों वह एक साधारण-सी घटना थी। द्रौपदी पाण्डवों के साथ हस्तिनापुर चली गई। वहाँ भी कुछ विधि-विधान हुए। बारी-बारी से वह पाण्डवों के साथ मानवीय-सुखों का उपभोग करने लगी। एक बार नारदजी अचानक हस्तिनापुर जा पहुँचे। द्रौपदी के सिवाय सबने उनकी यथोचित प्रतिपत्ति की। नारदजी द्रौपदी से रुष्ट हो गए। द्रौपदी से बदला लेने के विचार से वे धातकीखण्ड द्वीप में अमरकंका के राजा पद्मनाभ के यहाँ गए। द्रौपदी के रूप-लावण्य की अतिशय प्रशंसा करके उन्होंने पद्मनाभ को ललचाया। पद्मनाभ ने दैवी सहायता से द्रौपदी का हरण करवाया। द्रौपदी के संस्कार अब बदल चुके थे। वह पतिव्रता थी। पद्मनाभ ने द्रौपदी को भोग के लिए आमंत्रित किया, तो उसने छः महीने का समय मांगा। उसे विश्वास था कि इस बीच उसके रिश्ते के भाई श्रीकृष्ण आकर अवश्य उसका उद्धार करेंगे। हुआ भी वही, पाण्डवों को साथ लेकर कृष्णजी अमरकंका राजधानी जा पहुँचे। उन्होंने पद्मनाभ को युद्ध में

पराजित किया, द्रौपदी का उद्धार हुआ। यथासमय द्रौपदी ने एक पुत्र को जन्म दिया। पाण्डुसेन जब समर्थ कलाकुशल और राज्य का संचालन करने योग्य हो गया, तब पाण्डव उसे सिंहासनासीन करके दीक्षित हो गए। तत्पश्चात्, उन युधिष्ठिर आदि पाँचों अणगारों ने आचार्य से समाधिमरण की साधना की अनुज्ञा पाकर उन्हें वन्दना-नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके वे आचार्य के पास से निकले। निकलकर निरन्तर मासखमण करते हुए, एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाते हुए, यावत् जहाँ हस्तीकल्प नगर था, वहाँ पहुँचे। पहुँचकर, हस्तीकल्प नगर के बाहर सहस्राम्रवन नामक उद्यान में ठहरे।

तत्पश्चात्, युधिष्ठिर के सिवाय शेष चार अणगारों ने मासखमण के पारणे के दिन पहले पहर में स्वाध्याय किया, दूसरे प्रहर में ध्यान किया। शेष वर्णन गौतम स्वामी के समान जानना चाहिए। विशेष यह कि उन्होंने युधिष्ठिर अणगार से भिक्षा की अनुमति माँगी। फिर वे भिक्षा के लिए जब पर्यटन कर रहे थे, तब उन्होंने बहुत जनों से सुना कि तीर्थंकर अरिष्टनेमि गिरिनार पर्वत के शिखर पर एक मास का निर्जल उपवास करके पाँच सौ छत्तीस साधुओं के साथ काल-धर्म को प्राप्त हो गए हैं, यावत्सिद्ध होकर समस्त दुःखों से रहित हो गए हैं, तब युधिष्ठिर के सिवाय, ये चारों अणगार बहुत जनों के पास से यह अर्थ सुनकर हस्तीकल्प नगर से बाहर निकले। बाहर निकलकर, जहाँ सहस्राम्रवन था और जहाँ युधिष्ठिर अणगार थे, वहाँ पहुँचे। पहुँचकर, आहार-पानी की प्रत्युपेक्षा की। प्रत्युपेक्षा करके गमनागमन का प्रतिक्रमण किया, फिर एषणा-अनेषणा की आलोचना की। आलोचना करके आहार-पानी दिखलाया। दिखलाकर, युधिष्ठिर अणगार से कहा- "हे देवानुप्रिय! हमआपकी अनुमति लेकर भिक्षा के लिए नगर में गए थे। वहाँ हमने सुना है कि तीर्थंकर अरिष्टनेमि कालधर्म को प्राप्त हुए हैं, अतः हे देवानुप्रिय! हमारे लिए यही श्रेयस्कर है कि भगवान् के निर्वाण का वृत्तान्त सुनने से पहले ग्रहण किए हुए आहार-पानी को परठ कर धीरे-धीरे शत्रुंजय पर्वत पर आरूढ़ हों तथा संलेखना ग्रहण करके मृत्यु की आकांक्षा न करते हुए विचरते रहें।" इस प्रकार कहकर सबने परस्पर इस अर्थ (विचार) को अंगीकर किया। आहार-पानी एक निर्वध स्थान देखकर परठ दिया। परठ कर, जहाँ शत्रुंजय पर्वत था, वहाँ गए और शत्रुंजय पर्वत पर आरूढ़ हुए। आरूढ़ होकर, यावत् मृत्यु की आकांक्षा न करते हुए विचरने लगे।

तत्पश्चात्, उन युधिष्ठिर आदि पाँचों अणगारों ने दो मास की संलेखना से कर्मों का नाश करके, जिस प्रयोजन के लिए संयम को अंगीकार किया था, उस प्रयोजन को सिद्ध किया अर्थात् केवलज्ञान-केवलदर्शन को प्राप्त कर वे सिद्ध-बुद्ध मुक्त हो गए।¹

आराधनापताका की गाथा क्रमांक 801 में धन्ना, शालिभद्र की कथा का निर्देश है, जो विस्तार से आगम-ग्रन्थों में उल्लेखित है।

राजगृह के श्रेष्ठी गोभद्र का पुत्र था शालिभद्र। उसकी माता थी सेठानी भद्रा। गोभद्र मर गया और मरकर देवलोक में देव बना। वह अपने पुत्र को धन, वस्त्र, रत्नादि की बत्तीस पेटियाँ नित्य भेजा करता था। अप्सरा-सी सुन्दर बत्तीस पत्नियाँ थी शालिभद्र के। उसका ऐश्वर्य और वैभव ऐसा अद्वितीय था कि राजगृह के राजा स्वयं उसकी हवेली पर उसका वैभव देखने गए थे। एक

¹ किं न सुया ते सुविहिय। जुहिद्विलाई दुमाससंलेहा।

सेतुंजे पंडुसुया सिद्धिगया पाचवोगया।। - आराधनापताका, गाथा - 800

बार जब राजा श्रेणिक शालिभद्र के घर पहुँचा, तो सेठानी सुभद्रा ने अपने को धन्य माना कि हमारा स्वामी हमारे घर आया है। बीच की मंजिल में राजा को बिठाकर सेठानी ऊपर शालिभद्र को बुलाने गई और कहा— “बेटा! तुझे राजा बुला रहे हैं। राजा श्रेणिक तुम्हारे स्वामी हैं, स्वामी तुम्हारे घर आए हैं।” बिना इच्छा के शालिभद्र श्रेणिक के पास पहुँचा, पर उसे अपनी स्थिति पर बड़ी ग्लानि हुई। वह सोचने लगा, —गुलामी का जीवन भी कोई जीवन है ? मेरे ऊपर मेरा स्वामी है, मैं दासत्व के जीवन से मुक्त होना चाहता हूँ, पर कैसे ? हां, मुनि बनकर मैं किसी का दास नहीं रहूँगा, तब त्रिलोकी का स्वामीत्व मुझे प्राप्त हो जाएगा। सब कुछ त्यागकर मैं महावीर की शरण में चला जाऊँ, पर मेरी बत्तीस पत्नियाँ हैं, इन्हें एकदम कैसे छोड़ा जाए ? मैं प्रतिदिन एक-एक पत्नी का त्याग करूँगा। जब बत्तीस दिन में बत्तीस पत्नियों का त्याग कर दूँगा, तो श्रमण बन जाऊँगा। शालिभद्र की बहन सुभद्रा धन्ना को ब्याही थी। धन्ना राजगृह में ही रहता था। वह बहुत धनी था, उसके आठ पत्नियाँ थी, जिनमें से एक शालिभद्र की बहन थी। एक दिन धन्ना की आठों पत्नियाँ उसका उबटन कर रही थीं। कोई बांहों को मल रही थी, कोई पैरों में उबटन लगा रही थी। शालिभद्र की बहन अपने पति धन्ना की पीठ पर उबटन लगा रही थी। कुछ ख्याल करके शालिभद्र की बहन को रुलाई आ गई। गरम-गरम आंसू धन्ना की पीठ पर गिरे तो उसने चौंक कर पीछे देखा और पूछने लगा— “क्यों रोती हो, प्रिये ? क्या दुःख है, तुम्हें ?” “मेरा भाई शालिभद्र दीक्षा लेगा, इसीलिए रो रही हूँ।” शालिभद्र की बहन सुभद्रा ने कहा— “वह एक-एक करके अपनी पत्नियों का त्याग कर रहा है। बत्तीस दिन बाद वह श्रमण बन जाएगा।” धन्ना हंसने लगा, हंसकर बोला— “तुम्हारा भाई कायर है, बुजदिल है, त्यागना ही है तो बत्तीस नारियों को एक साथ क्यों नहीं त्याग देता।” सुभद्रा को यह बात चुभ गई। उसने अपने पति धन्ना से कहा— “प्राणनाथ कहना सरल है, करना बहुत कठिन है, आपसे तो यह भी नहीं होगा।” धन्ना का पुरुषत्व जाग उठा। तुरन्त उठकर खड़ा हो गया और बोला— “मैं इसी समय तुम आठों पत्नियों का त्याग कर चला प्रभु की शरण में।” सुभद्रा अवाक् देखती रह गई, फिर बहुत पछताई, अपने व्यंग्य पर। पति के चरणों में गिर पड़ी। बहुत रोई, गिड़गिड़ाई। पर धन्ना नहीं माना। उसने कहा — “मैं कायर नहीं हूँ, सुभद्रा। जो चरण महावीर की ओर उठ चुके हैं, वे अब रुकेंगे नहीं, वीर ही महावीर का रास्ता पा सकता है। तुम्हारे भाई के पास जा रहा हूँ, उसकी कायरता दूर करूँगा। साले-बहनोई, हम दोनों महावीर की शरण में जाएंगे,” और चल दिया धन्ना वहाँ से। उसने शालिभद्र को जाकर पुकारा— “अरे कायर, बुजदिल! नीचे उतरो, एक-एक करके त्यागने का ढोंग छोड़ो। मैं आठों का त्याग कर आया हूँ, चलो मेरे साथ। मैं भी महावीर के पास जा रहा हूँ।” शालिभद्र को बहनोई धन्ना की बात जंच गई, उठ गया वह भी, चल दिया धन्ना के साथ। दोनों का वैराग्य उत्कृष्ट था, दोनों जाकर प्रभु के चरणों में दीक्षित हो गए। धन्ना व शालिभद्र ने दीक्षा के उपरान्त श्रमण संघ में मिलकर प्रभु के साथ अन्यत्र विहार किया। दोनों उग्र तपस्या करने लगे। दोनों मुनियों का शरीर कृश हो गया।

धन्ना और शालिभद्र भिक्षा के लिए जाने लगे, तो भगवान् ने शालिभद्र से कहा— “मुने! आज तुम्हें अपनी माता के हाथ से भिक्षा मिलेगी।” भगवान् की बात हृदय में रखकर दोनों मुनि राजगृह नगर में प्रविष्ट हुए और सेठानी भद्रा के घर पहुँचे। सेठानी भद्रा महावीर के दर्शन करने गुणशीलक उद्यान जाने की तैयारी में लगी थी। अपने पुत्र मुनि शालिभद्र और जामाता धन्ना को देखने की भी उसके मन में उत्कट अभिलाषा थी। जाने की जल्दी में उसने द्वार पर खड़े मुनियों को देखा—अनदेखा कर दिया। शरीर कृश होने के कारण भी वह मुनियों को पहचान नहीं पाई।

दोनों मुनि आहार लिए बिना ही भद्रा के द्वार से लौट गए। शालिभद्र बड़े चक्कर में थे—‘भगवान् की वाणी कभी अन्यथा नहीं होती। माता ने मुझे भिक्षा क्यों नहीं दी?’ दोनों मुनि गुणशीलक उद्यान की ओर जा रहे थे कि मार्ग में उन्हें एक वृद्धा ग्वालिन मिली। उसके सिर पर दही की मटकी थी। शालिभद्र को देख उसका वात्सल्य उमड़ा। उसने दोनों मुनियों को दही बहराया। दही से पारणा कर दोनों महावीर के पास पहुँचे तो शालिभद्र ने कहा— “प्रभो मुझे माता के यहाँ से आहार नहीं मिला। एक ग्वालिन ने दही दिया था।”

“वह ग्वालिन ही तुम्हारी माता है,” महावीर ने शालिभद्र से कहा— “पूर्वभव में तुम संगम नामक ग्वाला थे और उस बुढ़िया के ही पुत्र थे।” संगम ग्वाले के रूप में महावीर ने शालिभद्र का पूर्वभव सुनाया। यह भी एक विचित्र संयोग था कि धन्ना— शालिभद्र के पूर्वभव मिलते—जुलते थे।

प्रभु के श्रीमुख से पूर्वभव का वृत्तान्त सुनकर, संसार और कर्म की विचित्रता का चिन्तन कर पारणा करके प्रभु से आज्ञा लेकर दोनों मुनि नालन्दा के पास वैभारगिरी पर्वत पर आए। यथाविधि प्रतिलेखना आदि करके पादपोगमन—संधारा ग्रहण कर लिया¹ और उत्कृष्ट परिणामों के साथ साधना—आराधना कर अन्त समय में समाधिमरण को ग्रहण किया। दोनों मुनि को एक मास का संधारा आया, शालिभद्रजी काल करके सर्वार्थसिद्धविमान में देव हुए और धन्नाजी सीधे मोक्ष में गए।

प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका में आराधना की योग्यता का वर्णन करते हुए चिलातिपुत्र के कथानक का गाथा कमांक 802 में बड़ा ही रोमांचक वर्णन मिलता है।²

पृथ्वी प्रतिष्ठितपुर में यज्ञदेव नाम का एक अहंकारी विप्र निवास करता था। एक दिन उसने किसी जैन विद्वान् मुनि से शास्त्रार्थ किया। वाद—विवाद में जब वह हार गया, तो मुनि ने उसे दीक्षा दे दी, परन्तु उसका पत्नी से अत्यधिक लगाव था, उस कारण उसके मन में गृहस्थ—जीवन में आने की इच्छा उत्पन्न हो गई, तब देवी ने उसे मना कर दिया, इससे वह अपने धर्म व संयम में दृढ़ हो गया, किन्तु शरीर एवं वस्त्र पर मैल जमा होने से वह अपने प्रति ग्लानि का भाव रखता था। एक दिन वह मुनि अपनी पत्नी द्वारा दिए गए दूषित आहार को ग्रहण कर कालधर्म को प्राप्त हो गया और देव बना। पति (मुनि) की मृत्यु के समाचार पाकर पत्नी ने भी संसार से विरक्त होकर संयम ग्रहण कर लिया, लेकिन कुछ समय के उपरान्त वह भी बिना आत्मालोचना किए मृत्यु को प्राप्त हुई और वह भी देवलोक में उत्पन्न हो गई।

साधु जीवन से घृणा करने के कारण यज्ञदेव के उस जीव ने स्वर्ग से च्युत होकर धनसार्थवाह की चिलाती नाम की एक दासी की कुक्षी से पुत्र के रूप में जन्म लिया, इसलिए उसका नाम चिलातीपुत्र रखा गया। यज्ञदेव की पत्नी भी धन्नासार्थवाह के घर में उसके पाँच पुत्रों के बाद पुत्री के रूप में उत्पन्न हुई। उस सेठ धन्नासार्थवाह की पुत्री की सार—संभाल व देख—रेख चिलातीपुत्र करता था। जैसे—जैसे चिलातिपुत्र बड़ा हुआ, वह उच्छृंखल वृत्ति वाला बन गया और

¹ वैभारपव्वए सालिभद्द घन्नो य पायवोवगया।

मासं संलिहिय तणू पत्ता ते दो वि सब्बहे ॥ — आराधनापताका, गाथा—801

रात-दिन सभी को परेशान करने लगा। उसकी इस उद्दण्डता से परेशान होकर धन्नासार्थवाह ने उसे घर से निकाल दिया।

इस तरह, वह इधर-उधर भटकता हुआ चोरों की एक पल्ली में पहुँच गया। वहाँ के लोगों ने उसे पल्लीपति बना दिया। एक बार वह अपने समूह के साथ राजगृह नगर में पहुँच गया। वहाँ के लोगों को अवस्वापिनी-निद्रा में सुलाकर धन्नासार्थवाह के घर में प्रवेश पा लिया। सभी चोरों ने वहाँ से प्रचुर मात्रा में धन चुराया और वह चिलातीपुत्र सुषमा को लेकर शीघ्र ही अन्य स्थान पर चला गया।

सूर्योदय होते ही धन्नासार्थवाह को जब मालूम पड़ा कि उसकी इकलौती पुत्री का चिलातीपुत्र ने अपहरण कर लिया है, तब धन्नासार्थवाह अपने चारों पुत्रों को साथ में लेकर पुत्री की खोज में निकल पड़ा। जैसे ही उनको आते देखा तो चोर भय के मारे सारा धन छोड़कर भाग गए और सुभट लोग धन को लेकर चले गए। धन्ना सार्थवाह और उसके पाँचो पुत्र खोजते-खोजते जब चिलातीपुत्र के पास पहुँचे, उस समय चिलातीपुत्र ने सोचा- 'यह सुषमा मेरे पास न रहे, तो मैं इसे किसी के पास भी नहीं रहने दूँगा। ऐसा सोचकर चिलातीपुत्र ने उसका गला काट दिया और उसके मस्तक को लेकर भाग गया। आगे जंगल में भागते-भागते एक वृक्ष के नीचे मुनि को देखा और उनके पास जाकर बोला- "हे मुनि! मुझे संक्षेप में धर्म का मर्म समझाओ, अन्यथा मैं आपका भी मस्तक कबीट फल के समान फोड़ दूँगा।" मुनि निर्भीकता से सब कुछ सुनते रहे, एक क्षण विचार किया, फिर ज्ञान से जाना कि ये जीव भवी है, मेरे निमित्त से ही इसका कल्याण हो जाए, तो श्रेयस्कर है। ऐसा जानकर मुनि ने तुरन्त कहा- "उपशम, विवेक और संवर - इन तीन पदों में ही सम्पूर्ण धर्म का सार छुपा हुआ है। चिलातीपुत्र इन तीन पदों को स्वीकार कर एकान्त में जाकर सम्यक् रूप से चिन्तन मनन करने लगा। क्रोधादि कषायों का उपशम क्षमा, नम्रता आदि गुणों का सेवन करने से हो सकता है, अतः तलवार और मस्तक से मुझे क्या लेना-देना ? यह सोचकर उन्हें त्याग दिया, यही विवेक है एवं मन और इन्द्रिय के विषयों की निवृत्ति ही संवर है। इस प्रकार बार-बार तीन पदों का चिन्तन करता हुआ उसकी गहराई में डुबकी खाने लगा और उसी स्थान पर मेरुपर्वत के समान निश्चल कायोत्सर्ग-ध्यान में खड़ा हो गया। उसके शरीर पर लगे खून की दुर्गन्ध से असंख्य चीटियाँ आकर चारों ओर से उसका भक्षण करने लगी तथा उसके शरीर को छलनी-छलनी कर डाला। इस तरह ढाई दिन तक महाभयंकर कष्ट को समता भाव से सहन कर उत्तम चारित्रवाले उस साधक (महामुनि) ने सहस्रार नामके आठवें देवलोक में जन्म प्राप्त किया। इस प्रकार अत्यन्त उग्र मन, वचन और काया द्वारा पाप करने वाला नरक का अधिकारी भी आराधना के द्वारा स्वर्ग-सुख का अधिकारी बन सकता है। इस प्रकार, प्राचीनाचार्यकृत आराधनापताका में भी सामान्यतः वैराग्यगर्भित (संवेगयुक्त) जीवों को समाधिमरण की आराधना के योग्य बताते हुए इस सन्दर्भ में चिलातीपुत्र की कथा प्रस्तुत की गई है।¹ यही कथा संवेग रंगशाला में भी कथानक के रूप में वर्णित की गई है। यह कथा आवश्यकचूर्णि (भाग 1, पृ. 497-498), आचारांगचूर्णि (पृ. 139), आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा, 73), व्यवहारसूत्रभाष्य (10-594), ज्ञाताधर्मकथा

¹ जो तिपयपत्तसत्तो कीडीहिं चालणि व्व कयगतो।

वीसपहरेहिं पत्तो सहसारे सो चिलापुत्तो ।। आराधनापताका, गाथा - 802

(गाथा 136-40), संस्तारक (गाथा 86), जीतकल्पभाष्य (गाथा 532), विशेषावश्यकभाष्य (गाथा 3341-44) आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।

आराधनापताका में समाधिमरण के समबन्ध में गाथा क्रमांक 803 में उदायन का कथानक दिया गया है, जो मंत्री द्वारा विष देने पर भी समताभाव की साधना कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

उज्जयिनी का राजा चण्डप्रद्योत जितना लड़ाकू और युद्धप्रिय था, उतना ही कामुक और परनारी के प्रति आसक्त रहने वाला था। एक दासी के प्रसंग को लेकर चण्डप्रद्योत और सिन्धु सौवीर के राजा उदायन में घमासान युद्ध हुआ। राजा उदायन और चण्डप्रद्योत परस्पर साद्वृत्त थे। उदायन की रानी प्रभावती और प्रद्योत की रानी शिवादेवी वैशाली के गणाधिपति चेटक की पुत्रियाँ थीं। राजनीति में नाते-रिश्तों को भुलाकर अपना-अपना स्वार्थ देखा जाता है।

चण्डप्रद्योत ने उदायन की दासी का अपहरण कर लिया। एतदर्थ, दोनों में युद्ध हुआ। उदायन भी पराक्रमी राजा था, उसने प्रद्योत को बन्दी बना लिया। इतने पर भी प्रद्योत था तो एक राजा ही। उसे अपने बन्दी होने पर बहुत ग्लानि हुई। कुछ दिन बीते, तो जैनों का पर्व पर्युषण आया। धर्मनिष्ठ श्रावक के लिए इस पर्व का बहुत महत्व है। भूले-बिसरे, जाने-अनजाने अपराधों की क्षमा मांगकर श्रावक कर्मबन्ध से बच जाता है। अपने शत्रु से भी क्षमा माँगने की यह परम्परा बड़े महत्व की है। राजा उदायन ने भी उस दिन चण्डप्रद्योत से क्षमा माँगी।

“राजन! मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ।” “क्षमा की खाना-पूरी का क्या अर्थ है, राजन?” चण्डप्रद्योत ने कहा, “मैं आपका कैदी हूँ। कैदी से क्षमा माँगने का अर्थ है, उसका मजाक उड़ाना। पर्युषण की आराधना का यह कैसा मजाक कर रहे हैं आप?”

उदायन की आँखे खुल गईं। उसे अपनी भूल तुरन्त मालूम हो गई और उन्होंने तुरन्त ही चण्डप्रद्योत को गुरु बनाकर सच्चे अर्थों में क्षमा माँगी। चण्डप्रद्योत भी उदायन की महानता और उसके हृदय की सरलता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। दोनों गले मिले। सम्मान के साथ उदायन ने प्रद्योत को विदा कर दिया।

इस घटना का उदायन के जीवन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसके मन में दीक्षा लेने की भावना प्रबल हो उठी और उसने सोचा— ‘कितना अच्छा होता कि भगवान् महावीर मेरी नगरी वीतभय में पधारते।’ भगवान् भक्त की सदा सुनते हैं। महावीर तक भी उदायन की भावना पहुँच गई।

उन दिनों महावीर चम्पा नगरी में थे। चम्पा से वीतभय की यात्रा कठिन थी, पर उदायन की भावना ने महावीर को चुम्बक की तरह खींचा। वीतभय में महावीर स्वामी का समवशरण जुड़ा। उदायन ने श्रमणदीक्षा ले ली और अपना राज्य अपने पुत्र अभीच्छिकुमार को न देकर भानजे केशीकुमार को दिया। राजा उदायन ने सोचा था कि राज्य-राज्य का बन्धन जब मेरे लिए नरक का द्वार है तो मैं अपने पुत्र को ही इस भोगपंक में क्यों डालूँ। राजर्षि उदायन ने श्रमणवृन्द के साथ अन्यत्र विहार किया। महावीर ने विहार कर विदेह-क्षेत्र के वाणिज्य ग्राम में वर्षावास किया था। राजर्षि उदायन ने कठोर तप करना शुरू कर दिया। कालान्तर में वे बीमार पड़ गए और बीमारी की दशा में ही विहार करते हुए वे एक बार अपनी नगरी वीतभय में पहुँच गए। उन्हें देख केशीकुमार के मन्त्रियों ने उनसे कहा— “आपके मामा की राज्य-भोग की इच्छा पुनः उभर आई है,

इसीलिए वे यहाँ आए हैं। श्रमण—साधना छोड़ अब वे पुनः गृहस्थ बनकर राज्य करेंगे।” “मैं ऐसा नहीं होने दूंगा।” केशीकुमार ने द्वेष की अग्नि में सुलगकर कहा— “मुनि की इच्छा मैं पूरी नहीं होने दूंगा।” केशी के मंत्रियों ने मुनि को भोजन में विष दे दिया, तब उन्हें यह ज्ञात हुआ। उन्होंने समाधिमरण अंगीकार किया और समताभावपूर्वक प्राण त्यागे और निर्वाण पद प्राप्त किया। इस प्रकार, उन्होंने मृत्यु को समुपस्थित पाकर समाधिमरण किया।¹

पुष्पभद्र नामक एक नगर था, वहाँ पर पुष्पकेतु नाम का राजा राज्य करता था, उसकी रानी का नाम पुष्पवती था। समयानुसार रानी ने एक युगल को जन्म दिया। पुत्र का नाम पुष्पचूल और पुत्री का नाम पुष्पचूला रखा गया। उन दोनों का प्रगाढ़ स्नेह देखकर राजा ने सोचा — ‘इनका आपस में बिछोह ना हो; इस कारण उन दोनों की शादी कर दी। पुष्पवती को इससे निर्वेद अर्थात् वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने दीक्षा ले ली। अन्त में, वह साधना करके देवलोक में उत्पन्न हुई। वहाँ से देवी ने पुष्पचूला को प्रतिबोध देने के लिए स्वप्न में भयंकर दुःखों से दुःखित नारकी जीवों को बताया। उस वीभत्स स्वप्न को देखकर उसने राजा को नरक का वृत्तान्त कहा। राजा ने विश्वास के लिए बहुश्रुत अणिकापुत्र आचार्य से उस सम्बन्ध में पूछा। उन्होंने भी नरक के यथार्थ—स्वरूप का वर्णन किया। पुष्पचूला रानी ने कहा— “हे भगवन्! क्या आपने भी स्वप्न में ऐसा वृत्तान्त देखा था?” आचार्य श्री ने कहा— “हे भद्रे! जगत में ऐसा कुछ नहीं है, जिसे जिनेश्वर परमात्मा द्वारा कथित आगम से नहीं जाना जा सके।”

पुनः, इसी तरह पुष्पचूला ने स्वप्न में स्वर्गलोक देखा। आचार्य ने उसका भी यथार्थ स्वरूप बताया। इसे सुनकर हर्षित हुई रानी भावपूर्वक गुरु के चरणों में नमस्कार करके कहने लगी— “हे भगवन्त! आपने मुझे नरक के दुःखों और स्वर्ग के सुखों का सम्यक्—बोध कराया है।” पुष्पचूला रानी ने वैराग्य प्राप्त कर राजा से दीक्षा की अनुमति माँगी। इसे सुनकर राजा को अत्यन्त दुःख हुआ, फिर अन्यत्र विहार न करके इसी क्षेत्र में रहना— ऐसी प्रतिज्ञा के साथ अति कठिनाई से राजा ने उसे दीक्षा की आज्ञा प्रदान की। पुष्पचूला साध्वी दीक्षा लेकर तप द्वारा कर्म—निर्जरा करने लगी।

एक समय नगर में भारी दुष्काल पड़ा। आचार्य ने सभी शिष्यों को दूर भेज दिया और स्वयं ने अस्वस्थता के कारण वहीं पर स्थिरवास किया। पुष्पचूला साध्वी उन्हें राजमहल से आहार—पानी लाकर देती थी। इस तरह विशुद्ध परिणाम वाली उस साध्वी ने अप्रतिपाति केवलज्ञान प्राप्त किया, परन्तु केवलीरूप में प्रसिद्ध होने से पूर्व केवली अपना पूर्व आचार का उल्लंघन नहीं करते हैं तथा विनयपूर्वक आचार का पालन करते हैं। एक बार वात—कफ से पीड़ित आचार्य को तिक्त आहार खाने की इच्छा हुई, तो साध्वी ने उनकी इच्छा को उसी तरह पूर्ण किया। आचार्य ने आश्चर्यपूर्वक कहा— “हे आर्! तूने मेरे मानसिक गुप्त चिन्तन को किस तरह से जाना?”

साध्वी ने कहा— “ज्ञान से।” आचार्य ने पूछा— “कौन से ज्ञान से?” “अप्रतिपाति केवलज्ञान के द्वारा।” यह सुनकर, “धिक्कार हो! मुझे धिक्कार हो! मैंने केवली की आशातना की है,” इस तरह आचार्य शोक करने लगे, तब साध्वी ने कहा— “हे मुनिश्वर! शोक मत करो, क्योंकि ‘यह

¹ अणिमित्तमित्तेहिं मंतीहिं विदित्तित्तिव्विसजोगो।

वियणं परदेहे इव सहिउं उदायणो सिद्धो ॥—आराधनापताका, गाथा — 803

केवली है' ऐसा जाहिर हुए बिना केवली भी पूर्व व्यवहार को नहीं छोड़ते हैं।" फिर, आचार्य ने पूछा— "मैं दीर्घकाल से उत्तम चारित्र की आराधना—साधना कर रहा हूँ, मैं भी निर्वाण—पद को प्राप्त करूंगा या नहीं?" साध्वीजी ने कहा— "हे मुनिशः! निर्वाण के लिए संशय क्यों करते हो, क्योंकि गंगा नदी के पार करते हुए तुम भी शीघ्र ही कर्म क्षय करोगे।"

यह सुनकर आचार्य गंगा पार करने हेतु नाव पर बैठे। आचार्य के नाव पर बैठते ही वह नाव डूबने लगी। इससे, 'सभी का नाश होगा सभी नदी में डूब जाएंगे', ऐसा जानकर निर्यापक ने आचार्य को उठाकर नदी में फेंक दिया। यह जानकर आचार्य उपशान्त—भाव से अपनी साधना में निमग्न हो गए और सभी आश्रवद्वारों को रोकनेवाले शुक्ल—ध्यान में स्थिर हुए, जिससे उन्होंने कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया, जल में ही सर्वयोगों का सम्पूर्ण निरोध करके मोक्षपद प्राप्त किया।

इस तरह दारुण उपसर्गों में भी समताभाव धारण कर आराधनापूर्वक साधक अन्तकृतकेवली बन सकता है, अतः मुनिश्रेष्ठ तप के द्वारा समाधि में निमग्न होकर सहजता से अनादिकाल के कर्मों को क्षमा कर शाश्वत सुखों को प्राप्त कर सकते हैं। संथारा—संलेखना व्यक्ति तब ही ग्रहण कर सकता है, जब न तो साधक के मन में कामना हो, न भोगों की आकांक्षा हो, न शरीर के प्रति आसक्ति।¹ क्षुधा की पीड़ा, शरीर की वेदना, स्वजन और मित्रों की ममता और कषायों की तपन, सब कुछ वहाँ शान्त हो जाती है, प्रायश्चित्त द्वारा साधक अपनी आत्मा की शुद्धि कर लेता है और परम शान्त एवं निर्विकार स्थिति में रहकर आत्मरमण करने लगता है। इस कथानक का वर्णन प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका में भी दिया गया है। यही कथानक संवेगरंगशाला में भी वर्णित है। यह कथा आवश्यकचूर्णि (भाग 1, पृ. 355—358, 362—604, भाग 2 पृ. 177), व्यवहारसूत्रभाष्य (भाग— 4 पृ. 105), मरणसमाधि (गाथा 637), महानिशीथ (176), वृहत्कल्पभाष्य (गाथा 6196) आदि में भी उपलब्ध होती है। साथ ही यह कथानक संस्तारक प्रकीर्णक (गाथा 56—57), निशीथचूर्णि (भाग 2 पृ. 231), आवश्यकवृत्ति (पृ. 421—30) आदि ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है।

आचार्य भद्रबाहु के चार शिष्यों का कथानक

आचार्य भद्रबाहु को दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों मान्यताओं में पाँचवां और अन्तिम श्रुतकेवली माना गया है। ये जैन—धर्म के महान् पूर्वधर आचार्य थे। दोनों ही मान्यताओं में इनका स्थान है।

¹ पडिणीय देवयाए गंगातीरे तिसूल भिन्नो वि ।

आहारणं पवन्नो किं न सुओ अन्नियापुत्तो ॥

आराधनापताका की गाथा क्रमांक 805 में आचार्य भद्रबाहु के चार शिष्यों के कथानक का निर्देश है।¹ इनका जन्म पाइण्ण गोत्रीय बाह्मण परिवार में हुआ था। इसके आधार पर डॉ. सागरमल जैन ने इन्हें पौर्वात्य-ब्राह्मण माना है। इन्होंने 44 वर्ष की आयु में चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता आचार्य यशोभद्रस्वामी से प्रतिबोध पाकर श्रमण-दीक्षा ग्रहण की थी। आचार्य यशोभद्र के दो उत्तराधिकारी हुए थे। आचार्य संभूतविजय एवं आर्य भद्रबाहु। इनका जन्म वीर निर्वाण संवत् 94 में हुआ और ये वीर निर्वाण संवत् 148 में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। वीर निर्वाण संवत् 170 में इनका स्वर्गगमन हुआ। इनका मस्तक प्रशस्त और उन्नत तथा भुजाएँ जंघा तक आती थीं, इसलिए इन्हें भद्रबाहु कहा जाता था। इनका दूसरा नाम धर्मभद्र भी था। आचार्य भद्रबाहु एक बार धर्मदेशना देते हुए मगध जनपद की प्राचीन राजधानी राजगृही में पधारे। उनके उपदेश सुनकर अनादिकाल से मोहनिद्रा में निमग्न अनेक व्यक्ति अध्यात्ममार्ग में अग्रसर हुए। बाल्यकाल से साथ-साथ रहने वाले (बालसखा) चार श्रेष्ठी पुत्र भी आचार्यश्री से भागवती-दीक्षा ग्रहण करके साधु हो गए। वे चारों बड़े ही विनीत, मृदुभाषी, वैराग्य के रंग में पूर्ण रूप से रंगे हुए और सेवाभावी थे। उनके निष्कलंक चारित्र-पालन का देखकर आचार्य ने उन्हें जिनकल्प धारण करने की अनुमति दे दी। अनेक क्षेत्रों में विहार करते हुए और लोगों को धर्मदेशना देते हुए वे चारों जिनकल्पी-श्रमण पुनः राजगृह के वैभार पर्वत पर आए। उस समय शीतकाल की शीतलहरें चल रही थी और उस क्षेत्र में अंग-प्रत्यंग ठिठुरा देने वाली ठण्ड पड़ रही थी। दिन के तीसरे प्रहर में वे चारों श्रमण नगर में भिक्षार्थ आए। भिक्षा ग्रहण करके लौटते समय चतुर्थ प्रहर सन्निकट आ पहुँचा। एक मुनि पर्वत की गुफा के द्वार पर, दूसरे उद्यान में, तीसरे उद्यान के बाहर और चौथे नगर के बाहर ही पहुँच पाये थे कि चतुर्थ प्रहर भी प्रारम्भ हो गया। दिन के तृतीय प्रहर में ही भिक्षाटन एवं गमनागमन करें, चतुर्थ प्रहर में कदापि नहीं, इस मुनि-मर्यादा का वे विशेष पालन करते थे। इस कठोर अभिग्रह के सच्चे परिपालक साधु उस समय जहाँ होते, वहीं ध्यानमग्न हो जाते थे।

वे भी वही ध्यानस्थ हो गए, रात्रि की स्तब्धता के साथ-साथ शीत का पकोप बढ़ता गया। शीत-लहरियों से उनके अंग-अंग ठिठुरने लगे और धमनियों में रक्त जमने लगा। शीत-परीषह की मारणान्तिक-वेदना सहते हुए भी वे चारों कठोर साधक मुनि उज्ज्वल परिणामों से युक्त शुभध्यान (शुक्लध्यान) में लीन हो गए। पर्वत के गुफाद्वार पर ठण्ड भयंकर पड़ रही थी, इसलिए वहाँ ध्यानस्थ मुनि रात्रि के प्रथम प्रहर में, उद्यान में ध्यान करने वाले द्वितीय प्रहर में, उद्यान के बाहर ध्यानमग्न तृतीय प्रहर में और नगर के बाहर ध्यानस्थ रात्रि के चतुर्थ प्रहर में देहत्याग कर देवलोक में उत्पन्न हुए।

आचार्य भद्रबाहु के करकमलों द्वारा प्रव्रजित इन साधुओं ने किस परिस्थिति में समाधिमरण प्राप्त किया, यही इस कथा में वर्णित है। प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका की गाथा क्रमांक 813 में वासुदेव पत्नी पद्मावती के समाधिमरण का उल्लेख है, इसकी विस्तृत कथा अंतगद्दशा के पाँचवें वर्ग में इस प्रकार वर्णित है।

¹ सिरिभद्रबाहुसीसा चउरो रयणीए चउहिं जामेहिं।

सीयं सहित्तु पत्ता दियलोय, किं तए न सुया ?

आराधनापताका, गाथा - 805

श्रीकृष्ण पट्टमहिषियों के कथानक

प्राचीनकाल में द्वारिका नगरी थी, जहाँ वासुदेव श्रीकृष्ण राज्य करते थे। उनके पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जांबवती, सत्यभामा, रुक्मिणी ये आठ पट्ट रानियाँ थीं। अंतकृतसूत्र में इनका वर्णन आता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार वासुदेव कृष्ण अपने राजसेवकों द्वारा द्वारिका नगरी में यह उदघोषणा कराते हैं कि द्वारिका नगरी एक दिन द्वैपायन ऋषि द्वारा जला दी जाएगी, अतः जो भी व्यक्ति भगवान् अरिष्टनेमी के चरणों में दीक्षित होकर अपना कल्याण करना चाहे, उसे महाराज कृष्ण की आज्ञा है। इसके अतिरिक्त घोषणा में यह भी कहा गया कि जो भी व्यक्ति दीक्षित होकर अपना कल्याण करना चाहे, उसके दीक्षा-समारोह की सब व्यवस्था महाराज श्रीकृष्ण की ओर से होगी। इस घोषणा को सुनकर पद्मावती महारानी भी भगवान् अरिष्टनेमि के धर्मोपदेश को सुनकर सन्तुष्ट हुई, यावत्— वह अरिहन्त नेमिनाथ को वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार बोली—भंते! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करती हूँ। जैसा आप कहते हैं, वह वैसा ही है। आपका धर्मोपदेश यथार्थ है। हे भगवन्! मैं कृष्ण वासुदेव की आज्ञा लेकर आपके पास दीक्षा ग्रहण करना चाहती हूँ।” प्रभु ने कहा— “जैसे तुम्हें सुख हो, वैसा करो। हे देवानुप्रिय! धर्म-कार्य में विलम्ब मत करो।” नेमिनाथ प्रभु के ऐसा कहने के बाद पद्मावती देवी धार्मिक श्रेष्ठ रथ पर आरूढ़ होकर द्वारिका नगरी में अपने प्रासाद में आकर धार्मिक रथ से नीचे उतरी और जहाँ पर कृष्ण वासुदेव थे, वहाँ आकर अपने दोनों हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर मस्तक पर अंजलि कर कृष्ण वासुदेव से इस प्रकार बोली—

“देवानुप्रिय! आपकी आज्ञा हो, तो मैं अरिहन्त नेमिनाथ के पास दीक्षा ग्रहण करना चाहती हूँ।” कृष्ण ने कहा— “देवानुप्रिये! जैसा तुम्हें सुख हो, वैसा करो।” तब, पद्मावती देवी की दीक्षा की तैयारी की गई। उन्हें शिविका में बैठाकर द्वारिका नगरी के मध्य से होते हुए जिधर रैवतक पर्वत और सहास्राभ्रवन उद्यान था, उस ओर चले। वहाँ पहुँचकर पद्मावतीदेवी शिविका से उतरी। तदनन्तर कृष्ण वासुदेव भगवान् अरिष्टनेमि को वन्दन-नमस्कार कर इस प्रकार बोले— “भगवन्! यह पद्मावती देवी मेरी पटरानी है। यह मेरे लिए इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ है, फिर भी इसकी दीक्षा की उत्कट भावना को देखते हुए मैं इसे दीक्षा की आज्ञा प्रदान करता हूँ और मेरी प्रिय पत्नी को शिष्या के रूप में आपको समर्पित करता हूँ।

तब उस पद्मावती देवी ने ईशाण-कोण में जाकर स्वयं अपने शरीर पर धारण किए हुए सभी आभूषण एवं अलंकार उतारे और स्वयं ही अपने केशों का पंचमुष्टिक लोच किया। फिर, भगवान् नेमिनाथ के पास वन्दन कर यूँ बोली “हे भगवन्! यह संसार जन्म, जरा, मरण आदि दुःखरूपी अग्नि में जल रहा है, आप मुझे दीक्षा देकर इस भव-ताप से मुक्त करें। इसके बाद भगवान् नेमिनाथ ने पद्मावती देवी को प्रव्रज्या दी और यक्षिणी आर्या को शिष्या के रूप में प्रदान किया। तब, यक्षिणी आर्या ने आर्या पद्मावती को धर्मशिक्षा दी, फिर वह पद्मावती आर्या पंच समिति तीन गुप्ति का पालन करती हुई, इन्द्रियों का गोपन कर ब्रह्मचारिणी होकर विचरने लगी। इस तरह उस पद्मावती आर्या ने यक्षिणी आर्या से सामायिक से लेकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया तथा बहुत से उपवास, बेले, तेले, चोले, पचोले, मास-क्षमण और अर्द्धमासक्षमण आदि विविध तपस्या से आत्मा को भावित करती हुई विचरने लगी। इस तरह, पद्मावती आर्या ने पूरे बीस वर्ष तक

चारित्र्य—धर्म का पालन किया और अन्त में एक मास की संलेखना से आत्मा को भावित कर, जिस प्रयोजन से संयम अंगीकार किया था, उस अर्थ को सिद्ध कर अन्तिम समय संलेखना—समाधि द्वारा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गई।¹

श्रेणिक की दसरानियों के कथानक

आराधनापताका की गाथा क्रमांक 894 में काली सुकाली आदि के समाधिमरण का उल्लेख है। इसकी विस्तृत चर्चा अंतगढ़दसाओं के अष्टम वर्ग में इस प्रकार वर्णित है। चम्पा नाम की नगरी थी, उसमें पूर्णभद्र नाम का उद्यान था। वहाँ कोणिक राजा राज्य करता था। उस चम्पानगरी में श्रेणिक राजा की रानी और महाराजा कोणिक की छोटी माता काली नाम की देवी थी। नन्दा देवी के समान काली रानी ने भी प्रभु महावीर के समीप दीक्षा ग्रहण करके सामायिक से लेकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया एवं बहुत से उपवास, बेले, तेले आदि तपस्या से अपनी आत्मा को भावित करती हुई विचरने लगी। एक दिन वह काली आर्या अपनी गुरुणी चन्दनबालाजी के समीप आई और आकर हाथ जोड़कर विनयपूर्वक इस प्रकार बोली— “हे आर्! आपकी आज्ञा प्राप्त हो, तो मैं रत्नावलीतप को अंगीकृत करना चाहती हूँ।” आर्या चन्दना ने कहा— “देवानुप्रिये! जैसे सुख हो, वैसे करो, प्रमाद मत करो।” तब, काली आर्या चन्दनाजी की आज्ञा पाकर रत्नावलीतप करती हुई विचरण करने लगी।

इस रत्नावलीतप की चारों परिपाटियों को पूर्ण करने में उन्हें पाँच वर्ष, दो मास और अठारह दिन लगे। इस प्रकार, जब उनका शरीर एकदम शुष्क हो गया, जैसे कोयलों से भरी गाड़ी हो, सूखी लकड़ियों से भरी गाड़ी हो, पत्तों से भरी गाड़ी हो, धूप में डालकर सुखाई हो, तो वह गाड़ी खड़-खड़ की आवाज करती हुई चलती और ठहरती है, उसी प्रकार काली आर्या जब उठती-बैठती, चलती तो उसकी हड्डियाँ भी खड़-खड़ाहट की आवाज करती। उसका मांस सूख गया था, फिर भी वह तपस्तेज की लक्ष्मी से अतीव शोभायमान हो रही थी। एक दिन रात्रि के पिछले प्रहर में काली आर्या के हृदय में यह विचार आया कि इस कठोर तप-साधना द्वारा मेरा शरीर अत्यन्त कृश हो गया है, तथापि जब तक मेरे इस शरीर में उत्थान, बल, वीर्य और पुरुषाकार पराक्रम है, मन में श्रद्धा, धैर्य एवं वैराग्य है, तब तक मेरे लिए उचित है कि कल सूर्योदय होने के पश्चात् आर्या चंदना से पूछकर, उनकी आज्ञा प्राप्त होने पर संलेखना—व्रत ग्रहणकर, भक्तपान का त्याग करके मृत्यु के प्रति निष्काम होकर विचरण करूँ। ऐसा सोचकर वह अगले दिन सूर्योदय होते ही जहाँ चंदना थी, वहाँ आई और आर्या चन्दना को वन्दना—नमस्कार कर इस प्रकार बोली— “हे आर्! आपकी आज्ञा हो, तो मैं संलेखना करती हुई विचरना चाहती हूँ।” आर्या चन्दना ने कहा— “हे देवानुप्रिये! जैसे तुम्हें सुख हो, वैसे करो, सत्कार्य में विलम्ब न करो।” तब आर्या चन्दना की आज्ञा पाकर काली आर्या संलेखना ग्रहण करके विचरण करने लगी, अन्त में साठ भक्त के अनशनपूर्वक सिद्ध हुई।

¹ सिरिवासुदेवपति जिणपासे गहियचरणपडिवन्ती।

काली रानी की तरह सुकाली भी प्रव्रजित हुई, जो राजा श्रेणिक की रानी थी। वह भी बहुत से उपवास आदि तपों से आत्मा को भावित करती हुई विचरने लगी। फिर, वह सुकाली आर्या एक दिन आर्या चन्दना के पास आकर यूँ बोली— “मैं कनकावली—तप कर विचरना चाहती हूँ।” आर्या वन्दना की आज्ञा पाकर आर्या सुकाली ने कनकावली—तप का आराधन किया। इस तप की चारों परिपाटियों को पूरा करने में पाँच वर्ष, नौ मास और अठारह दिन लगे, अन्त में जब शरीर सुख गया और चलने, उठने—बैठने में भी खड़—खड़ की आवाज होने लगी, तब वह भी काली आर्या के समान एक मास की संलेखना—संधारा के साथ देह त्यागकर सिद्ध और मुक्त हो गई। इसी प्रकार, अन्तकृतदशा में श्रेणिक की अन्य रानियों के भी समाधिमरण के उल्लेख हैं।¹

सागरचन्द्र का कथानक

द्वारिका नगरी में बलदेव का पुत्र निषध रहता था। उसके प्रभावती रानी से सागरचन्द्र नामक पुत्र हुआ, जो अत्यन्त रूपवान था। शांबकुमार आदि सभी के लिए वह प्रीतिपात्र था। उसी नगर के वास्तव्य एक राजा की कन्या कमलामेला बहुत सुन्दर थी। उसका वाग्दान (सगाई) महाराज उग्रसेन के पोते धनदेव के साथ हुआ था। एक दिन नारद सागरचन्द्र के पास आए। सागरचन्द्र ने उनका स्वागत किया और आसन प्रदान कर पूछा— “भगवन! कहीं आपने कुछ आश्चर्य देखा है?” नारद बोले— “हां देखा है।” “कहाँ और कैसा आश्चर्य देखा?” सागरचन्द्र ने पूछा। नारद बोले— “यहीं, द्वारिका नगरी में कमलामेला कन्या एक आश्चर्य है।” सागरचन्द्र ने पूछा— “क्या उसका वाग्दान हो चुका है?” “हाँ”, नारद ने कहा। सागरचन्द्र ने कहा— “प्रभो! उसका मेरे साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है?” “मैं नहीं जानता”, ऐसा कहकर नारद ऋषि वहाँ से चले गए। सागरचन्द्र नारद का कथन सुनकर खिन्न हो गया। वह न शान्ति से बैठ सकता था और न सो सकता था। अब वह एक फलक पर कमलामेला का चित्र बनाता हुआ उसके नाम की रटन लगाने लगा। कलह का कारण खोजते हुए नारद कमलामेला के पास पहुँच गए। उसने भी पूछा— “भन्ते! क्या आपने कोई नया आश्चर्य देखा है?” नारद बोले— “दो आश्चर्य देखे हैं। रूप में बलदेव का पुत्र सागरचन्द्र और विरूपता में उग्रसेन का पौत्र धनदेव।” इतना कहकर नारद वहाँ से भी चले गए। यह सुनकर कमलामेला सागरचन्द्र के प्रति मोहग्रस्त तथा धनदेव के प्रति विरक्त हो गई। उसने नारद से पूछा— “क्या सागरचन्द्र मेरा पति हो सकता है?” नारद ने उसे आश्वासन दिया कि मैं तुम्हारे साथ उसका संयोग कराऊंगा। कमलामेला का चित्र पट्टिका पर बनाकर नारद सागरचन्द्र के पास गए।

नारद ने सागरचन्द्र के पास जाकर कहा— “कमलामेला तुम्हें चाहती है।” तब, सागरचन्द्र की माता तथा अन्य कुमार खिन्न होकर दुःख करने लगे। इतने में ही शांब आया और उसने सागरचन्द्र को विलाप करते हुए देखा। तब, शांब ने उसके पीछे जाकर उसकी दोनों आंखें अपनी हथेलियों से ढंक दी। सागरचन्द्र बोला— “कमलामेला।” शांब ने कहा— “मैं कमलामेला नहीं, कमलामेल हूँ।” सागरचन्द्र बोला— “अब तुम ही विमलकमल नेत्रों वाली कमलामेला से मिलाओगे, क्योंकि महापुरुष सत्यप्रतिज्ञ होते हैं।” तब अन्य कुमारों ने शांब को मद्य पिलाया। जब वह मदिरा

¹ काली—सुकालियाओ घन्ना कालाइयाण जणणीओ।

सुयमरण गहियचरणा अणसणमरणा गया सिद्धि ?

आराधनापताका — गाथा — 814

से मत्त हो गया, तब उससे यह स्वीकृति ले ली कि वह कमलामेला से सागरचन्द्र को मिला देगा। जब शांब का नशा उतरा, तब उसने सोचा— 'ओह! मैंने झूठा वादा कर लिया। क्या अब इससे इन्कार किया जा सकता है ? अब तो मुझे इसका निर्वाह करना ही होगा।'

शाम्ब ने प्रद्युम्न से अतिशायी-प्रज्ञप्ति विद्या की मांग की। उसने शाम्ब को विद्या प्रदान कर दी। कमलामेला के विवाह के दिन अपनी विद्या से उसने कमलामेला का प्रतिरूप बनाकर रख दिया और कमलामेला का अपहरण कर लिया तथा रेवत उद्यान में सागरचन्द्र के साथ कमलामेला का विवाह करा दिया गया। वे दोनों वहीं क्रीडारत रहने लगे। विद्या से बनाई गई कमलामेला की वह प्रतिकृति विवाह होने पर अट्टहास करती हुई आकाश में उड़ गई। यह देखकर सभी क्षुब्ध हो गए। कमलामेला का अपहरण किसने किया ? यह ज्ञात नहीं हो सका। नारद को पूछने पर उसने कहा— "मैंने कमलामेला को रेवत उद्यान में देखा था। किसी विधाधर ने उसका अपहरण किया है।" तब, सेना के साथ कृष्ण कमलामेला की खोज के लिए निकले। शाम्ब विधाधर का रूप बनाकर युद्ध करने लगा। सारे राजाओं को शाम्ब ने पराजित कर दिया। फिर, वह कृष्ण के साथ युद्ध करने लगा। जब शाम्ब ने देखा कि पिताश्री रुष्ट हो गए हैं, तो वह श्रीकृष्ण के चरणों में गिर पड़ा। शाम्ब ने श्रीकृष्ण को कहा— "मैंने कमलामेला को गवाक्ष से आत्महत्या करते देखा, इसलिए मैंने कमलामेला का अपहरण किया है", तब श्रीकृष्ण ने उग्रसेन को समझाया।

एक बार भगवान् अरिष्टनेमि वहाँ समवसृत हुए। कमलामेला और सागरचन्द्र ने भगवान् से धर्म सुनकर अणुव्रत स्वीकार किया और श्रावक बन गए। सागरचन्द्र अष्टमी, चतुर्दशी आदि को शून्यघरों और श्मशानगृह में एक रात्रि की प्रतिमा करने लगा। धनदेव को जब यह बात ज्ञात हुई, तो उसने तांबे की तीक्ष्ण सुइयों का निर्माण करवाया और शून्यगृह में प्रतिमा में स्थित सागरचन्द्र की बीसों अंगुलियों में सुइयाँ ठोक दी। उपसर्ग जानकर सागरचन्द्र ने समाधिमरण स्वीकार किया और सम्यकरूप से समतापूर्वक वेदना सहन करते हुए वह कालधर्म को प्राप्त कर देव बना। सागरचन्द्र की चारों ओर खोज होने लगी। खोजते हुए सागरचन्द्र की अंगुलियों में तांबे की सुइयाँ देखी। तांबे को कूटने वाले से ज्ञात हुआ कि इन सुइयों का निर्माण धनदेव ने करवाया था। रुष्ट होकर राजकुमारों ने धनदेव की खोज की। दोनों की सेनाओं में युद्ध होने लगा। युद्ध देखकर देवरूप ने उन दोनों को उपशान्त किया। कमलामेला भी विरक्त होकर भगवान् अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित हो गई। आराधनापताका में निर्देशित यह कथानक अन्यत्र भी मिलता है।

आनन्द आदि श्रावकों के कथानक

आराधनापताका की गाथा क्रमांक 821 में आनन्द आदि श्रावकों की कथा का निर्देश है, जो विस्तार से उपासकदशांग आगम-ग्रन्थ में उल्लेखित है कि किस प्रकार उन्होंने समाधिमरण को स्वीकार किया था। आनन्द गाथापति दस श्रावकों में से भगवान् महावीर का प्रथम श्रावक है, सत्य के प्रति अटूट निष्ठा वाला।

वाणिज्यग्राम नगर में आनन्द श्रावक रहता था, जिसकी पत्नी का नाम शिवानन्दा था। आनन्द धनियों में अग्रणी था। वह स्वयं भी दूसरों के काम आता था तथा उसका धन भी दूसरों के काम आता था। गाथापति आनन्द समस्त वाणिज्य ग्रामवासियों के लिए आधारस्तम्भ था। पूर्व पुण्यों

के प्रभाव से गाथापति आनन्द के पास अपार धन था। उसके पास चार करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ थीं। इतना ही ब्याज में आता था और इतना ही व्यापार में लगा हुआ था। एक ब्रज में दस हजार गाएँ होती हैं, इस अनुपात से आनन्द के पास चार ब्रज गोधन था। उसके पास पाँच सौ हल से जोतने योग्य भूमि थी और एक हजार शकट गाड़ियाँ सामान ढोने के लिए थीं। केवलज्ञान प्राप्ति के बाद प्रभु महावीर ग्रामानुग्राम विचरण करते-करते वाणिज्यग्राम पधारे और अपने श्रमण-संघ के साथ उसके द्युतिपलाश नामक एक उद्यान में ठहरे। यह उद्यान वाणिज्यग्राम से ज्यादा दूर नहीं था, निकट ही था। वाणिज्यग्राम का राजा जितशत्रु था।

उसने जब सुना कि द्युतिपलाश उपवन में महावीर आए हैं तो वह राजपरिवार के साथ उनके दर्शनों को गया। गाँव-बस्ती के हजारों नर-नारी भगवान् की वाणी सुनने पहुँचे। गाथापति आनन्द ने जब यह सुना, तो वह भी भगवान् की देशना सुनने द्युतिपलाश उद्यान पहुँचा। तीन बार प्रदक्षिणा कर उसने भगवान् की विधिवत् वन्दना की और उनकी देशना सुनने समवशरण में बैठ गया। भगवान् की देशना सुन आनन्द के हृदय-कपाट खुल गए। उसने परिषदा के जाने के बाद भगवान् से निवेदन किया- “तरणतारण प्रभो! चारित्र-पथ तो मेरे लिए बहुत कठिन है, फिर भी मुझे सीधे-सरल श्रावक-व्रत दीजिए, ताकि मैं घर में रहकर भी धर्म का पालन कर सकूँ।” भगवान् ने आनन्द से कहा- “जैसा तुम्हें सुखकर लगे, वैसा ही करो।” भगवान् की स्वीकृति पाने के बाद आनन्द ने पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, श्रावक के बारह व्रत ग्रहण कर लिए। प्रसन्नता से झूमता आनन्द घर पहुँचा। पत्नी ने प्रसन्नता का कारण पूछा, तो आनन्द ने कहा- “प्रिये! पुण्योदया भागीरथी घर के द्वार पर आई है। मैं उसी में मज्जन करके आ रहा हूँ। तुम भी ज्ञान की गंगा में डुबकी लगाकर आओ और श्रमणोपासिका बनकर अपने जीवन दगे धन्य बनाओ।”

शिवनन्दा भी भगवान् की देशना सुनने गई। वह भी श्रावकव्रत लेकर लौटी। पति-पत्नी दोनों महावीर के भक्त बनकर निवृत्ति-मार्ग की साधना में प्रवृत्त हो गए। इस प्रकार, निवृत्तिमय जीवन जीते हुए आनन्द को चौदह वर्ष बीत गए। एक रात आनन्द ने विचार किया, कुछ भी हो गृहस्थ-जीवन में पूर्ण निवृत्ति नहीं आ सकती और पूर्ण निवृत्ति के बिना कल्याण संभव नहीं, पंच महाव्रत भी लेने कठिन हैं, अतः यदि पुत्र को सांसारिक-जिम्मेदारियाँ सौंप दूँ, तो निश्चितता से धर्म का पालन कर सकता हूँ। रात बीतने के बाद आनन्द ने अपने संकल्प को साकार रूप दिया। उसने प्रीतिभोज का आयोजन कर इष्ट मित्र, कुटुम्बीजनों को बुलाकर सबकी उपस्थिति में व्यापार का समस्त भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंपकर कहा- “अब तुम इस घर की जिम्मेदारी संभालो और मुझे धर्म की शरण ग्रहण करने दो।”

आनन्द के आज्ञाकारी पुत्र ने गृहस्थी का दायित्व सम्भाल लिया। आनन्द अकेला ही कोल्लाक सन्निवेश पहुँचा और वहाँ बनी ज्ञातकुल की पौषधशाला में उसने धर्ममय जीवन का शुभारम्भ कर दिया। उसने घास का बिछौना बनाया और मुनियों जैसा वेश धारण कर मुनि जैसा ही जीवन बिताने लगा। तप, त्याग, प्रत्याख्यान तथा श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ उसने धारण कर ली। तप के प्रभाव से आनन्द का शरीर कृश हो गया, पर धर्म-चेतना बहुत बढ़ गई। एक रात उसने संकल्प किया कि मुझे अब भक्तपान का त्याग करके संथारा-संलेखना के साथ जीवन बिताना चाहिए। दूसरे दिन से उसने अपना संकल्प साकार किया और कठोर तपोमय जीवन जीने लगा। शुभलेश्या, शुभभावना के परिणामस्वरूप आनन्द गाथापति को अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। अवधिज्ञान

के प्रभाव से दूर-दूर तक की स्थिति को प्रत्यक्ष देखा और जाना जा सकता है। आनन्द भी छहों दिशाओं की दूरातिदूर स्थितियों को देखने-जानने लगा। यह घटना विक्रम पूर्व पाँचवीं शताब्दी की है। उन्हीं दिनों भगवान् महावीर पुनः वाणिज्यग्राम में पधारे और श्रमण परिवार सहित द्युतिपलाश उद्यान में ठहरे। भगवान् के प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम भिक्षा के लिए गाँव में गए, तो उन्होंने लोगों के मुँह से श्रावकश्रेष्ठ आनन्द के बारे में सुना। भगवान् ने भक्त आनन्द को देखने के विचार से गौतम ज्ञातकुल की पौषधशाला में पहुँचे। श्रमणोपासक आनन्द ने गौतम की वन्दना कर स्वागत किया और कहा— “भगवन्! आपके पधारने से मैं धन्य हो गया। मेरी एक जिज्ञासा है, वह यह कि क्या गृहस्थ को भी अवधिज्ञान हो सकता है ?”

“हाँ, आनन्द! हो सकता है।” गौतम ने कहा— “श्रावक को भी अवधिज्ञान होता है, तो मुझे भी अवधिज्ञान हुआ है। अवधिज्ञान के बल पर मैं पूर्व, पश्चिम एवं दक्षिण दिशाओं में लवण-समुद्र के भीतर पाँच सौ योजन तक देख सकता हूँ, इस तरह उत्तर दिशा में चूल्ल हिमवान पर्वत तक, उर्ध्वलोक में सौधर्मलोक तक और अधोदिशा में लोलुपच्चय नरकावास तक की स्थिति देख जान सकता हूँ।”

आनन्द की बात सुनकर गणधर गौतम पहले तो चौंके। फिर बोले— “आनन्द! श्रावक को अवधिज्ञान होता है, यह तो ठीक है, पर जैसा तुमने अपने बारे में कहा है, वैसा दूरगामी अवधिज्ञान श्रावक को नहीं होता। भ्रान्तिवश तुमने असत्य बोला है, अतः तुम्हें अपने मिथ्या कथन की आलोचना और प्रायश्चित्त करना चाहिए।”

विनयमूर्ति आनन्द ने निश्चय के लहजे में कहा— “भन्ते! भगवान् महावीर के शासन में क्या सत्यभाषण की भी आलोचना की जाती है?” “नहीं, ऐसा तो नहीं होता। सत्य कथन का प्रायश्चित्त भला क्यों होगा ?” गौतम ने कहा— “लेकिन तुम्हारे पूछने का अभिप्राय क्या है ? तुम यह सब क्यों पूछ रहे हो ?” “यदि मिथ्याभाषण का प्रायश्चित्त किया जाता है, तो भगवन् वह आपको ही करना है।” गौतम ने आनन्द की दृढ़ता देखी, तो सन्देह में पड़ गए। उनका यह सन्देह अब भगवान् महावीर ही मिटा सकते थे। भिक्षा लेकर वे द्युतिपलाश उद्यान में गए और आनन्द श्रावक से जो बातचीत हुई थी, वह ज्यों की त्यों गौतम ने महावीर को बता दी। सब कुछ सुनकर सर्वज्ञ महावीर ने कहा— “गौतम! आनन्द का कथन सत्य है। तुमने उसके सत्य की उपेक्षा की है, अतः तुम आनन्द से जाकर क्षमा माँगो। क्योंकि आत्म साधक को छोटे बड़े का भेद भुलाकर सत्य का पुजारी होना चाहिए।” अपनी भूल पर गौतम पछताये। वे तुरन्त आनन्द के पास पहुँचे और विनत होकर बोले— “श्रावकश्रेष्ठ! मुझे क्षमा करो, तुम्हारे सत्य कथन को मैंने मिथ्या कहकर धर्म और सत्य की अवहेलना की, अतः मैं नत होकर तुमसे क्षमा माँगता हूँ।” आनन्द की आँखें गीली हो गईं। उसने देखा कि भगवान् के निर्ग्रन्थ शासन में सत्य का इतना सम्मान है कि एक गणधर मुनि एक श्रावक से क्षमा माँग रहा है।

गदगद होकर आनन्द ने गौतम को विदा किया। आनन्द गाथापति ने बीस वर्ष तक साधना का जीवन बिताया, फिर समाधिपूर्वक देह त्यागकर सौधर्मकल्प अरुणाभ विमान में देवरूप में जन्म लिया।

कामदेव श्रावक का कथानक

श्रावकश्रेष्ठ कामदेव समता रस का ऐसा आदर्श था कि कल्पना मात्र में कंपा देने वाले कष्टों को उसने धैर्य की ढाल से निरस्त कर दिया। कामदेव अंगदेश की राजनगरी चम्पापुरी का रहने वाला धनी-मानी गाथापति था। अठारह करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ हिरण्य थीं। कृषि-उद्योग और गोपालक में भी वह समृद्ध था। उसके पास गायों के छह गोकुल थे और प्रत्येक गोब्रज में दस-दस हजार गायें थीं। भगवान् महावीर विहार करते हुए चम्पापुरी के पूर्णभद्र उद्यान में पहुँचे। राजा-प्रजा का जनसमूह उनकी देशना सुनने उमड़ चला। भीड़-भाड़ को देख कामदेव ने अपने एक सेवक से पूछा- “आज यह भीड़ कहाँ जा रही है?” सेवक ने कहा- “आज भगवान् महावीर आए हैं, लोग उन्हीं के दर्शनों को जा रहे हैं।” कामदेव भी भगवान् महावीर के चरणों में वन्दन-नमस्कार करने पूर्णभद्र उपवन में पहुँचा। चाण्डाल और ब्राह्मण पास-पास बैठे हैं, चम्पा का राजा भी प्रजाजनों के साथ बैठा धर्म-देशना सुन रहा है, कामदेव ने जिनवाणी का पान किया तो प्रफुल्लित हो गया। आत्मकल्याण के लिए उसने श्रमणोपासक श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किए। उनकी पत्नी भद्रा को भी मालूम हुआ, तो उसने भी ज्ञानगंगा में अवगाहन कर श्रावक-व्रत ग्रहण किए। दोनों धर्ममय जीवन जीने लगे। धर्ममय गृहस्थ-जीवन जीते हुए कामदेव को कई वर्ष बीत गए। अब उसे संसार और सांसारिक-वस्तुओं से पूर्ण विरक्ति होने पर पूर्ण निवृत्ति के आकांक्षी कामदेव ने आनन्द की तरह रातभर अपने शुभ संकल्पों को दोहराया और प्रातःकाल उठकर इष्ट मित्रो, परिजनों को प्रीतिभोज पर आमंत्रित किया। जब सब एकत्र हो गए, तो भोजनोपरान्त सबके सम्मुख अपने ज्येष्ठ पुत्र को गृहभार सौंपकर, समस्त जिम्मेदारियों से मुक्त होकर पौषधशाला में जाकर उसने मुनि जैसे जीवन का शुभारम्भ कर दिया। श्रावक के द्वादश व्रतों के साथ कामदेव ने श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ धारण की। वह दर्भशय्या पर सोता था। ध्यान और कायोत्सर्ग में डूबा रहकर कामदेव आत्मयोग की उत्कृष्ट साधना करने लगा। एक दिन रात को वह कायोत्सर्ग में डूबा था। ध्यानावस्था में कामदेव देह की सुधि भी भूल गया। आधी रात के समय एक भयंकर अट्टहास हुआ। पौषधशाला में भूचाल-सा आ गया। बड़े भयंकर शब्द के साथ एक दैत्य प्रकट हुआ। उसका रूप इतना भयंकर था कि देखते ही हृदय कांपता था, पर कामदेव ने दैत्य की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। दैत्य ने खीझ के साथ श्रावक कामदेव से कहा - “रे बकध्यानी! अपने सर्वनाश के लिए क्यों तूने कमर कस ली है ? मोक्ष और धर्म की मृगमरीचिका को छोड़, मेरी बात को सुन। छोड़ दे यह धर्मध्यान और भोगों का सुख ले।”

“अरे! तू सुनता नहीं कि मैं क्या कह रहा हूँ। चुपचाप उठ जा। भूल जा महावीर को। उसके धर्म को छोड़ दे। यदि तूने मेरी बात नहीं मानी, तो मैं तेरे टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा।” कामदेव तो ध्यान में डूबा था। ध्यानस्थ को कुछ भी सुनाई नहीं देता। कामदेव भी कुछ नहीं सुन रहा था। अपनी उपेक्षा पर दैत्य को बहुत क्रोध आया। उसने कामदेव की गर्दन पर तलवार रख दी और जहाँ-तहाँ प्रहार करके घायल कर दिया। रक्तप्रवाह से पौषधगृह की धरती लाल हो गई। कामदेव अडिग रहा। अब दैत्य ने हाथी का रूप बनाया और कामदेव को पैरों से रौंदने लगा। फिर उसने सर्प बनकर कामदेव का कई जगह काट लिया, पर वाह रे धैर्य! कामदेव ने उफ तक नहीं किया। अब तो दैत्य भी पराजित हो गया। वस्तुतः वह देव था। दैत्य रूप त्यागकर वह सुदर्शन देव हो गया और बार-बार क्षमा माँगते हुए कामदेव से बोला- “श्रावकश्रेष्ठ! तुम धन्य हो, तुम सफल हो

गए। मैंने तुम्हें जो कष्ट दिए, उसके लिए क्षमा करना। मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।" कामदेव को प्रणाम कर देव अन्तर्धान हो गया। इसी बीच, सवेरा हो गया और ध्यान पूरा हो गया कामदेव का। सूर्योदय के अनन्तर ही कामदेव ने शुभ संवाद सुना कि तरण-तारण भगवान् महावीर आए हैं। प्रफुल्ल मन श्रावकश्रेष्ठ कामदेव महावीर की वन्दना करने पूर्णभद्र उपवन को गया। श्रमण-श्रमणियों के मध्य बैठे भगवान् की कामदेव ने वन्दना की और उनकी वाणी सुनने बैठ गया। भगवान् ने श्रमण श्रमणियों को सम्बोधित करते हुए कहा—“भव्यों! आत्मयोगी साधक श्रमण हो या श्रावक, पर उसकी साधना कामदेव जैसी अडिग होना चाहिए। तुम सब भी उसकी समता व धैर्य का अनुकरण करो। कामदेव के धैर्य की प्रशंसा करते हुए महावीर ने दैत्य द्वारा दिए गए कष्टों की कथा श्रमण-श्रमणियों को सुनाई तो वे भी रोमांचित हो गए। कामदेव श्रावक ने अपना शेष जीवन भी इसी तरह धर्म-धैर्य के साथ बिताया और फिर अनशनपूर्वक देहत्याग कर समाधिमरणपूर्वक स्वर्गलोक प्राप्त किया, जहाँ वह सुखों के सागर पर तैरने लगा।

प्रदेशी (पयासी) राजा का कथानक

आराधनापताका की गाथा क्रमांक 822 में प्रदेशी राजा द्वारा समाधिमरण ग्रहण करने का निर्देश है। इस कथा का विस्तृत विवरण राजप्रश्नीयसूत्र में है। राजाप्रदेशी जीव और शरीर को एक मानता था। उसने अनेकों बार परीक्षण कर देखा। तस्करों और अपराधियों को सन्दूक में बन्द कर या उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर जीव को देखने का प्रयत्न किया कि कहीं आत्मा का दर्शन हो, परन्तु आत्मा अरूपी होने के कारण उसे दिखाई नहीं दी। जब आत्मा दिखाई नहीं दी, तो उसे अपना मत सही ज्ञात हुआ कि जीव और शरीर अभिन्न है, किन्तु उसके सभी तर्कों का पार्श्वपक्ष केशी श्रमण ने इस प्रकार रूपकों के माध्यम से निरसन किया कि राजा प्रदेशी को आत्मा और शरीर पृथक्-पृथक् स्वीकार करना पड़े। स्वर्ग या नरक से जीव क्यों नहीं आकर कहते हैं कि मैंने प्रबल पुण्य की आराधना की जिसके फलस्वरूप मैं देव बना हूँ, अथवा मैंने पापकृत्य किए थे जिसके कारण मैं नरक में दारुण वेदनाओं को भोग रहा हूँ, इसलिए मैं तुम्हें कहता हूँ कि तुम पाप से बचो और पुण्य उपार्जन की ओर लगे। यदि स्वर्ग और नरक होता, तो मेरे पिता, प्रपितामाह वहाँ गए होते, वे अवश्य ही आकर मुझे चेतावनी देते। प्रत्युत्तर में केशी श्रमण ने कहा— “एक कामुक व्यक्ति हो, जिसने तुम्हारी पत्नी के साथ दुराचार किया हो और तुमने उसे प्राणदण्ड की सजा दी हो, वह अपने पारिवारिक-जनों को सूचना देने के लिए जाना चाहे, तो क्या तुम उसे मुक्त करोगे ? नहीं, वैसे ही नरक से जीव मुक्त नहीं हो पाते, जो आकर तुम्हें सूचना दें और स्वर्ग के जीव इसलिए नहीं आते कि यहाँ पर गन्दगी है, कल्पना करो तुम अपने शरीर को स्वच्छ कर स्वच्छ द्रव्यों को लेकर देवालय की ओर जा रहे हो, उस समय शौचालय में बैठा हुआ कोई व्यक्ति तुम्हें वहाँ बुलाए, तो क्या तुम उस गन्दे स्थान में जाना पसन्द करोगे ? नहीं। वैसे ही देव भी यहाँ आना पसन्द नहीं करते हैं।” केशी स्वामी ने अनेक युक्तियों से प्रदेशी राजा की शंकाओं का समाधान किया। फलतः, वह धर्म के प्रति श्रद्धावान् बना। पहले राजा प्रदेशी का जीवन अत्यन्त उग्र था। उसके हाथ रक्त से सने हुए रहते थे पर केशी श्रमण के सान्निध्य ने उसके जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया। अब प्रदेशी राजा श्रमणोपासक श्रावक बन गया और जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता होता हुआ, धार्मिक आचार-विचारपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा।

राजा प्रदेशी को राज्य आदि के प्रति उदासीन देखकर सूर्यकान्ता रानी के मन में विचार उठा कि ये प्रदेशी राजा तो संसार से उदासीन हो चुका, अब मेरी इच्छा, वासना पूरी न हो पा रही

है, अतः मैं विषप्रयोग द्वारा प्रदेशी राजा को मारकर सूर्यकान्त कुमार को राज्यसिंहासन पर आसीन कर दूँ।

प्रदेशी राजा तो बेले-तेले की तपश्चर्या करने लगे। उनके पारणे के दिन उस सूर्यकान्ता महारानी ने विषमिश्रित प्राणघातक दूध (पेय) परोसा, तब उस विष मिले आहार को खाने से प्रदेशी राजा के शरीर में दुस्सह वेदना हुई, विषम पित्तज्वर से सारे शरीर में जलन होने लगी।

तत्पश्चात्, प्रदेशी राजा सूर्यकान्ता देवी के इस षडयन्त्र को जानकर भी उसके प्रति मन में लेशमात्र भी द्वेष-रोष न करते हुए जहाँ पौषधशाला थी, वहाँ आया, आकर उसने पौषधशाला की प्रमार्जना की, स्थण्डिल भूमि का प्रतिलेखन किया, फिर दर्भ का संथारा बिछाया, उस पर आसीन हुआ। आसीन होकर, उसने पूर्व दिशा की ओर मुख करके, पद्मासन से बैठकर, दोनों हाथ जोड़कर, आवर्त्तपूर्वक मस्तक पर अंजलि करके इस प्रकार कहा— “अरिहन्तां, यावत्-सिद्धगति को प्राप्त भगवन्तां को नमस्कार हो। मेरे धर्माचार्य और मेरे धर्मोपदेशक केशीकुमार श्रमण को नमस्कार हो, पहले भी मैंने केशीकुमार श्रमण के समक्ष स्थूलप्राणातिपात यावत्-स्थूलपरिग्रह का त्याग किया है, अब इस समय भी मैं उन्हीं भगवन्तां की साक्षी से जीवन पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन-शल्यरूप अठारह पापस्थानों का प्रत्याख्यान करता हूँ और जीवनपर्यन्त के लिए अशनपान आदि रूप चारों प्रकार के आहार का भी त्याग करता हूँ।

यद्यपि मुझे ये शरीर इष्ट-प्रिय रहा है, मैंने हमेशा इस शरीर का ही ख्याल रखा कि कोई रोग न हो, परन्तु अब अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक के लिए इस शरीर का भी परित्याग करता हूँ।”

इस प्रकार के निश्चय के साथ आलोचना और प्रतिक्रमण करके समाधिपूर्वक देहत्याग करके सौधर्मकल्प के सूर्याभविमान की उपपात-सभा में सूर्याभदेव के रूप में उत्पन्न हुआ।

चाणक्य का कथानक

आरधनापताका गाथा क्रमांक 824 पर चाणक्य का कथानक वर्णित है। पाटलीपुत्र नामक नगर में मौर्यवंशी बिन्दुसार नामक राजा राज्य करता था। उसका चाणक्य नामक एक उत्तम मन्त्री था। वह जैन-धर्म का अनुरागी था। वह जिनशासन की प्रभावना करता हुआ दिन व्यतीत करता था। एक दिन नन्दराजा का सुबन्ध मन्त्री पूर्व वैर के कारण चाणक्य के दोषों का निरीक्षण करके राजा से कहने लगा— “हे देव! चाणक्य ने आपकी माता को छुरी से पेट चीरकर मारा था, अतः आपका इससे बड़ा शत्रु और कौन हो सकता है ?” ऐसा सुनकर राजा ने धायमाता से पूछा, तो उसने भी यही उत्तर दिया, लेकिन मूल बात धायमाता ने गुप्त रखी। उसी समय, चाणक्य को राजसभा में आते देखकर क्रोधातुर बना राजा उससे विमुख हो गया।

शायद किसी ने राजा की मर्यादा का अपमान किया है, किन्तु इस तरह मुझसे विमुख होने का क्या कारण हो सकता है, ऐसा विचार कर चाणक्य घर चला आया। औत्पातिकी-बुद्धि से युक्त चाणक्य ने राजा के क्रोधित होने का कारण जान लिया। फिर, उसने ऐसा विचार किया, —मैं ऐसा कोई कार्य करूँ, जिससे उस व्यक्ति को योग्य शिक्षा प्राप्त हो और वह भोगों से विमुख हो। चाणक्य ने थोड़ा सुगन्धित चूर्ण तैयार कर उसे एक डिब्बे में डाल दिया, साथ ही एक भोज-पत्र पर यह लिखकर भी उस डिब्बे में रखा कि जो पुरुष इसे सूँघकर इन्द्रिय-विषयसुख का भोग करेगा, उसकी मृत्यु होगी, अथवा जो वस्त्र-आभूषण आदि पर या स्नान तथा श्रृंगार करके इसका विलेपन

करेगा, वह शीघ्र मर जाएगा। इसके बाद चाणक्य ने उस डिब्बे को एक सन्दूक में रखकर उसे कमरे में रखा और कमरे का दरवाजा बन्द कर उस पर बड़ा सा ताला लगा दिया। तत्पश्चात्, स्वजनों को जैन धर्म में योजित कर स्वयं ने इंगिनीमरण अर्थात् अनशन स्वीकार कर लिया।

इधर धायमाता राजा से कहने लगी— “हे राजन! तेरे पिता से भी अधिक पूजनीय चाणक्य मन्त्री का तूने पराभव क्यों किया?” तब राजा द्वारा पुनः प्रश्न पूछने पर धायमाता ने कहा— “जब तू माँ के गर्भ में था, तब विषमिश्रित आहार का कौर खाते ही जहर से व्याकुल होकर तेरी माता मर गई, तब तुरन्त तुझे बचाने के लिए चाणक्य ने तेरी माता का पेट छुरी से चीरा और तुझे निकालकर बचाया। अगर उसने तुझे नहीं निकाला होता तो आज तू इस दुनियाँ में नहीं होता। उस समय तेरे मस्तक पर विषबिन्दु लगने से निशान हो गया था, इसी से तेरा नाम बिन्दुसार रखा गया।” ऐसा सुनते ही राजा को अत्यन्त दुःख हुआ और वह तुरन्त आडम्बरसहित चाणक्य के पास गया। वहाँ उसने चाणक्य को गोबर के उपले (कण्डों) के ढेर के ऊपर बैठा देखा। राजा ने उसे आदरपूर्वक नमस्कार किया और अनेक बार क्षमायाचना की। फिर, राजा ने महात्मा चाणक्य को नगर में पधारने और राज्य को सम्भालने के लिए कहा। उस समय चाणक्य ने कहा— “मैंने अनशन स्वीकार कर लिया है। अब मुझे किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं है।” सुबन्धु की ही चालबाजी थी— ऐसा जानते हुए भी उसने राजा से कुछ नहीं कहा। सुबन्धु ने राजा से महात्मा की सेवा करने की आज्ञा मांगी। सुबन्धु राजा द्वारा आज्ञा प्राप्त कर धूप जलाकर उसके अंगारे उपले के ढेर पर डालने लगा, फिर भी चाणक्य शुद्धलेश्या में स्थित रहा। इससे वह अग्नि में जल गया और अन्त में मरकर वह देव बना। सुबन्धु मन्त्री उसके मरण का आनन्द मनाने लगा। किसी दिन सुबन्धु मन्त्री राजा से आज्ञा प्राप्त कर चाणक्य के घर गया। वहाँ पर मजबूत ताले को देखकर ‘सारा धन यहीं होगा’— ऐसा विचारकर धन की आशा में उसने ताले को तोड़ा और पेटी बाहर निकाली। पेटी में से उसने उस डिब्बे को निकालकर खोला उसके अन्दर रखे सुगन्धितचूर्ण को उसने सूँघा और साथ में रखा हुआ भोजपत्र भी पढ़ा। मन्त्री उसका सम्यक् अर्थ समझ गया। उसका प्रभाव देखने के लिए उसने एक पुरुष पर उसका प्रयोग करने हेतु उसे चूर्ण सुँघाया। उस चूर्ण के सूँघने के पश्चात् उस पुरुष ने भोग किया, जिससे वह मर गया। सुबन्धु ने कहा— “अरे चाणक्य! स्वयं मरते हुए भी तूने मुझे भी मार डाला। इन्द्रिय विषयसुखों को भोगने की इच्छा होने पर भी वह मन्त्री उन भोगादि का त्याग कर रहने लगा, क्योंकि उसने भी उस चूर्ण को सूँघा था और यदि वह विषयभोग करता, तो वह स्वयं भी मर जाता। कहा भी गया है कि दूसरे के मस्तक पर छेदन करना अच्छा है, लेकिन चुगली करना अच्छा नहीं है। यह एक दोष भी उभयलोक को निष्फल करने वाला है, अतः आराधक को अनेक दोष से युक्त पैशन्य का मन से ही त्याग कर देना चाहिए। मिथ्या दोषारोपण करने वाला पिशुनवृत्तिवाला दूसरों के दोषों को देखता है। उसकी दृष्टि छिद्रान्वेषी होती है। गम्भीरता का अभाव और संकीर्ण मनःस्थिति होने के कारण ऐसे व्यक्ति में मैत्रीभाव एवं वाणी का विवेक नहीं होता है। विवेकशील व्यक्ति विचारपूर्वक वाणी का उपयोग करता है। किन्तु अज्ञ पुरुष किसी की बात को उसके परिणाम का विचार किए बिना ही सबके समक्ष प्रकाशित कर देता है। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में सुबन्धु और चाणक्य का कथानक उल्लेखित है। प्रस्तुतः कथानक हमें व्यवहारवृत्ति (10/592), निशीथचूर्णि (भाग-2, पृ. 33) मरणसमाधि (गाथा-478), प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका (पृ. 72) एवं भगवती-आराधना (पृ. 805) आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

कम्बल सम्बल का कथानक

मथुरा नगरी में जिनदास वणिक्-श्रावक रहता था। उसकी पत्नी सोमदासी श्राविका थी। वे दोनों जीवादि नौ तत्त्वों के ज्ञाता तथा बारह व्रतों के धारक थे। उन्होंने चतुष्पद रखने का प्रत्याख्यान कर लिया था, इसलिए वे दूसरों से दूध लेते थे। एक दिन एक आभीरी गोरस लेकर आई। श्राविका ने उससे कहा- "गोरस बेचने के लिए तुम अन्यत्र मत जाया करो। तुम जितना गोरस लाओगी, मैं ले लूंगी।" इस प्रकार, दोनों में परस्पर बातचीत हो गई। श्राविका उसको गंधपुट आदि देती और वह आभीरी श्राविका को दूध-दही देती। इस प्रकार, दोनों में प्रगाढ़ मैत्री हो गई। एक बार आभीरी के घर गोपाल का विवाह था। उसने जिनदास श्रावक व श्राविका-दोनों को निमंत्रण दिया। श्रावक बोला- "अभी हम बहुत व्यस्त हैं, वहाँ नहीं आ सकते। तुम्हें विवाह-कार्य में भोजन के लिए कड़ाह आदि बरतन तथा वस्त्र, आभरण, पुष्प, फल आदि जो वस्तुएँ चाहिए, वह यहाँ से ले जाओ।" आभीरी सारी वस्तुओं को पाकर परम प्रसन्न हुई। लोगों ने उसकी बहुत प्रशंसा की। उस आभीरी ने सेठ को तीन वर्षीय कंबल-संबल नाम वाले दो बैल दिए! श्रावक लेना नहीं चाहता था, फिर भी बलात् उन दोनों बैलों को उसके घर बांध दिया। एक दिन श्रावक ने सोचा- 'यदि मैं इन बैलों को ऐसे ही छोड़ देता हूँ, तो दूसरे लोग इनको वाहन में जोत लेंगे, अतः अच्छा हो ये यहीं रहें।

वह उनका प्रासुक चारे आदि से पोषण करने लगा। श्रावक अष्टमी, चतुर्दशी को उपवास करता, धर्म-ग्रन्थों को पढ़ता, वे दोनों बैल उसे ध्यान से सुनते। श्रावक उपवास करता, तो वे भी भूखे रहते। दोनों बैल भद्र और सम्यकत्व युक्त थे। श्रावक ने सोचा कि ये दोनों बैल भव्य हैं, उपशान्त हैं। श्रावक और बैलों में परस्पर बहुत स्नेह हो गया। एक बार नगर में भंडीरमण-यात्रा का आयोजन था। श्रावक का मित्र 'भंडीरमण-यात्रा में बिना पूछे ही दोनों बैलों को ले गया। उनको खूब दौड़ाया। दोनों बैल परिश्रान्त हो गए। उसने दोनों को लाकर श्रावक के घर बांध दिया। उसी दिन से दोनों ने चारा-पानी छोड़ दिया। अन्त में, श्रावक ने दोनों बैलों को अनशन कराया। तब, श्रावक उन्हें भक्तप्रत्याख्यान कराकर नमस्कार-मंत्र सुनाता रहा। वे मरकर नागकुमार देव-योनि में उत्पन्न हुए।

यह कथा आराधनापताका (834) के साथ-साथ आवश्यकनिर्युक्ति (470) में भी वर्णित है, जो पशुयोनि में समाधिमरण की साधना का निर्देश करती है।

चण्ड कौशिक का कथानक

चण्ड कौशिक के कथानक का निर्देश आराधनापताका की गाथा 835 में हुआ है। चौबीसवें जैन-तीर्थंकर थे, भगवान् महावीर। एक बार वाचाला नगर की ओर जिस मार्ग से वे जा रहे थे, वह वाचाला के उत्तर में वनखण्ड को होकर जाता था। तभी पीछे से भागते हुए कुछ ग्वाले महावीर को पुकार कर बोले- "भिक्षुक! ओ भिक्षुक! रुको! इधर मत जाओ। महावीर ठहर गए समीप आए ग्वालों से महावीर ने पूछा- "क्यों, क्या बात है ? तुम मुझे किस लिए पुकार रहे हो?" ग्वालों ने कहा- "आगे एक भयंकर सर्प रहता है। उसका नाम चंडकौशिक सर्प है। वह बड़ा विषैला है।

मनुष्य तो क्या, पशु-पक्षी तक उसके विषैले फुफकार से भयभीत रहते हैं। उसे अवसर मिलना चाहिए। उसकी फुफकार में इतना बल है कि आकाश में उड़ता पक्षी तक खिंचकर नीचे चला आता है। वन के वृक्ष और वनस्पति तक उसके विष-प्रभाव से भस्म हो चुके हैं। ऐसा सर्प इस जंगल में रहता है, इसलिए आप इधर मत जाइए। हम आपको दूसरा रास्ता बता देते हैं, उधर से चले आओ।”

महावीर ने चण्डकौशिक सर्प की विकरालता के बारे में सुना तो उनके अन्तर में वात्सल्य भर आया। वे बोले— “वह सर्प तो मेरा मित्र है। मैं उसी के पास जा रहा हूँ।” ग्वाले देखते रह गए। महावीर आगे बढ़ गए। महावीर चलते हुए सर्प की बांबी के पास पहुँचे। वहाँ जाकर वे ध्यानस्थ हो गए। बांबी में रहे सर्प को मानव की गन्ध आई और वह फुफकारता हुआ बांबी से बाहर आया। उसने एक आदमी को अपनी बांबी के पास खड़ा पाया, तो उसके क्रोध का पार न रहा। सर्वप्रथम उसने महावीर पर अपनी विषैली फुफकार छोड़ी। चण्डकौशिक की फुफकार में ही इतना विष था कि जिसे वह छू लेती, वह मर जाता, पर महावीर पर उसका कोई प्रभाव न हुआ। सर्प ने अपनी दूसरी शक्ति का प्रयोग किया, वह शक्ति थी दृष्टिविष। विष-दृष्टि से निरन्तर वह महावीर को देखने लगा और देखता रहा। जब भी सर्प किसी दूरस्थ प्राणी को इस तरह से देखता था, तो वह कुछ ही क्षणों में मूर्च्छित होकर गिर पड़ता था, ऐसा विष था उसकी दृष्टि में, परन्तु महावीर पर इसका भी कोई असर न हुआ। अब चण्डकौशिक सर्प के क्रोध की सीमा न रही। उसने अपनी तीसरी शक्ति का प्रयोग किया। क्रोध में भरकर ध्यानलीन महावीर के चरणों में उसने डंक मारा इस बार सर्प के विषैले दाँत महावीर के पाँव के अंगूठे में गड़ गए। महावीर के अंगूठे से रक्त के स्थान पर दूध बहने लगा।

सर्प के आश्चर्य का अन्त न रहा। वह हतप्रभ हो गया कि यह कैसा देवपुरुष है। रक्त तो सभी मानवों के शरीर में बहता है, पर यह महापुरुष कौन है, जिसके शरीर से रक्त के स्थान पर दूध बह रहा है? महावीर ने करुणा का अमृत-वर्षण करते हुए कहा— “सर्पराज! बोधि को प्राप्त करो! बोधि को प्राप्त करो !! बोधि को प्राप्त करो!!! तुम क्रोध का परिणाम देख चुके हो? तुम अपना अतीत याद करो। तुम्हारा यह स्वरूप क्यों बना है? तुम इस योनि में क्यों आए हो। अब इस स्थिति को त्याग दो। चण्डकौशिक सर्प महावीर का उद्बोधन सुन प्रतिबोधित हुआ। उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। जातिस्मरण-ज्ञान में चण्डकौशिक ने अपने पूर्वजन्म देखे। वह देखने लगा कि अतीत के एक जन्म में वह मुनि के पूज्य पद पर आसीन था। उसका नाम गोभद्र था। प्रमत्तता से गमन करते हुए गोभद्र मुनि के पाँव के नीचे एक मेंढक आ गया। मेंढक मर गया। मुनि को पता भी न चला। पीछे आ रहे शिष्य ने यह सब देख लिया था। उसने गुरुजी को स्मरण कराया तथा आलोचना करने को कहा। गोभद्र मुनि को क्रोध आ गया। वे बोले— “तुझे ज्यादा दिखाई पड़ता है। मुझे तो कहीं नहीं दीखा। वहाँ पड़ा होगा रास्ते में पहले से ही मरा हुआ। मैं मेंढक क्यों मारता?” शिष्य मौन हो गया। रात्री प्रतिक्रमण की वेला में शिष्य ने पुनः गुरु को स्मरण कराया — “गुरुदेव! आप आलोचना कर लें।” गोभद्र मुनि से यह सहन न हुआ। उन्होंने अपना डण्डा उठाया और शिष्य को मारने दौड़े। जैसे ही वे आगे बढ़े कि खम्भे से टकरा गए और वहीं उनकी मृत्यु हो गई।

सर्पराज चण्डकौशिक अपने ज्ञान में आगे देखता है— मैं गोभद्र मुनि की देह को छोड़कर अग्निकुमार देव बना। वहाँ भी मेरा क्रोध समाप्त नहीं हो पाया। देवायु पूर्ण कर फिर मैं कौशिक

नामक ब्राह्मण बना। क्रोध के स्वभाव के कारण सब मुझे चण्डकौशिक कहने लगे। उस जन्म में मेरे साथ और क्या-क्या घटा ? मेरा एक उपवन था। उसमें एक दिन पशु घुस आए। उन अबोले पशुओं ने फल-पौधों को खा डाला। यह देखकर मेरे क्रोध की सीमा न रही। मैं कुल्हाड़ा उठाकर, उन्हें मारने दौड़ा, तभी रास्ते में रहे एक गड़ढे में मैं गिर पड़ा और मेरी मृत्यु हो गई।

उसी क्रोध का परिणाम, आज मैं सर्पयोनि में हूँ। अपना अतीत देखकर क्रोध का परिणाम जानकर वह शान्त हो गया। उसने महावीर की साक्षी से अपने मन में फिर कभी क्रोध न करने का संकल्प धारण कर लिया। इसी के साथ, उसने यह भी संकल्प किया कि मैंने जिन लोगों को सताया, दुःखी किया, वे यदि बदला लेंगे, तब मैं शान्त भाव से उनके द्वारा दिए कष्टों को सहन करूंगा, इसीलिए उसने अपना मुँह बांबी के विवर में डालकर शेष शरीर को बाहर रखकर शान्त हो बैठ गया।

अगले दिन ग्वालों के मन में उत्सुकता जागी कि जो भिक्षु चण्डकौशिक के वन की ओर होकर चले गए थे, क्या बीती होगी उन पर? सब के सब शून्यवन की ओर चल पड़े। चलते-चलते वहीं पहुँच गए, जहाँ महावीर ध्यानस्थ थे। पास ही सर्प की बांबी भी थी। वे छिप-छिपकर देखने लगे। महावीर तो चुप खड़े हैं, परन्तु सर्प का पूरा शरीर महावीर के सामने है और मुँह बिल में। महावीर चण्डकौशिक को सम्बोधि प्रदान कर अन्यत्र चले गए। ग्वाले ने ग्रामवासियों को विषधर सर्पराज के बदल जाने की तथा विष से अमृत बने सर्प की कथा का आँखों देखा हाल बताया।

लोगों को मालूम हुआ कि चण्डकौशिक सर्प भगवान् महावीर के सदुपदेश से बदल चुका है, अब न किसी को फुफकार मारकर सता रहा है, न आक्रोश रहा है। ग्रामवासियों ने जब यह संवाद सुना, तो सच्चे अर्थों में नागदेव मानकर दूध-दही, गोघृत इत्यादि पूजा-सामग्री अर्पित करने लगे। कोई उसे पत्थर मार-मारकर घायल कर रहे थे। पत्थर मारने वालों के प्रति और पूजा में विविध सामग्री अर्पित करने वालों के प्रति वह समभाव रखता, किसी पर क्रोध न करता।

दूध घृतादि की गन्ध से वहाँ असंख्य वज्रमुखी चींटियाँ आ गईं। उन्होंने घायल सर्प को नोंच-नोंचकर खाना शुरू कर दिया। चण्डकौशिक को भीषण वेदना हो रही थी, परन्तु वह अब पूर्णरूप से शान्त हो चुका था। उसने अनशन ग्रहण कर लिया, मासार्द्ध के संलेखना-व्रत को धारण कर अन्त समय समाधिभाव से देह का विसर्जन कर सहस्रार नामक देवलोक में देवरूप से उत्पन्न हुआ। चण्डकौशिक का यह कथानक आवश्यक नियुक्ति (468), आवश्यक चूर्णि (भाग 1 पृ. 278-279), कल्पसूत्र की वृत्ति (पृ. 162) आदि में उपलब्ध होती है।

अध्याय 7

समाधिमरण की अवधारणा की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उपादेयता

एक ओर, जहाँ जैन-धर्म में समाधिमरण की परम्परा वर्तमान युग तक जीवित है, वहाँ दूसरी ओर से आत्महत्या अथवा प्रायोजित हत्या का रूप देकर उसके विरुद्ध भी बहुत कुछ जहर उगला जाता है। विगत वर्षों में समाचार-पत्रों में इस प्रकार के अनेक प्रकरण उछाले गए हैं और न्यायालयों में तत्सम्बन्धी वाद भी प्रस्तुत किए गए हैं, अतः आज यह प्रश्न पुनः विचारणीय हो गया है कि समाधिमरण को आत्महत्या या हत्या माना जाए अथवा उसे एक आध्यात्मिक-साधना के रूप में स्वीकार किया जाए।

यह सत्य है कि जन्म के साथ मृत्यु की अपरिहार्यता रही हुई है। 'जातस्य ध्रुवो मृत्यु' – यह महावाक्य इसका प्रमाण है, जो मृत्यु की इस अपरिहार्यता को ही सिद्ध करता है, किन्तु फिर भी यह प्रश्न तो खड़ा हुआ ही है— क्या मनुष्य को जीने के समान 'मरने' का भी अधिकार है? क्या आत्महत्या वैधानिक है?

प्राचीन भारतीय-परम्पराएँ और आधुनिक विधिशास्त्र इस बात को तो सर्वसम्मति से स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति को जीवन जीने का अधिकार है। जैन-परम्परा ने भी इस बात को प्रारम्भ से ही स्वीकार किया है कि सभी जीव जीना चाहते हैं, किन्तु कोई भी मरना नहीं चाहता,¹ अतः जीने का अधिकार तो सामान्य रूप से मान्य किया जाता रहा है किन्तु मरने का अधिकार सामान्य रूप से मान्य नहीं रहा है और यही कारण है कि प्राचीनकाल में और आज भी विधिशास्त्र आत्महत्या को एक अपराध के रूप में ही देखते हैं। जैन-परम्परा में भी प्राचीनकाल से आत्महत्या को धर्मविरुद्ध ही माना है और इसलिए वह आत्महत्या का निषेध भी करती है। यहाँ यह विचारणीय बिन्दु है कि क्या समाधिमरण आत्महत्या है? इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम तुलनात्मक-दृष्टि से समाधिमरण और आत्महत्या के अन्तर को सम्यक् प्रकार से समझ लिया जाए।

¹ सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं।

तम्हा पाण वहं घोरं निग्गन्था वज्जयंति णं ॥ — दशैकालिक 6/11

1. आत्महत्या में मृत्यु को निमंत्रण दिया जाता है, जबकि समाधिमरण में मृत्यु को निमंत्रण नहीं देकर, मृत्यु को जीवन की दहलीज पर दस्तक देते हुए देखकर उसका स्वागत किया जाता है।
2. आत्महत्या में मरने की इच्छा होती है, जबकि समाधिमरण में न तो जीने की आकांक्षा होती है, न मरने की इच्छा ही होती है।
3. आत्महत्या स्वस्थ और जीवन जीने में समर्थ व्यक्ति भी कर लेता है, जबकि समाधिमरण ग्रहण करने का अधिकार केवल उसी व्यक्ति को होता है, जिसके लिए मृत्यु निकट भविष्य में ही अपरिहार्य बन गई है।

जैन-धर्म के अनुसार व्यक्ति को समाधिमरण ग्रहण करने का अधिकार तभी होता है, जब वह अतिवृद्ध हो गया हो, जीवन के स्वकर्तव्यों एवं दायित्वों के पालन में असमर्थ हो गया हो तथा दूसरे लोगों पर भारभूत हो गया हो। इस प्रकार समाधिमरण में विशिष्ट परिस्थिति में ही मृत्यु को स्वीकार करने का अधिकार माना जाता है, जबकि आत्महत्या में इस प्रकार की कोई बाध्यता नहीं होती। व्यक्ति जीवन में उद्विग्न होकर कभी भी किन्हीं भी परिस्थितियों में आत्महत्या कर लेता है।

समाधिमरण शान्तचित्त से और समभावपूर्वक ही ग्रहण किया जाता है, जबकि आत्महत्या उद्विग्नतापूर्वक तथा राग-द्वेष के भावपूर्वक होती है। समाधिमरण नैतिक-मूल्यों के या सम्यक्-चारित्र के संरक्षण के लिए ही किया जा सकता है, जबकि आत्महत्या भोगाकांक्षा में भी कर ली जाती है। अक्सर हम देखते हैं कि प्रेमी या प्रेमिका अपने प्रयत्नों में असफल होने पर आत्महत्या कर लेते हैं। इस प्रकार समाधिमरण में नैतिक और चारित्रिक-मूल्यों का संरक्षण ही मुख्य होता है, जबकि आत्महत्या के पीछे भोगाकांक्षा ही प्रबल होती है।

4. समाधिमरण किन परिस्थितियों में किया जा सकता है, इसे स्पष्ट करते हुए 'रत्नकरंडक-श्रावकाचार' में कहा गया है कि (i) जब किसी के द्वारा दिए गए उपसर्ग में जब मृत्यु अपरिहार्य हो गई हो, अथवा (ii) दुर्भिक्ष की स्थिति में जब नैतिक-मूल्यों का अपलाप किए बिना जीवन जीना संभव न हो, या भूख आदि के कारण मृत्यु अपरिहार्य बन गई हो, (iii) अत्यधिक वृद्धावस्था में जब मृत्यु अति सन्निकट दिखाई दे रही हो, अथवा बीमारी की स्थिति में जब मृत्यु निकट भविष्य में ही उपस्थित होने वाली हो, तब ही आध्यात्मिक-मूल्यों के संरक्षण के लिए देहासक्ति से ऊपर उठकर समाधिमरण ग्रहण किया जा सकता है।
5. आत्महत्या जीवन से ऊबकर की जाती है, जबकि समाधिमरण चित्त की विकलता को समाप्त करके सहज भाव से, उपस्थित मृत्यु को स्वीकार करने के लिए किया जाता है।
6. आत्महत्या में किसी-न-किसी प्रकार की कामना रही होती है, चाहे वह स्वर्ग की प्राप्ति की हो, या स्वर्ग में प्रिय के मिलन की अपेक्षा से हो, जबकि समाधिमरण निष्काम-भाव से किया जाता है, उसमें किसी भी प्रकार की

आकांक्षा या अपेक्षा नहीं रखी जाती। आकांक्षा को समाधिमरण का दोष माना गया है।

आत्महत्या में देहासक्ति समाप्त नहीं होती, मात्र वर्तमान देह के त्याग का प्रयत्न होता है, जबकि समाधिमरण में देहासक्ति का त्याग ही प्रधान माना गया है। वह शरीर के प्रति निर्ममत्व की साधना से युक्त है।

7. समाधिमरण का साधक यह मानता है कि मैंने इस शरीर का जीवन भर पोषण किया है, किन्तु फिर भी यह अब मेरे लिए उपयोगी नहीं रह गया, अतः वह केवल देह के ममत्व का त्याग करता है। आत्महत्या में मृत्यु की आकांक्षा होती है, जबकि समाधिमरण में किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं होती। समाधिमरण का साधक यह सोचता है कि शरीर स्वभावतः मरणधर्मा है, अतः यह रहे या जाए, मुझे अपनी आध्यात्मिक-साधना में इसे बाधक नहीं बनने देना है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि समाधिमरण और आत्महत्या — दोनों अलग-अलग हैं। आत्महत्या करने वाला व्यक्ति यह मानता है कि जैसे उसे जीवन जीने का अधिकार है, उसी प्रकार उसे मरण का भी अधिकार प्राप्त है, जबकि समाधिमरण में मरने के अधिकार की बात नहीं है, वहाँ तो सामने उपस्थित मृत्यु का समभावपूर्वक स्वागत करना ही है। उसमें मृत्यु की चाह नहीं होती, मात्र उपस्थित मृत्यु का स्वागत होता है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि समाधिमरण और आत्महत्या में बहुत अन्तर है। समाधिमरण में मरने की आकांक्षा नहीं, मात्र मृत्यु की उपस्थिति पर समभावपूर्वक शरीर के ममत्व से ऊपर उठा जाता है। वह मात्र देहासक्ति का त्याग है, उसमें मृत्यु की कामना नहीं है।

इस दृष्टि से विचार करने पर हमें यह सोचना होगा कि यदि ममत्व के त्याग का अधिकार, अर्थात् किसी को 'अपना' और किसी को 'पराया' बनाने का अधिकार व्यक्ति के पास है, तो देहासक्ति के त्याग का अधिकार भी व्यक्ति के पास है। किसी वस्तु पर आसक्ति रखना या न रखना, यह यदि व्यक्ति के अधिकार में है, तो फिर हमें यह मानना होगा कि व्यक्ति को देहासक्ति के त्याग का भी अधिकार है। लगभग सभी भारतीय-धर्मदर्शनों ने आसक्ति के त्याग का निर्देश दिया है, अतः शरीर के प्रति आसक्ति का त्याग भी व्यक्ति का अपना स्वतन्त्र अधिकार है। दूसरे, यदि हम ऐसा मानते हैं कि व्यक्ति को नैतिक और आध्यात्मिक-मूल्यों का संरक्षण करना है, तो ऐसी स्थिति में हमें यह भी मानना होगा कि नैतिक और आध्यात्मिक-मूल्यों के संरक्षण में यदि देह का विसर्जन होता है, तो भी हमें उन मूल्यों का संरक्षण करना चाहिए। इस प्रकार, हमें यह मानना होगा कि यदि जीवन जीने का अधिकार एक मौलिक-अधिकार है तो फिर आध्यात्मिक-मूल्यों के संरक्षण के लिए जैविक-मूल्यों का त्याग या विसर्जन करना भी व्यक्ति के अधिकार क्षेत्र में है।

समाधिमरण सतीप्रथा से भिन्न है

सम्प्रति, अनेक लोगों ने यह प्रश्न भी उठाया है कि यदि सतीप्रथा और जौहर आत्महत्या या हत्या के ही प्रकारान्तर हैं; तो फिर हमें समाधिमरण को भी आत्महत्या का ही एक रूप मानना होगा,

किन्तु उनका यह सोच उचित नहीं है, क्योंकि इन दोनों ही स्थितियों में तात्कालिक—रूप से मृत्यु को निमंत्रण दिया जाता है, जबकि समाधिमरण में मृत्यु को निमंत्रण नहीं दिया जाता, अपितु उपस्थित मृत्यु का स्वागत किया जाता है। यदि जीवन जीने के साधनों का अपनी इच्छानुसार उपयोग करने का व्यक्ति को अधिकार है, तो फिर हमें यह भी मानना होगा कि उन साधनों के उपयोग नहीं करने में भी व्यक्ति स्वतन्त्र है और यह स्वतन्त्रता ही समाधिमरण का अधिकार प्रदान करती है।

करुणामृत्यु और समाधिमरण

वर्तमान युग में करुणा—मृत्यु की बात प्रमुख रूप से चर्चित है। क्या अत्यधिक कष्टमय जीवन जीने के लिए व्यक्ति को विवश किया जा सकता है? कोई भी समझदार व्यक्ति यह नहीं कहेगा कि व्यक्ति को अत्यधिक कष्ट भोगने के लिए विवश किया जाए, हम देखते हैं कि आधुनिक युग में ही महात्मा गाँधी ने अत्यधिक देहिक—पीड़ा को भोग रहे एक बछड़े को गोली मरवाकर पीड़ा से मुक्ति दिलायी, यह ठीक है कि कोई भी प्राणी सामान्य स्थिति में मरना नहीं चाहता, किन्तु जब मृत्यु अपरिहार्य बन गई हो और जीवन अत्यधिक कष्टमय बन गया हो, तो क्या उस कष्ट से मुक्ति पाने का अधिकार व्यक्ति के पास नहीं होना चाहिए ? यदि हम जीवन जीने की इच्छा के आधार पर जीने के अधिकार को मान्यता देते हैं; तो हमें दुःख से मुक्ति पाने की हर प्राणी की इच्छा को प्रधानता देकर यह भी मानना होगा कि विशेष परिस्थितियों में उसे देहत्याग का अधिकार भी मिलना चाहिए। क्या यातनामय जीवन जीने के लिए मनुष्य को विवश किया जा सकता है? यदि ऐसा नहीं है, तो फिर व्यक्ति को अति पीड़ाजनक स्थिति में अपने शरीर को छोड़ने का अधिकार मिलना चाहिए।

इस सम्बन्ध में प्रोफेसर रज्जनकुमार¹ का कथन है कि “एक दुःखी एवं असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्ति को सुखमय मृत्यु अथवा कष्टप्रद जीवन में से किसी एक को चयन करने का अधिकार मिलना ही चाहिए। यदि वर्तमान का औषधि—विज्ञान भी रोगी की सहायता करने में अक्षम हो एवं रोगी की मृत्यु होना निश्चित है, तो व्यक्ति को कष्टपूर्वक मरते हुए देखने का क्या औचित्य है ? ऐसे रोगग्रस्त व्यक्तियों को स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण करने का अधिकार मिलना ही चाहिए और यह उचित भी है, किन्तु इसके विरोध में यह भी कहा जा सकता है कि एक ओर कैंसर तथा इसी तरह के अन्य असाध्य रोगों के निवारण की दिशा में शोधकार्य चल रहे हैं तथा मानव के मन में आशा की ज्योति प्रज्ज्वलित करने के प्रयास किए जा रहे हैं, तो फिर स्वेच्छा से मृत्युवरण सदृश कुण्ठित विचारधाराओं को प्रोत्साहन देने का कोई औचित्य नहीं है, किन्तु जब तक उन असाध्य रोगों के निवारण को सुनिश्चित नहीं कर दिया जाता है और मृत्यु की अपरिहार्यता को समाप्त नहीं कर दिया जाता है, तब तक रोग की असाध्यता और मृत्यु की निकट भविष्य में अपरिहार्यता की स्थिति में समाधिमरण का अधिकार मान्य करना होगा।

दूसरे, यदि हम यह मानते हैं कि व्यक्ति को सम्पत्ति के उपयोग का और उसके त्याग का — दोनों ही अधिकार हैं, तो फिर हमें यह मानना होगा कि शरीर भी व्यक्ति की सम्पत्ति ही है।

अतः उसके उपयोग और संरक्षण के समान ही उसके त्याग का भी अधिकार व्यक्ति को

¹ समाधिमरण — रज्जनकुमार, पृ.

प्राप्त होना चाहिए। यदि व्यक्ति अपने शरीर के अनुचित उपयोग के कारण दोषी माना जाता है, तो उसे उसके सम्यक् उपयोग के लिए प्रशंसित भी किया जाना चाहिये। जैन-धर्म-दर्शन यह तो नहीं कहता है कि कोई भी व्यक्ति दुःखों या कष्टों से ऊबकर अपनी आत्महत्या कर ले। किन्तु वह इतना अवश्य मानता है कि यदि मृत्यु अपरिहार्य रूप से द्वार पर दस्तक दे रही है, तो उससे भागने या लुकाछिपी करने का प्रयत्न भी एक कायरतापूर्ण स्थिति होगी, अतः जीवन के द्वार पर दस्तक दे रही मृत्यु का समभावपूर्वक स्वागत करना — यह एक वीरतापूर्ण कार्य ही माना जाना चाहिए। यदि शरीर को अधिक समय तक जीवित रखा जा सकता है, तो हमें यह अधिकार है कि हम उसका संरक्षण करें, किन्तु यदि मृत्यु सन्निकट और अपरिहार्य बन गई है, तो फिर उस मृत्यु से लुकाछिपी खेलने का हमें अधिकार नहीं। उस स्थिति में, देह के ममत्व से ऊपर उठना ही होगा। समाधिमरण अन्य कुछ नहीं, मृत्यु की अपरिहार्य उपस्थिति में समभावपूर्वक उसका स्वागत करना है और यह उचित है।

समाधिमरण की प्रासंगिकता

यह सत्य है कि अज्ञात अतीत से लेकर आज तक मानव-जीवन मृत्यु की गोद में समाता रहा है। जन्म के साथ मृत्यु की अपरिहार्यता कोई भी अस्वीकार नहीं करता। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि यदि जन्म मिला है, तो मृत्यु अवश्य आएगी, किन्तु इस अपरिहार्य सत्य को मानव सहजतापूर्वक आत्मसात् नहीं कर सका है। मृत्यु को उपस्थित देखकर न केवल व्यक्ति स्वयं, अपितु उसके परिजन भी विचलित हो उठते हैं। मृत्यु की अपरिहार्यता को स्वीकार करते हुए भी मानव-जाति सदैव उससे भयभीत बनी रही है और व्यक्ति सदैव ही उसके साथ लुकाछिपी का खेल-खेलता रहा है। जिस प्रकार मानव-शिशु का जन्म आनन्द और उल्लास का विषय बना रहा है, उसी प्रकार मृत्यु को मानव जाति कभी भी आनन्द और उल्लास का विषय नहीं बना पायी, हम मृत्यु की अपरिहार्यता के सत्य को नकारते ही रहे हैं, इसका मूलभूत कारण व्यक्ति की संसार के भोगों के प्रति आसक्ति ही माना जा सकता है। समाधिमरण मृत्यु को वह कला सिखाता है, जिसमें मृत्यु को उत्सव बनाया जा सकता है। यदि मारना ही है, तो फिर रो-रोकर क्यों मरा जाय?

वस्तुतः, हम मृत्यु के सत्य को नकारने का ही प्रयत्न करते रहे हैं। समाधिमरण वस्तुतः उस कला को सिखाता है, जिससे व्यक्ति में मृत्यु का साहसपूर्वक सामना करना आ जाता है। संक्षेप में कहें, तो समाधिमरण वस्तुतः अनासक्त जीवन-शैली का ही नाम है। यदि आज हम मानव-जाति की पीड़ा को समझने का प्रयत्न करें, तो एक ही सत्य हमारे सामने प्रकट होता है कि मनुष्य की भोगाकांक्षा और तृष्णा ही उसके सम्पूर्ण दुःखों का कारण है। वस्तुतः, इसका भी मूल कारण व्यक्ति की नासमझी ही माना जा सकता है। यह सत्य को नकारने का प्रयत्न ही है, जिसे जैन-दर्शन में मिथ्या दृष्टिकोण कहा गया है। मनुष्य दो तथ्यों को ईमानदारी से स्वीकार नहीं कर रहा है। एक तो यह कि जहाँ जन्म है, वहाँ मृत्यु अपरिहार्य है और दूसरे, व्यक्ति जिन संयोगों को अपना मान रहा है, उनका वियोग अपरिहार्य है। सही समझ यह कहती है कि जो छूटने वाला है, या जिसे छोड़ना पड़ेगा, अर्थात् जिसका वियोग निश्चित है, उस पर ममत्व का आरोपण क्यों किया जाए? मनुष्य का दुर्भाग्य यह है कि वह, जो वियोगधर्मा है, उसे अपना मानकर पकड़कर रखना चाहता है।

हम न केवल बाह्यपदार्थों को, अपितु इस शरीर को, भी पकड़कर रखना चाहते हैं, जो स्वरूपतः नश्वर है और उसका अन्त अपरिहार्य है। मृत्यु के भय या दुःख का कारण भी यही रहा है।

समाधिमरण की अवधारणा वस्तुतः हमें यह सिखाती है कि हम मृत्यु की या वियोग की इस अपरिहार्य सत्यता को समझकर उसे स्वीकार करें।

इस प्रकार, हम यह कह सकते हैं कि जैन-धर्म में समाधिमरण की जो अवधारणा है, वह मृत्यु की अपरिहार्यता को और संयोगों के वियोग को समझने के लिए और आत्मसात् करने के लिए है, यदि संयोगों का वियोग अपरिहार्य है, तो वियोग के अवसर की उपस्थिति में व्यक्ति को वियोग की अपरिहार्य सत्यता को समझना और स्वीकार करना होगा। जैन-दर्शन की समाधिमरण की अवधारणा इसी सत्य का संकेत करती है और वह मृत्यु या वियोग के क्षणों में भी हमें अविचलित रहने का संदेश देती है तथा यही उसकी प्रासंगिकता है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यदि हम विचार करें, तो यह सत्य है कि आज मानव-समाज में उपभोक्तावादी-संस्कृति का विकास हुआ है और मनुष्य भोग के साधनों पर अपना अधिकार जमाने के लिए सतत रूप से प्रयत्नशील बना हुआ है। मानव की यही सोच परस्पर संघर्ष को जन्म दे रही है। आज मानव-जाति में सहयोग और समर्पण की वृत्ति समाप्त हो चुकी है। मनुष्य यह समझ रहा है कि मृत्यु को आना ही नहीं है। यदि उसे मृत्यु की अपरिहार्यता समझ में आ जाए, तो उसकी भोगासक्ति या ममत्ववृत्ति पर विराम लग सकता है, इस सम्बन्ध में कल्पसूत्र की टीका में एक कहानी आती है, जो इस प्रकार है-

जैन आगमों में उल्लेख मिलता है कि चक्रवर्ती भरत घर में ही वैरागी थे, कीचड़ में कमल की तरह निर्लिप्त निसंग थे, सम्यग्दृष्टि थे, परमात्मा के परम भक्त थे। प्रतिदिन देवपूजा, गुरुउपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान - सभी का पालन करते थे।

चक्रवर्ती भरत के जीवन की एक घटना है कि एक दिन विप्रदेव ने उनसे पूछा- 'महाराज! आप वैरागी हैं, तो फिर महल में क्यों रहते हैं? और चूंकि आप महल में रहते हैं, तो वैरागी कैसे? माया के मध्य रहते हुए आप किस तरह वैरागी हैं? क्या आपके मन में कोई पाप, विकार और वासना के भाव नहीं आते?' चक्रवर्ती भरत ने कहा- "विप्रदेव! तुम्हें इसका समाधान मिलेगा, किन्तु पहले तुम्हें एक कार्य करना होगा।" जिज्ञासु ने कहा- कहिए महाराज! आज्ञा दीजिए। हम तो आपके सेवक हैं और आपकी आज्ञा का पालन करना हमारा कर्तव्य है।"

भरत ने कहा- "यह पकड़ो तेल से लबालब भरा कटोरा। इसे लेकर तुम्हें मेरे अन्तःपुर में जाना है, जहाँ मेरी अनेक रानियाँ, जो सज-धजकर तैयार मिलेंगी, उन्हें देखकर आओ और बताओ कि मेरी सबसे सुन्दर रानी कौन-सी है?"

भरत की इस बात को सुनकर जिज्ञासु बोला- "महाराज! आपकी आज्ञा का पालन अभी करता हूँ। अभी गया और अभी आया।" तब भरत बोले- "भाई! इतनी जल्दी न करो। पहले पूरी बातें सुन लो। तुम्हें मेरे अन्तःपुर में जाना है - यह पहली शर्त है। तुम्हें सबसे अच्छी रानी का पता लगाना है - यह दूसरी शर्त है। लबालब तेल से भरा यह कटोरा हाथ में ही रखना है - यह तीसरी शर्त है। तुम्हारे पीछे दो सैनिक नंगी तलवारें लेकर चलेंगे और यदि रास्ते में तेल की एक बूंद भी गिर गई, तो उसी क्षण ये सैनिक तुम्हारी गर्दन धड़ से अलग कर देंगे - ये है चौथी

शर्त।" वह व्यक्ति चला, हाथ में कटोरा है और पूरा ध्यान कटोरे पर। एक-एक कदम फूँक-फूँक कर रख रहा है। अन्तःपुर में प्रवेश करता है। दोनों तरफ रूपसी रानियाँ खड़ी हैं। पूरे महल में मानो सौन्दर्य छिटका हुआ है। कहीं संगीत, तो कहीं नृत्य चल रहा है, लेकिन उसका ध्यान कटोरे पर अचल है। वह चलता गया, बढ़ता गया और देखते-ही-देखते पूरे अन्तःपुर की परिक्रमा लगाकर चक्रवर्ती भरत के पास वापस आ पहुँचा। वह पसीने से तर-बतर था, बड़ी तेजी से हाँफ रहा था। चक्रवर्ती भरत ने पूछा— "बताओ मेरी सबसे सुन्दर रानी कौन सी है?" जिज्ञासु बोला— "महाराज आप रानी की बात पूछ रहे हैं? कौसी रानी ? कहाँ की रानी ? किसकी रानी ? मुझे कोई रानी नहीं दिखाई दे रही थी। मुझे तो कटोरे में अपनी मौत दिखाई दे रही थी। सैनिकों की चमचमाती नंगी तलवारें दिख रही थीं।

वत्स! बस, यही तुम्हारी जिज्ञासा का समाधान है, तुम्हारे सवाल का जवाब है। जैसे तुम्हें अपनी मौत दिख रही थी, रानियाँ नहीं, रानियों का रूप-रंग सौन्दर्य नहीं और इस बीच रूपसी रानियों को देखकर तुम्हारे मन में कोई पाप या विकार नहीं उठा, वैसे ही मैं भी हर पल अपनी मृत्यु को देखता हूँ। मुझे हर पल मृत्यु की पदचाप सुनाई देती है और इसलिए मैं इस संसार की वासनाओं के कीचड़ से ऊपर उठकर कमल की तरह खिला रहता हूँ, राग-रंग में भी वैराग की चादर ओढ़े रहता हूँ। इसी कारण मुझे माया प्रभावित नहीं कर पाती। जीवन की चादर को साफ, स्वच्छ और ज्यों-की-त्यों रखना है, तो इसके लिए एक ही सूत्र है और वह है— मृत्युबोध और इसी अनासक्त या निष्काम जीवन-शैली के विकास से आधुनिक विश्व की समस्याओं से मुक्ति सम्भव है। आज मनुष्य मृत्यु को भुला बैठा है। वह अपनी सारी योजनाएँ इस प्रकार बनाता है कि वह अजर-अमर है। भोगाकांक्षा और तृष्णा का विकास इसी गलत अवधारणा से होता है। समाधिमरण की अवधारणा हमें 'मृत्यु' की सत्यता के प्रति सजग करती है। इस प्रकार, समाधिमरण की साधना, अर्थात् मृत्यु का सजगतापूर्वक स्मरण वैश्विक-समस्याओं के निराकरण में आज भी प्रासंगिक है।

भोग के साधनों की आपाधापी की जो प्रक्रिया आज मानव-जाति में चल रही है, उसके कारण मानव अशान्त बना हुआ है। मानव का यह अशान्त रहना ही समाधिमरण की अवधारणा की प्रासंगिकता को सिद्ध करता है। समाधिमरण की अवधारणा हमें यह बताती है कि जो छूटने वाला है, जिसका वियोग निश्चित है, उसके लिए इतना विकल होने की क्या आवश्यकता है ? यदि समाधिमरण के सिद्धान्त के माध्यम से मानव-जाति इस सत्य को समझ ले कि संयोगों का वियोग आवश्यक है और जिनका वियोग अपरिहार्य है, उन पर ममत्व का आरोपण अनुचित है, तो वर्तमान में भोग के साधनों पर अधिकार जमाने की जो आपाधापी चल रही है, वह समाप्त हो सकती है और यही समाधिमरण की अवधारणा की प्रासंगिकता होगी।

समाधिमरण की अवधारणा हमें यही सिखाती है कि हम संयोगों के वियोग की अपरिहार्यता के इस सत्य को समझें और जीवन में उस सामान्य सिद्धान्त को स्वीकार करें कि चाहे सुख हो या दुःख, कोई भी स्थाई नहीं है, ऐसी स्थिति में हमें भोगों के साधनों की उपलब्धि में न तो अहंकार होगा और न संयोगों के वियोग में विकलता होगी। यदि जीवन में सुख और दुःख—दोनों ही स्थाई नहीं रहने वाले हैं, तो हम फिर अनुकूल संयोगों की उपलब्धि में उन्मत्त क्यों बनें ? और प्रतिकूल संयोगों की स्थिति में व्याकुल क्यों बनें ? समाधिमरण इसी सत्य को उजागर करता है। यही उसकी उपादेयता है।

जैन-धर्म की समाधिमरण की अवधारणा, जिसका समग्रता से प्रतिपादन प्राचीनाचार्य विरचित आराधना-पताका में हुआ है, वह हमें यह सिखाती है कि जीवन और मरण—दोनों ही स्थितियों में हम अपनी चित्तवृत्ति का समत्व बनाए रखें तथा मृत्यु के इस सत्य को सहजता से स्वीकार करने का प्रयत्न करें, ताकि मृत्यु भी एक महोत्सव बन सके।

समाधिमरण की अवधारणा हमें यही सिखाती है कि यदि मृत्यु अपरिहार्य है, तो फिर इसे सम्मुख देखकर विचलित होने की क्या आवश्यकता है? वह तो शरीरजन्य दुःख और पीड़ाओं से मुक्ति का अवसर है और अनासक्त साधक के लिए शरीर के इस पिंजरे से उन्मुक्त होकर उड़ जाना है, वह तो शरीर की कैद से मुक्ति का या स्वतंत्र होने का पावन प्रसंग है, फिर उसके लिए दुःख और विकलता क्यों? इस प्रकार, हम देखते हैं कि समाधिमरण की अवधारणा मनुष्य को एक सम्यक् समझ प्रदान करती है, और मृत्यु को भी एक महोत्सव के रूप में परिणत कर देती है। उसकी यह प्रासंगिकता एक त्रैकालिक सत्य है।

समाधिमरण आत्महत्या नहीं है

जैन-धर्म में सामान्यता समाधिमरण केवल उसी स्थिति में ग्रहण किया जा सकता है, जब वृद्धावस्था में देह के पूर्ण रूप से अक्षम हो जाने पर तथा मृत्यु की सन्निकट उपस्थिति प्रतीत हो। सामान्यतया, इस अवस्था में अनशनपूर्वक देहत्याग किया जाता है, अतः समाधिमरण आत्महत्या से भिन्न है। समाधिमरण का दूसरा विकल्प यह है कि जब व्यक्ति को यह लगे कि उसके प्राण संकट में हैं और दूसरों के द्वारा वह तात्कालिक रूप से मारा जा सकता है और उसके जीवित बचने की सम्भावनाएं प्रायः समाप्त हो चुकी हों, ऐसी स्थिति में वह सागारी-समाधिमरण स्वीकार कर सकता है इसे 'आतुर प्रत्याख्यान' भी कहा गया है, किन्तु इस स्थिति में समाधिमरण के साधक को यह अधिकार होता है कि यदि वह प्राणघातक स्थिति से बच जाता है, तो उसे पुनः सामान्य जीवन जीने का अधिकार प्राप्त होता है। यह आपवादिक-स्थिति में लिए गए समाधिमरण की स्थिति का सूचक है। जैन-परम्परा में अंतकृतदशा-आगम में सेठ सुदर्शन द्वारा इस प्रकार से समाधिमरण ग्रहण करने का उल्लेख है।

सामान्यतया जैन परम्परा में अग्निप्रवेश, गिरिपतन, विषभक्षण आदि के द्वारा समाधिमरण प्राप्त करने को उचित नहीं माना गया है। जैन-परम्परा के अनेक ग्रन्थों में इसकी आलोचना की गई है, किन्तु विशेष परिस्थितियों में इस प्रकार से भी समाधिमरण किया जा सकता है, जैसे— जब किसी स्त्री को शीलभंग की अवस्था से अपरिहार्य रूप से गुजरना पड़े, तो वह अपने शील की रक्षा के लिए शस्त्रघात, विषभक्षण आदि के माध्यम से भी देहत्याग कर सकती है। इसका उदाहरण है— चन्दना की माता, दधिवान की पत्नी धारणी। दूसरे, जब किसी व्यक्ति को अपमान की पराकाष्ठा के साथ गुलाम होकर अनैतिक कार्यों को करने के लिए विवश किया जाए, तो वह धर्मभ्रष्टता से बचने के लिए अपने प्राण उत्सर्ग कर सकता है।

संक्षेप में कहें, तो जब नैतिक और आध्यात्मिक-मूल्यों एवं जीवन-रक्षण में केवल एक की ही संभावना हो, तो ऐसी स्थिति में आध्यात्मिक, नैतिक और धार्मिक-मूल्यों के संरक्षण के लिए देहत्याग किया जा सकता है। सामान्यतया, जैन-परम्परा में सती-प्रथा और जौहर का समर्थन नहीं देखा जाता, किन्तु यदि चारित्रिक-मूल्यों के संरक्षण के लिए यदि कोई स्त्री ऐसा करती है, तो उसे अनुचित भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि जैन-धर्म में चारित्रिक, नैतिक, धार्मिक और

आध्यात्मिक—मूल्यों का संरक्षण, शरीर के संरक्षण की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण माना गया है, अतः समाधिमरण आत्महत्या से भिन्न है।

मरणदान

सामान्यतया, जैन—दर्शन में अभयदान या जीवनदान की बात विशेष रूप से प्रचलित रही है। उसका अहिंसा का सिद्धान्त इस बात का समर्थक है। जीवन का रक्षण आवश्यक माना गया है, किन्तु क्या विशेष परिस्थितियों में मृत्यु—दान भी किया जा सकता है? यह प्रश्न जैन—चिन्तकों की दृष्टि में सामान्यतया विवादास्पद ही रहा है। यदि हम किसी को जीवित नहीं कर सकते, तो हमें किसी को मारने का अधिकार भी नहीं है, किन्तु वर्तमान समय में मृत्युदान नैतिक—दृष्टि से एक विचारणीय प्रश्न बना हुआ है। मृत्यु के अभिमुख असह्य वेदना से पीड़ित व्यक्ति को क्या मृत्युदान दिया जा सकता है ? सामान्यतया, यदि व्यक्ति स्वयं मृत्यु नहीं चाहता है, तो ऐसी स्थिति में उसे मारने का किसी को अधिकार नहीं है। महात्मा गाँधी ने जीवननाशक रोग से पीड़ित एवं असह्य वेदना से ग्रसित बछड़े को मृत्युदान दिया था, किन्तु जैन—विचारकों ने उसकी आलोचना ही की। पशु किस स्थिति में अपनी मृत्यु चाहता है, या नहीं चाहता है, यह निर्णय करने का अधिकार व्यक्ति के पास नहीं है, किन्तु जहाँ तक मनुष्य का प्रश्न है, अनेक बार ऐसी समस्याएँ आती हैं कि व्यक्ति स्वेच्छा से मृत्यु चाहता है। मरणांतक असह्य वेदना से पीड़ित व्यक्ति यदि स्व—इच्छा से बिना दबाव के मृत्यु चाहता है तो क्या उसे मरणदान दिया जा सकता है ?

विश्व में आज ऐसे अनेक उदाहरण सुनने में या पढ़ने में आते हैं; जहाँ व्यक्ति असह्य वेदना से पीड़ित होकर अपनी मृत्यु की इच्छा प्रकट करता है और डॉक्टर आदि से मृत्युदान की अपेक्षा करता है। इस स्थिति में, डॉक्टर या चिकित्सक का भी क्या दायित्व है? यह भी एक विचारणीय विषय बना हुआ है। इस सन्दर्भ में अभी अनेक विवादिक—स्थितियाँ बनी हुई हैं। इस स्थिति में जैन—दर्शन का कहना तो यही है कि व्यक्ति को इन कठिन परिस्थितियों में समभावपूर्वक मृत्यु की प्रतीक्षा ही करना चाहिए, किन्तु यदि चित्तवृत्ति का समत्व विचलित होता हो और चित्त में संक्लेश उत्पन्न होता हो, तो ऐसी स्थिति में तात्कालिक रूप से मृत्यु को स्वीकार भी किया जा सकता है। यद्यपि इस सन्दर्भ में हमें जैन—ग्रन्थों में कोई उदाहरण नहीं मिलता है, किन्तु बौद्ध और हिन्दू—साहित्य ग्रन्थों में इस प्रकार की स्थिति में शस्त्रघात, विष—प्रयोग आदि के माध्यम से देहत्याग का समर्थन किया गया है।

इस सन्दर्भ में डॉ. रज्जनकुमार का यह कहना है कि मृत्युदान की इस चर्चा का यही निष्कर्ष निकलता है कि अनिवार्य तथा असाध्य, असह्य वेदना से पीड़ित व्यक्ति को उसकी वेदना से मुक्ति दिलाने वाला तथा उस वेदना से मुक्ति पाने वाला अपराधी नहीं है। इस तरह का मरणदान पाने वाला व्यक्ति मृत्युदान के लिए स्वतंत्र है, किन्तु इसके ठीक विपरीत, जैन—आचार्य महाप्रज्ञ का यह मानना है कि पहाड़ से लुढ़ककर, जल में डूबकर, आग में जलकर, फांसी के फन्दों पर झूलकर व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है, इस विधि से प्राप्त मरण कभी भी इष्ट नहीं होता, क्योंकि इसके पीछे भावना समीचीन नहीं होती, आवेग और उत्तेजना से युक्त होने के कारण यह व्यक्ति और समाज—दोनों के लिए अहितकर है। वर्तमान समय में ऐच्छिक—मृत्युवरण के क्षेत्र में अनेक प्रश्न उठ खड़े हुए हैं। पहला प्रश्न है—आत्महत्या का, दूसरा—सती होने का, तीसरा—राजनीतिक—स्तर पर अनशन का और चौथा—धार्मिक स्तर पर अनशन का। मरणात्मक—घटना इन सबमें समान है,

किन्तु क्या उद्देश्य की दृष्टि से भी ये सब समान हैं ? इनकी परीक्षा के लिए सिर्फ एक ही उपाय है। जिस देहत्याग की पृष्ठभूमि में उद्देश्य की पूर्ति प्रधान है और मरण प्रासंगिक है, मन शान्त प्रशान्त और समाधिपूर्ण है, किसी तरह का आवेग, संवेग, उद्वेग, उत्तेजना आदि नहीं है, वह देहत्याग प्रशस्त है और इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है। वे पुनः कहते हैं कि आत्मदाह को भी उक्त कसौटी पर कसें; क्या उसके पीछे रागात्मक और द्वेषात्मक—संवेग जुड़ा हुआ नहीं है ? और यदि नहीं है, तो क्या आत्मदाह की अपेक्षा साधना का सौम्यमार्ग नहीं अपनाया जा सकता है? राजनीतिक—स्तर पर किए जाने वाले अनशन में क्या आत्मशोधन की भावना है ? यदि है, तो उसके उद्देश्य का विचार अपेक्षित है। जिस अनशन में प्रशस्त उद्देश्य और आत्मशुद्धि—दोनों होते हैं, उस अनशन को प्रशस्त माना जा सकता है। यद्यपि भावुकतावश व्यक्ति आत्मदाह या सतीप्रथा तथा धार्मिक—अनशन को एक धरातल पर रखता है, लेकिन इन दोनों को एक ही धरातल पर नहीं रखा जा सकता है।

आगे भी वे कहते हैं कि मृत्युवरण की स्वतन्त्रता के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति आवेश से रहित तथा मृत्युभय से मुक्त रहे। जब तक वह आवेशमुक्त और मृत्युभय से मुक्त नहीं रहता है, तब तक वह मृत्युवरण के स्वतन्त्र नहीं है।

अध्याय 8

उपसंहार

आराधना-पताका जैन-धर्म के समाधिमरण सम्बन्धी साहित्य में एक प्राचीन स्तर का महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। सम्भवतः, समाधिमरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया को सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने वाला श्वेताम्बर-परम्परा का यह प्राचीनतम ग्रन्थ है। यद्यपि इसके पूर्व चन्द्रवेध्यक, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, संस्तारक, मरणसमाधि, मरणविभक्ति आदि ग्रन्थों में समाधिमरण का उल्लेख मिलता है और तत्सम्बन्धी कुछ आदेश और निर्देश भी मिलते हैं, किन्तु ये सभी ग्रन्थ मूलतः उपदेशात्मक-शैली में लिखे गए हैं, इनमें समाधिमरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया और तत्सम्बन्धी विधि-विधान और उनका क्रम आदि की उतनी व्यवस्थित चर्चा नहीं है, जितनी इस आराधना-पताका में है।

श्वेताम्बर आगमों में भी यद्यपि समाधिमरण सम्बन्धी कुछ निर्देश आचारांग के विमोक्ष नामक अष्टम अध्याय में तथा उत्तराध्ययनसूत्र के पाँचवें अध्याय में मिलते हैं, किन्तु ये अति संक्षिप्त हैं। समाधिमरण सम्बन्धी व्यवस्थित ग्रन्थ के रूप में दिगम्बर-परम्परा में जिस प्रकार 'भगवती-आराधना' नामक ग्रन्थ है, उसी प्रकार श्वेताम्बर-परम्परा में प्राचीन आचार्य विरचित आराधना-पताका है, यद्यपि भगवती-आराधना को 'पण्डित नाथूरामजी प्रेमी', डॉ. सागरमल जैन आदि ने श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के मध्यवर्ती अचेल यापनीय-परम्परा का ग्रन्थ माना है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में इस सम्बन्ध में मैंने कोई विशेष चर्चा नहीं की है।

मेरा मानना मात्र इतना है कि समीक्ष्य ग्रन्थ प्राचीनाचार्यकृत आराधनापताका, भगवतीआराधना के समानान्तर श्वेताम्बर-धारा का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में इसे आराधना-भगवती भी कहा गया है। इस आधार पर भगवती-आराधना और आराधना-भगवती में नाम की समरूपता भी प्रतीत होती है, अन्तर मात्र इतना है कि जहाँ भगवती-आराधना में 'भगवती' शब्द आराधना के पूर्व रखा गया है, वहीं प्रस्तुत समीक्ष्य ग्रन्थ को आराधना-भगवती कहकर भगवती शब्द आराधना के बाद रखा गया है। इससे इतना तो अवश्य लगता है कि दोनों ग्रन्थ समानान्तर काल के होंगे।

इन दोनों ग्रन्थों में समाधिमरण की अवधारणा का हमें सुव्यवस्थित विवरण उपलब्ध हो जाता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर-परम्परा में इसी नाम का एक अन्य ग्रन्थ भी है, जो वीरभद्रकृत है तथा दसवीं शती का ग्रन्थ है।

समाधिमरण की अवधारणा जैनों की प्राचीनतम साधनापरक अवधारणाओं में से एक है। भगवान् महावीर के काल से लेकर आज तक जैन-परम्परा में यह अवधारणा या साधना जीवित रही है। इसके साहित्यिक और अभिलेखीय प्रमाण विपुल मात्रा में पाए जाते हैं। न केवल इतना ही, बल्कि जैन-धर्म के अनेक कथानकों में तो भगवान् ऋषभदेव के काल से लेकर भगवान् महावीर के काल तक में अनेक साधकों के समाधिमरण सम्बन्धी अनेक निर्देश प्राप्त हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में हमने इसी समाधिमरण सम्बन्धी साधना-विधि का प्राचीनाचार्यकृत आराधना-पताका के आधार पर विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है और यह बताते हुए कि प्राचीनकाल में समाधिमरण को किस क्रम से और विधि से स्वीकार किया जाता था, इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को हमने सात अध्यायों में विभक्त किया है।

प्रथम 'विषयप्रवेश' नामक अध्याय में हमने समाधिमरण की सामान्य चर्चा करते हुए 'प्राचीनाचार्यकृत आराधना-पताका' के रचनाकाल, कर्ता तथा इसकी विषय-वस्तु की विस्तार से चर्चा की है।

इसमें सर्वप्रथम हमने यह बताया है कि 'प्राचीनाचार्यकृत आराधना-पताका' के कर्ता का कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता है। मात्र इतना माना जा सकता है कि इसकी रचना किसी पूर्वघर प्राचीन आचार्य ने की होगी, पर वे कौन थे ? किस परम्परा के थे ? उनका जन्म कहाँ हुआ था और वे किसके पास दीक्षित हुए थे, इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्देश हमें नहीं मिलता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा और काल के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता अर्द्धमागधी आगम-परम्परा से सम्बन्धित रहे होंगे और उनका काल ईसा की पाँचवीं-छठवीं शताब्दी से सातवीं शताब्दी के बीच कहीं रहा होगा। रचनाकाल के सन्दर्भ में विशेष समीक्षा करते हुए हमने यह पाया है कि जहाँ इसमें एक ओर प्राचीन आगम-ग्रन्थों एवं प्रकीर्णकों की अनेक गाथाएँ मिलती हैं, वहीं दसवीं शताब्दी में रचित वीरभद्र की 'आराधना-पताका' में तथा तेरहवीं शताब्दी में रचित 'प्रवचनसारोद्धार' में भी इसकी अनेको गाथायें यथावत् मिलती हैं। इस आधार पर तथा नन्दीसूत्र में इस ग्रन्थ का उल्लेख नहीं होने के आधार पर इसका काल ईसा की पांचवीं शताब्दी के पश्चात् और दसवीं शताब्दी के पूर्व माना जा सकता है, किन्तु भगवती-आराधना की अपेक्षा इसमें विषयों का विस्तार अल्प होने से तथा परवर्तीकाल में प्रचलित "विजहणाद्धार" आदि का अभाव होने से तथा इसी प्रकार ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में लेखक के नाम, परम्परा आदि का अभाव होने से इसे लगभग छठवीं शताब्दी का ग्रन्थ माना जा सकता है।

जहाँ तक प्रथम अध्याय में वर्णित इसकी विषय-वस्तु की चर्चा का प्रश्न है, हमने यह चर्चा पर्याप्त विस्तार के साथ प्रस्तुत की है और प्रस्तुत ग्रन्थ के बत्तीस द्वारों तथा कुछ द्वारों के उपद्वारों की विषय-वस्तु का भी उल्लेख कर दिया है, जिससे इस प्राचीनआचार्य विरचित आराधनापताका नामक इस ग्रन्थ का सम्यक् स्वरूप पाठकों के सामने स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार, इस शोध-प्रबन्ध का प्रथम अध्याय ग्रन्थ और ग्रन्थकार तथा उसके रचनाकाल की विस्तार से चर्चा करता है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय दो खण्डों में विभक्त किया गया है। इसके प्रथमखण्ड में, आगम एवं आगमेतर जैन-साहित्य में समाधिमरण विषयक उल्लेख कहाँ और किस

रूप में मिलते हैं, इसकी तुलनात्मक—दृष्टि से चर्चा की है, साथ ही समाधिमरण सम्बन्धी आगम और आगमेतर ग्रन्थों में प्रस्तुत प्राचीन आचार्य विरचित आराधना—पताका की गाथाएं किस रूप में समान हैं, इसे भी स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार द्वितीय अध्याय का यह खण्ड गाथाओं के तुलनात्मक—अध्ययन की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण बन गया है और इससे आराधना—पताका के पूर्वापरत्व का भी कुछ आभास हो जाता है। इस तुलना में हमने विशेष रूप से यह देखने का प्रयत्न किया है कि कौनसा ग्रन्थ प्राचीनाचार्यकृत आराधनापताका से पूर्ववर्ती है और कौनसा ग्रन्थ परवर्ती है। इस तथ्य को स्पष्ट रूप से समझने के लिए जिन ग्रन्थों को प्राचीनाचार्यकृत आराधना—पताका से पूर्ववर्ती माना गया है, उनकी गाथायें पहले देकर, फिर उसके नीचे आराधना—पताका की गाथाएं दी हैं। इसी प्रकार, जिन ग्रन्थों को हमने आराधना—पताका से परवर्ती माना है, उसमें यह ग्रन्थक्रम उलटकर पहले प्राचीनाचार्यकृत आराधना—पताका की गाथाएं दी गई हैं और उसके बाद उस ग्रन्थ की गाथाएं दी गई हैं। इस प्रकार, हमने तुलनात्मक—दृष्टि से समाधिमरण सम्बन्धी ग्रन्थों के पूर्वापरत्व की चर्चा भी स्पष्ट कर दी है।

इसी द्वितीय अध्याय के द्वितीय खण्ड में समाधिमरण—विषयक ग्रन्थों में प्राचीनाचार्यकृत इस आराधनापताका का क्या स्थान है और इसका क्या महत्व है, इसे भी संक्षेप में दिखाने का प्रयत्न किया गया है। जैसा कि हमने पूर्व में भी कहा है, समाधिमरण—विषयक ग्रन्थों में प्राचीनाचार्यविरचित आराधना—पताका ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जो समाधिमरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया का क्रमपूर्वक विवेचन करता है। इस चर्चा में हमने समाधिमरण—विषयक ग्रन्थों में प्रस्तुत समीक्ष्य ग्रन्थ आराधनापताका का क्या महत्व है इसे भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध का तृतीय अध्याय मुख्यरूप से प्राचीनाचार्य—विरचित आराधना—पताका तथा अचेल परम्परा में तत्सम्बन्धी ग्रन्थ 'भगवती—आराधना' का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। इस अध्याय में ग्रन्थ के नामकरण, अन्तिम प्रशस्ति आदि पर भी विस्तार से चर्चा की गई है। आराधना—पताका का एक नाम पर्यन्ताराधना और दूसरा नाम आराधना—भगवती भी मिलता है और इससे यह सिद्ध होता है कि भगवती—आराधना और प्राचीनाचार्यकृत आराधनापताका अपर नाम आराधना—भगवती में नाम साम्य विशेष महत्वपूर्ण है।

इसी प्रकार, इस अध्याय में दोनों ग्रन्थों की विषय—वस्तु के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है। इस सम्बन्ध में हमने यह पाया है कि जहाँ भगवती—आराधना में सम्यक्चारित्र के साथ—साथ सम्यक्दर्शन और ज्ञान की भी विस्तृत चर्चा है, वहाँ आराधना—पताका में ऐसी कोई चर्चा नहीं है। आराधनापताका मात्र समाधिमरण की चर्चा करती है। दूसरे, जहाँ आराधनापताका में ग्रन्थ की विषय—वस्तु को बत्तीस द्वारों और कुछ को प्रतिद्वारों में विभक्त किया गया है, वहीं भगवतीआराधना में इस प्रकार द्वारों का विभाजन नहीं हुआ है। इसी सन्दर्भ में यह देखने का प्रयत्न किया है कि आराधनापताका की अपेक्षा भगवतीआराधना की गाथा—संख्या दुगुनी है। जहाँ आराधनापताका में 932 गाथाएं हैं, वहाँ भगवती—आराधना में 2164 गाथाएं हैं। इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में आकार को लेकर भिन्नता है। इसी अध्याय में दोनों ग्रन्थों की विषय—वस्तु की चर्चा के आधार पर हमने उनके कालक्रम के निर्धारण का भी प्रयत्न किया है। विशेष रूप से यह दिखाया है कि जहाँ भगवतीआराधना के अन्त में साधक के आध्यात्मिक—विकास की दृष्टि से गुणस्थानों की भी संक्षिप्त चर्चा है, वहाँ आराधनापताका में गुणस्थानों की किसी भी प्रकार की चर्चा का निर्देश नहीं है और इसी आधार पर हमने डॉ. सागरमल जैन के उस मन्तव्य को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है,

जिसके आधार पर यह माना जाता है कि गुणस्थान-सिद्धान्त का विकास परवर्तीकालीन है और इसी अपेक्षा से उनके मत को आधार बनाते हुए हमने यह बताने का प्रयत्न भी किया है कि प्राचीनाचार्यविरचित आराधनापताका से भगवतीआराधना किंचित् परवर्ती हो सकती है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय समाधिमरण की अवधारणा से सम्बन्धित है। इस अध्याय में हमने प्राचीनाचार्यकृत आराधना-पताका के आधार पर समाधिमरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया की चर्चा की है। इसमें सर्वप्रथम यह बताया गया है कि कौन व्यक्ति समाधिमरण कर सकता है ? यदि समाधिमरण करने वाला साधक मुनिपद अथवा आचार्य-पद का धारक है, तो उसे सर्वप्रथम अपने गण या गच्छ का परित्याग करना चाहिए। इस सम्बन्ध में सामान्यतया यह माना जाता है कि यदि सामान्य परिस्थिति में समाधिमरण का साधक स्वगण अथवा स्वगच्छ में समाधिमरण करता है, तो उसमें शिष्य अथवा सहवर्गी साधुओं के प्रति राग-भाव होने से कर्मों की पूर्ण विशुद्धि नहीं हो पाती है और समाधिमरण की साधना भी निर्विघ्न रूप से पूरी नहीं होती है, इसलिए यह माना गया है कि समाधिमरण के साधक को स्वगण या गच्छ का परित्याग करने के लिए परगण में योग्य आचार्य की और निर्यापकों की खोज करना चाहिए।

आलोच्य ग्रन्थ में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि समाधिमरण के साधक को क्रमशः ही आहार आदि का त्याग कराना चाहिए तथा निर्यापकों को इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि शारीरिक-दृष्टि से असमाधि उत्पन्न न हो, क्योंकि शारीरिक-असमाधि की दशा में साधना से विचलन हो सकता है। कषाय-त्याग और देह के कृशीकरण के लिए उसे किस प्रकार से प्रेरित करना चाहिए और क्या शिक्षाएँ देना चाहिए, इस बात की भी समीक्ष्य-ग्रन्थ में विस्तार से चर्चा की गई है। इस प्रकार, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में प्राचीन आचार्यकृत आराधनापताका के आधार पर समाधिमरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया की विवेचना की गई है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का पंचम अध्याय समाधिमरण की साधना का ब्राह्मण या वैदिक-परम्परा में तथा बौद्ध-परम्परा में क्या स्थान रहा है, इसकी चर्चा करता है। इस अध्याय में हमने 'काणे' के 'धर्मशास्त्र के इतिहास, भाग 3' इतिहास के आधार पर बौद्ध-साहित्य के डॉ. रज्जनकुमार द्वारा उल्लेखित ग्रन्थों के आधार पर यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि इन दोनों परम्पराओं में ऐच्छिक-मृत्युवरण के क्या-क्या रूप रहे हैं और उनकी जैन-दर्शन की समाधिमरण की अवधारणा से किस रूप में भिन्नता या समानता रही है। जहाँ वैदिक-परम्परा में यह माना गया है कि विशिष्ट परिस्थिति में साधक जलप्रवेश, गिरिपतन आदि के माध्यम से मृत्यु का वरण कर सकता है और इसे धार्मिक-मरण माना गया है, वहीं जैन-परम्परा में इसे समाधिमरण की कोटि में नहीं माना जाता है। जैन-परम्परा यह मानती है कि साधक को किसी भी स्थिति में देहत्याग का उपक्रम नहीं करना चाहिए, मात्र सम्मुख उपस्थित मृत्यु को सहजभाव से समभावपूर्वक स्वीकार करना चाहिए। यदि कोई विशेष परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उपसर्ग दिए जाने पर असाध्य रोग आदि के कारण देहत्याग की परिस्थिति आ जाती है, तो भी साधक को उसमें समभाव रखना चाहिए तथा उपसर्ग देने वाले या हत्या करने वाले के प्रति भी द्वेष आदि का भाव नहीं रखना चाहिए। इस प्रकार, जहाँ विशेष परिस्थिति में वैदिक-परम्परा में मृत्यु-वरण को उचित माना गया है, वहाँ जैन-परम्परा स्वेच्छया-मृत्यु को आमंत्रित करना उचित नहीं मानती है। वह यह तो

मानती है कि यदि सहज रूप से मृत्यु सामने उपस्थित हो, तो समभावपूर्वक उसका स्वागत कर देहत्याग कर देना चाहिए, किन्तु स्वयं देहत्याग का कोई उपक्रम नहीं करना चाहिए।

बौद्ध-परम्परा में भी मृत्यु-वरण की यह प्रक्रिया किस रूप में प्रचलित रही है, इसकी हमने अनेक उदाहरणों के आधार पर चर्चा की है। इस सन्दर्भ में हमारा मुख्य उपजीव्य डॉ. रज्जनकुमार का ग्रन्थ 'समाधिमरण' रहा है, किन्तु हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि बौद्ध-परम्परा में शस्त्रघात आदि के माध्यम से जो देहत्याग की बात कही गई है, वह भी समाधिमरण की कोटि में नहीं आती, क्योंकि उसमें भी देहपात का उपक्रम व्यक्ति स्वयं करता है। जैन-धर्म में मात्र यह माना गया है कि यदि किसी भी निमित्त से, अथवा उपसर्ग आदि के रूप में यदि दूसरा व्यक्ति या प्राणी देहघात करता है, तो साधक को वहाँ समभाव रखना चाहिए। जैन-परम्परा में देह-पोषण के प्रयत्नों का त्याग किया जाता है। वह मात्र देहासक्ति से ऊपर उठने के लिए है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि चाहे बौद्ध-परम्परा हो, चाहे वैदिक-परम्परा हो — दोनों ही विशेष परिस्थिति में व्यक्ति को देहपात करने की स्वीकृति देती है, जबकि जैन-परम्परा में व्यक्ति को देहपात की अनुमति नहीं है, उसे मृत्यु की उपस्थिति में मात्र समभाव रखने को ही कहा गया है।

अत्यधिक वृद्धावस्था आदि की स्थिति में यह कहा गया है कि यदि मृत्यु सामने उपस्थित है, तो उसे देह-पोषण के प्रयत्नों को छोड़कर देह के प्रति भी निर्ममत्व का भाव रखना चाहिए। संक्षेप में, बौद्ध और वैदिक-परम्परा में जहाँ व्यक्ति को ऐच्छिक-रूप से देहत्याग की अनुमति दी गई है, वहाँ जैन-परम्परा मात्र देह के प्रति निर्ममत्व भाव रखने को कहती है। इस प्रकार, वैदिक और बौद्ध—दोनों परम्पराओं से जैन-परम्परा का अन्तर हमने स्पष्ट किया। इसी प्रसंग में ईसाई-धर्म में भी जो मृत्यु-वरण की अनुमति है, उसके उदाहरणों को प्रस्तुत करते हुए उसकी भी जैन-परम्परा से भिन्नता स्पष्ट की है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का षष्ठ अध्याय प्राचीनाचार्यविरचित आराधना-पताका में आई समाधिमरण सम्बन्धी कथाओं के तुलनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित है। इस अध्याय में हमने आराधना-पताका में उल्लेखित कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। जो कथाएँ इस अध्याय में वर्णित हैं; वे कथाएँ इस प्रकार हैं— स्कंधक ऋषि के पाँच सौ शिष्य, जो घाणी में पीले गए, किन्तु उन्होंने उस परिस्थिति में भी अपने समभाव से समाधिमरण को प्राप्त किया। गजसुखमाल ने सोमिल द्वारा सिर पर अंगारे रखे जाने पर भी समभाव से मोक्ष को प्राप्त किया। सनत्कुमार चक्रवर्ती उपसर्ग सहन कर सौधर्मन्द्र हुए। अवतिसुकुमाल ने कुतिया द्वारा देह-भक्षण करने पर भी समभाव रखा। युधिष्ठिरादि पांडुपुत्रों ने शत्रुंजय-पर्वत पर द्विमासिक-संलेखना के द्वारा पादपोगमन-संधारे के साथ सिद्धि को पाया। इसी प्रकार, इसमें सुकौशल, धन्ना, शालिभद्र आदि के समाधिमरण की कथाओं का निर्देश है।

धन्ना एवं शालिभद्र ने वैभारपर्वत पर एक मास की संलेखना की एवं पादपोगमन-संधारे के साथ सर्वार्थसिद्ध देवविमान में गए। इसी प्रकार, चिलातिपुत्र की कथा भी इसमें वर्णित है। उदायन विष को भी समभाव से पीकर सिद्ध हो गए। अर्णिकापुत्र उष्णपरीषह को तथा भद्रबाहु के चार शिष्य शीतपरीषह को समभावपूर्वक सहन कर समाधिमरण से देवलोक में गए।

इसी प्रकार, वज्रस्वामी, पाँच सौ साधुओं के साथ प्राग्भार पर्वत पर भक्त-परिज्ञा धारण कर सिद्ध-बुद्ध मुक्त हुए। वासुदेव-पत्नी पद्मावती आदि मासिक-संलेखना कर सिद्ध हुईं। काली, सुकाली रानियाँ तप करते हुए अन्त में संलेखनापूर्वक सिद्धि को प्राप्त हुईं। इसी प्रकार चेटकसुता प्रभावती तथा सागरचन्द्र, वरुण, आनंद, कामदेवादि श्रावक पर्यन्ताराधना करके दिव्यगति को प्राप्त हुए।

इस प्रकार, इसमें प्रदेशी राजा, दृढसत्त्व सुश्रावक आदि के कथानक भी वर्णित हैं। कृष्ण की माता देवकी एवं बलदेव की रोहिणी भी द्वैपायन ऋषि द्वारा जलाई गई नगरी में भक्तपरित्याग करके समाधिमरण सहित दिव्यगति में गईं। समाधिमरण के प्रभाव से तामलि ईशानेन्द्र बना और बालतपस्वी पूरण भी चमरेन्द्र बना।

प्राचीन आचार्य-विरचित इस आराधना-पताका में कुछ ऐसे पशुओं की कथाएँ भी निर्देशित हैं, जिन्होंने समाधिमरण से दिव्यगति को प्राप्त किया, जैसे- जिनदास श्रावक की कंबल-सबला गाय देहबल क्षीण होने पर अनशनविधि के द्वारा नागकुमारों में उत्पन्न हुई, इधर चण्डकौशिक सर्प चींटियों के द्वारा खाए जाते हुए भी अर्द्धमास की संलेखना कर सहस्त्रार देवलोक में गया।

सहदेवा व्याघ्री ने अपने पूर्वभव को जानकर अनशन-प्रत्याख्यान किया और देवलोक में उत्पन्न हुई। आराधना-पताका में उल्लेखित उपर्युक्त कथाएँ अर्द्धमागधी आगम-साहित्य और आगमिक-व्याख्याओं में भी उपलब्ध होती हैं। इसके अतिरिक्त, दिगम्बर-परम्परा के भगवती-आराधना में भी इनमें से अनेक कथाओं के निर्देश प्राप्त हैं, यद्यपि मूल-ग्रन्थ में इन कथाओं की विस्तृत चर्चा हमें नहीं मिलती, मात्र नामों के संकेत हैं और यह बताया गया है कि उन्होंने किन परिस्थितियों में समाधिमरण ग्रहण किया था। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैन-कथाओं के निर्देश की यह सांकेतिक-शैली मुख्य रूप से निर्युक्ति-साहित्य में मिलती है। निर्युक्ति की अपेक्षा भाष्य और चूर्ण तथा कुछ परवर्ती टीका-ग्रन्थों में ये कथाएँ विस्तार से मिलती हैं। हमने शोधप्रबन्ध के इस अध्याय में इन कथाओं को विस्तृत रूप मूल आगमों तथा अन्य उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर दिया है तथा कथा के अन्त में तुलनात्मक-दृष्टि से यह बताने का भी प्रयास किया है कि ये कथाएँ प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ-कहाँ मिलती हैं।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का सप्तम अध्याय मुख्य रूप से दो बातों पर विशेष बल देता है। प्रथम तो यह कि समाधिमरण आत्महत्या नहीं है और दूसरे, समाधिमरण की साधना को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में क्या उपादेयता हो सकती है। इस अध्याय में सर्वप्रथम हमने समाधिमरण और आत्महत्या के अन्तर को स्पष्ट करते हुए यह बताया है कि समाधिमरण किसी भी परिस्थिति में आत्महत्या नहीं है, क्योंकि आत्महत्या में व्यक्ति के भाव संक्लेशपूर्वक होते हैं और वह आवेगों से ग्रस्त होकर देहपात करता है, जबकि समाधिमरण में मृत्यु की आकांक्षा नहीं होती, वरन् समुपस्थित मृत्यु का समभावपूर्वक बिना किसी विकलता के स्वागत किया जाता है। आत्महत्या में देहपात किया जाता है, जबकि समाधिमरण में देहपात हो जाता है। इसी प्रसंग में हमने यह भी स्पष्ट किया है कि समाधिमरण में मरने की आकांक्षा को भी अनुचित माना है। आत्महत्या की जाती है और समाधिमरण होता है, दोनों में जो बहुत अन्तर है, उसे हमने अनेक दृष्टियों से यहाँ विवेचित करने का प्रयत्न किया है। इसके पश्चात् हमने इसी अध्याय में यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी समाधिमरण की क्या प्रासंगिकता है? इस चर्चा में हमने विशेष रूप से यह दिखाया

है कि वर्तमान विश्व में जो वैर-विरोध, कलह और संघर्ष है, उन सबके मूल में कहीं-न-कहीं भोगाकांक्षा और देहासक्ति रही हुई है।

समाधिमरण की साधना हमें भोगाकांक्षा और देहासक्ति से मुक्ति दिलाती है तथा यह सिखाती है कि सांसारिक समस्त उपलब्धियाँ मात्र संयोग है। यहाँ तक कि हमारा शरीर भी एक संयोग ही हैं। संयोगों का वियोग अपरिहार्य है और इसी से यह भी फलित होता है कि देह एक सांयोगिक-घटना है तथा विनश्वर है, अतः इसका वियोग तो होना ही है। देहासक्ति से युक्त होकर भोगों को भोगने की इच्छा सदैव अपूर्ण ही रही है, अतः साधक को जीवन और मरण—दोनों में समभाव रखना चाहिए तथा भोगाकांक्षा के परिणामस्वरूप होने वाले निदान से बचना चाहिए, अर्थात् मुझे अगले जीवन में यह मिले—ऐसी इच्छा नहीं रखना चाहिए, क्योंकि ऐसी इच्छा भी निर्वाण में बाधक है। इस प्रकार, इस अन्तिम अध्याय में हमने जहाँ एक ओर समाधिमरण और आत्महत्या का अन्तर स्पष्ट किया है, वहीं दूसरी ओर यह भी बताया है कि भोगाकांक्षा और देहासक्ति का त्याग कर व्यक्ति किस प्रकार शान्तिपूर्वक जीवन जी सकता है और मृत्यु को उपस्थित देखकर अविचलित रह सकता है। यही हमारे इस शोध का निष्कर्ष है।

संदर्भ-ग्रंथ सूची -

1. मूल आगम एवं आगमिक व्याख्या ग्रन्थ -

1. अंतकृद्दशा, (सं.) मधुकरमुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1981
2. अनुत्तरोपपातिकसूत्र, (सं.) मधुकरमुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति ब्यावर
3. आचारांगसूत्रम् प्रथम श्रुतस्कंध, (व्या.) आचार्य आत्मारामजी, श्री जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, 1963.
4. आचारांगसूत्रम् द्वितीय श्रुतस्कंध, (व्या.) आचार्य आत्मारामजी, श्री जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, 1964.
5. आचारांगसूत्रम् तीनों भाग, (व्या.) मुनि कन्हैयालालजी, श्री अ.भा.श्वे.स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, 1957.
6. आयारो, (व्या.) आचार्य तुलसी, जैन विश्वभारती प्रकाशन, लाडनू, 1974.
7. आवश्यक निर्युक्ति -निर्युक्ति संग्रह, सं. विजय अमृत सूरि, हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, साखावावल.
8. उत्तरज्जयणाणि, (व्या.) मुनि नथमल, जैन श्वे. तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, 1976
9. उत्तराध्ययनसूत्रम्, (व्या.) आचार्य आत्मारामजी, जैन शास्त्रमाला, लाहौर, 1939.
10. उत्तराध्ययनसूत्रम् (व्या.) आचार्य श्रीचंदना, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1972.
11. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, (व्याख्या सहित), दो भाग, देवचंद्र-लालभाई पुस्तकोद्धार समिति, मुंबई, 1916.
12. उपासकदशांग, (व्या.) आचार्य आत्मारामजी, श्री जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना.
13. उवासगदसाओ, (सं.) मधुकरमुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1964
14. ओघनिर्युक्ति, भद्रबाहु स्वामी आगमोदय समिति, 1927.
15. दसवेयालियं, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती प्रकाशन, लाडनू, 1974.
16. पइण्णयसुत्ताइं (भाग 1 व 2) सं. मुनि पुण्यविजयजी, श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, 1927.
17. प्रश्नव्याकरणसूत्र, (व्या.) उ. अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1973.
18. भगवतीसूत्र, (व्या.) मधुकरमुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर.
19. मृत्यु-महोत्सव, श्री अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगंज, एटा, 1958.
20. व्याख्याप्रज्ञप्ति (भाग-3), (सं.) मधुकरमुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1986.

21. वसुनन्दी श्रावकाचार, सं. पं. पन्नालालजी, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट, दिल्ली.
22. समवायांगसूत्र, (सं.) मधुकरमुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1982
23. स्थानांगसूत्र, (सं.) मधुकरमुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1981.
24. ज्ञाताधर्मकथांग, (सं.) मधुकरमुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1981

2. समाधिमरण सम्बन्धी प्रकीर्णक ग्रन्थ –

1. आतुर प्रत्याख्यान सं. मुनि श्री पुण्यविजयजी महावीर विद्यालय बम्बई.
2. आरधनापताका (प्राचीन-आचार्यकृत) सं. प्रो. सागरमल जैन, आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
3. आराधना-पताका (वीरभद्रकृत) सं. – प्रो. सागरमल जैन, आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
4. आराधना कुलक, सं. मुनिश्री पुण्यविजयजी, महावीर जैन विद्यालय बम्बई
5. आराधना प्रकीर्णक, सं. मुनिश्री पुण्यविजयजी, महावीर जैन विद्यालय बम्बई
6. आलोचना कुलक, सं. मुनिश्री पुण्यविजयजी, महावीर जैन विद्यालय बम्बई
7. कुशलानुबन्धी, सं. मुनिश्री पुण्यविजयजी, महावीर जैन विद्यालय बम्बई
8. गच्छायापइण्णयं, सं. – प्रो. सागरमल जैन, आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान. उदयपुर
9. चउसरणपइण्णयं, सं. – प्रो. सागरमल जैन, आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान. उदयपुर
10. तंदुलवेयालियपइण्णयंसं. – प्रो. सागरमल जैन, आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान. उदयपुर
11. नन्दनमुनिकृत आराधना, सं. – प्रो. सागरमल जैन, आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान. उदयपुर
12. भक्तपरिज्ञा, सं. मुनिश्री पुण्यविजयजी, महावीर जैन विद्यालय बम्बई
13. मरणविभक्ति, सं. मुनिश्री पुण्यविजयजी, महावीर जैन विद्यालय बम्बई
14. महाप्रत्याख्यान, सं. – प्रो. सागरमल जैन, आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान. उदयपुर
15. मरण समाहि, सं. मुनिश्री पुण्यविजयजी, महावीर जैन विद्यालय बम्बई
16. मिथ्या दुष्यकृतकुलकसं. मुनिश्री पुण्यविजयजी, महावीर जैन विद्यालय बम्बई
17. योगशास्त्र, सं. आचार्य हेमचन्द्र जी, सन्मति ज्ञानपीठ
18. संधारगपइण्णयं, सं. – प्रो. सागरमल जैन, आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान. उदयपुर

3. दिगम्बर परम्परा के समाधिमरण सम्बन्धी मूल ग्रंथ –

1. आराधनासार, (व्या.) पं. कैलाशचन्द्र सिद्धांतशास्त्री, वीर सेवा मंदिर प्रकाशन, वाराणसी, 1984.
2. उपासकाध्ययन, पं. कैलाशचन्द्र सिद्धांतशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1964.
3. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, (व्या.) पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, 1967.
4. धर्मामृत (सागार), पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 1978.
5. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्री अमृतचंद्राचार्य, परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, 1966.
6. भगवती-आराधना, पं. कैलाशचन्द्र सिद्धांतशास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, 1978.
7. मूलाचार (पूर्वार्द्ध), (व्या.) आर्यिका ज्ञानमती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 1984.
8. रत्नकरंडक श्रावकाचार, (व्या.) पं. पन्नालाल 'वसंत', वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन, दिल्ली, 1972.
9. समयसार, (व्या.) पं. जयचंद्र छाबड़ा, श्री जैन मंदिर सराय, रोहतक, 2468 (वीराब्द).
10. समाधिमरणोत्साहदीपक, (व्या.) पं. हीरालाल जैन, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन, दिल्ली, 1984.
11. सागारधर्मामृत, मोहनलाल शास्त्री, सरल जैन ग्रंथ भंडार, जबलपुर, 2424 (वीराब्द)
12. समाधिगतक टीका, ब्र. शीतलप्रसाद, जैन मित्र, सूरत, 1978.
13. ज्ञानार्णव, पं. बालचंद्र शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, 1977.

4. तत्त्वार्थ एवं टीकाएं –

1. तत्त्वार्थसूत्र, (व्या.) पं. सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, 1976.
2. तत्त्वार्थवार्तिक, (व्या.) डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1957.
3. सर्वार्थसिद्धि, पं. फूलचन्द्र सिद्धांतशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1955.

5. बौद्धपिटक साहित्य –

1. थेरगाथा, भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, 1955.
2. मज्झिमनिकाय (हिन्दी), महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी.
3. सुत्तनिपात, भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, 1950.
4. संयुक्तनिकाय, भिक्षु जगदीश कस्सपो, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, 1954.

6. समालोचनात्मक ग्रंथ –

1. आचार्य विरागसागरजी, 'सल्लेखना से समाधि', विरागविद्यापीठ, भिण्ड, 2001.
2. आ. देवेन्द्रमुनि, 'जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा', तारकगुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर, 1977.
3. आ. देवेन्द्रमुनि, 'जैन आचार सिद्धान्त एवं स्वरूप', तारकगुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर, 1977.
4. आचार्य मानेश – 'जिनधम्मो', श्री समता साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, इन्दौर.
5. उ. अमरमुनि, श्रमणसूत्र, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1966.
6. काणे पाण्डुरंग वामन, 'धर्मशास्त्र का इतिहास', भाग-1 से 4, उ.प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1982
7. कालेलकर काकासाहेब, 'परमसखा मृत्यु', सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, दिल्ली, 1961
8. कुमार रज्जन, 'जैन धर्म में समाधिमरण', पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 2001.
9. जैन पं. महेन्द्रकुमार, 'जैन-दर्शन', श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी, 1955.
10. जैन रमेशचन्द्र, 'संलेखना एक अनुचिन्तन', श्री टाया जैन छात्रवृत्ति ट्रस्ट, उदयपुर
11. जैन सागरमल, 'जैन बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन', भाग 1-2, प्राकृत भारती, जयपुर, 1982.
12. पं. दौलतरामजी, 'समाधिमरण स्वरूप', जैन विद्या संस्थान महावीरजी (राज.) 1991.
13. पं. रतनलाल जी दोशी, 'मोक्षमार्ग', साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना.
14. मेहता मोहनलाल, 'जैन-दर्शन', सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1959.
15. मेहता मोहनलाल, 'जैन साहित्य का वृहद् इतिहास' (भाग 1-7), पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, 1966-67.
16. संघवी पं. सुखलाल, 'दर्शन और चिंतन' (भाग 1-2), पं. सुखलालजी सम्मान समिति, गुजरात विधानसभा, अहमदाबाद, 1957.
17. साध्वी उज्ज्वलकुमारी, 'श्रावक-धर्म', सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1954.
18. श्यामराव व्यास, 'मृत्यु जीवन का अन्त नहीं', जैन विद्या संस्थान, महावीरजी (राज.) 1994.
19. सेठिया, 'समाधिमरण भावना', जैन ग्रंथमाला (56), जैन परमार्थिक संस्था, बीकानेर.

7. अभिनन्दन एवं स्मृति ग्रंथ –

1. श्री जिनेन्द्र वर्णी स्मरणांजलि, श्री दिगंबर जैन समाज, काशी, 1984.
2. डॉ. दरबारीलाल कोठिया अभिनंदन ग्रंथ, वाराणसी.
3. आ. तुलसी अभिनंदन ग्रंथ, आ. तुलसी धवल समारोह समिति, दिल्ली.
4. प्र. श्री अंबालालजी म. अभिनंदन ग्रंथ, उदयपुर.
5. जैन विद्या के आयाम खंड-6 (डॉ. सागरमल जैन अभिनंदन ग्रंथ), पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, 1976

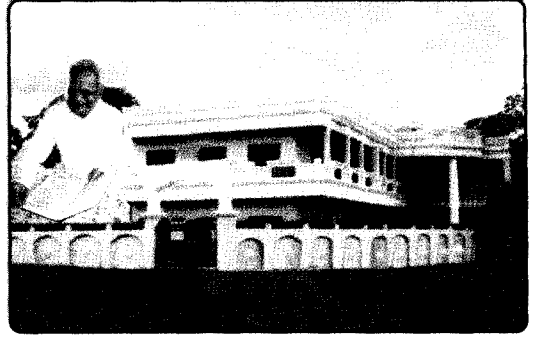
8. शब्दकोश एवं विश्वकोश –

1. अर्द्धमागधी कोश (भाग 1-5), मुनि रत्नचंद्रजी, अमर पब्लिकेशंस, वाराणसी, 1988.
2. अभिधान राजेन्द्र कोश, (भाग 1-7), श्री अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन संस्था, अहमदाबाद.
3. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (भाग 1-5), भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन, नईदिल्ली.
4. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल-बनारसीदास, वाराणसी.

9. पत्र-पत्रिकाएँ –

1. जैन जगत, भारत जैन महामंडल, मुंबई.
2. जैन प्रकाश, जैन भवन, नईदिल्ली.
3. जैन भारती, जैन श्वंताम्बर तेरापंथी महासभा, कोलकाता.
4. तीर्थकर, इंदौर.
5. सन्मति संदेश, दिल्ली.
6. सम्यग्दर्शन, अ.भा.सा. जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना.

प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय



डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 से संचालित प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर आगरा-मुम्बई राष्ट्रीय राजमार्ग पर स्थित है। इस संस्थान का मुख्य उद्देश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ-साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दु धर्म आदि के लगभग 12,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी हैं। यहाँ 40 पत्र-पत्रिकाएँ भी नियमित आती हैं।



साध्वी डॉ. प्रतिभा श्री जी

जीवन-परिचय

नाम	- डॉ. साध्वी प्रतिभा श्री जी
जन्म	- 15/08/1971
जन्म स्थान	- जयपुर
पिता	- श्री मान झँवर लाल जी झाबक
माता	- सौ. श्रीमति किरण बाई जी झाबक
शैक्षणिक अध्ययन	- प्राकृत में विशारद साहित्य रत्न, एम.ए. पी.एच.डी.
आध्यात्मिक अध्ययन	- आगम, थोकडे, दर्शन, न्याय, व्याकरण।
वैराग्य काल	- सवा साल
दीक्षा के समय उम्र	- 13 वर्ष दीक्षा
दीक्षा स्थान	- दिल्ली
दीक्षा गुरु	- विश्व सन्त उपाध्याय पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी म. सा.
गुरुवर्या	- राजस्थान सिंहनी उपप्रवर्तिनी सदगुरुणी जी श्री चारित्र प्रभा जी म.सा.
दीक्षित भाई	- युवा मनीषी मधुर वक्ता स्वर सम्राट मुनि शलिभद्र जी
शिष्या	- साध्वी आस्था श्री जी, साध्वी ऋषिता श्री जी
विहार क्षेत्र	- राजस्थान, पंजाब, महाराष्ट्र, हिमाचल, हरियाणा, यू.पी., जम्मू मध्यप्रदेश ...